लेखक
परम पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

महोपाध्याय विनयविजयजी विरचित

शांत-सुधारस

(हिन्दी विवेचन)

◆ लेखक ◆

परम शासन प्रभावक, महाराष्ट्र देशोद्धारक, दीक्षा के दानवीर
स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव *श्रीमद् विजय* रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. के
तेजस्वी शिष्यरत्न, बीसवी सदी के महान्योगी, नमस्कार महामंत्र के
अजोड साधक-चिंतक एवं अनुप्रेक्षक, निःस्पृह शिरोमणि,
पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के
सूरिमंत्र पंच प्रस्थान साधक कृपापात्र चरम शिष्यरत्न प्रवचन-प्रभावक,
हिन्दी साहित्यकार मरुधररत्न, पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

13-14

प्रकाशक

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन,
205, सोना चेंबर्स, 507-509, जे.ऐस.ऐस. रोड,
चीरा बाजार, सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E),
मुंबई-400 002. **Tel. 022-2203 45 29**
Mobile : 9892069330

आवृत्ति : तृतीय • मूल्य : 140/- रुपये • विमोचन : दि. 4-10-2017
प्रतियां - 750 • स्थल : श्री सीमंधरस्वामी आराधना भवन.

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता

शुल्क - 2500/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य - जैन इतिहास - जैन तत्त्वज्ञान - जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हो तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य *आचार्यदेव श्रीमद् विजय* ***रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा.*** द्वारा आलेखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और अर्हद् दिव्य संदेश मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. **चंदन एजेंसी M. 9820303451**
   607, चीरा बाजार, ग्राउंड फ्लोर, मुंबई-400 002.
   Tel. O. 2205 6821
2. **चेतन हसमुखलालजी मेहता**
   भायंदर. **M. 9867058940**
3. **श्री आदिनाथ जैन श्वेतांबर संघ**
   श्री सुरेशगुरुजी M. 98441 04021
   नं.4, Old No. 38, फ्लोर,रंगराव रोड, शंकरपुरम्, बैंगलुर-560 004. (कर्नाटक)
   राजेश मो. 9986846379

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 2500/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, 205, सोना चेंबर्स, 507-509, जे.ऐस.ऐस. रोड, चीरा बाजार, सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E), मुंबई-2. **Tel. 022-2203 45 29**

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमाट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

(3) राहुल वैद, C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006. M. 9810353108

प्रकाशक की कलम से...

महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी द्वारा विरचित और परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री** के चरम शिष्यरत्न हिन्दी साहित्यकार **मरुधर रत्न पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा विवेचित **'शान्त सुधारस-हिन्दी विवेचन'** की तृतीय आवृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त ही हर्ष हो रहा है । इसकी प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन दो भागों में सितंबर 1989 तथा नवंबर 1989 में आज से 24 वर्ष पूर्व हुआ था । उस समय साहित्य के क्षेत्र में पूज्यश्री का बाल्यकाल था । पूज्यश्री द्वारा विवेचित यह ग्रंथ अनेकों के अन्तर्मन में वैराग्य के बीजारोपण में निमित्त बना है ।

'शान्त-सुधारस' एक अनमोल ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में महोपाध्याय **श्री विनय विजयजी म.** ने गेयात्मक काव्य के रूप में अनित्य आदि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है । इसमें अनित्यादि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं का विस्तृत एवं सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है । शान्त रस को रसाधिराज भी कहा गया है । अत्यन्त मधुर कण्ठ से इन गेय काव्यों को गाया जाय तो सुषुप्त चेतना में स्पन्दन हुए बिना नहीं रहता है । अनेक साधु-साध्विजी इस ग्रन्थरत्न को कण्ठस्थ कर इसका स्वाध्याय भी करते है ।

प.पू. विद्वद्वर्य आचार्यश्री म. अत्यन्त ही परिश्रमपूर्वक बड़ी ही सरल व सुबोध भाषा-शैली में इस अद्भुत ग्रन्थ का हिन्दी-विवेचन तैयार किया है, इस हेतु हम आपके अत्यन्त ही आभारी है । ग्रन्थ-प्रकाशन में सहयोगी महानुभावों का भी हम आभार मानते हैं ।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे पूर्व प्रकाशनों की भाँति यह प्रकाशन भी आपको रुचिकर लगेगा । इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा सभी आत्माएँ मुक्ति-प्रेमी बनकर आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ें; यही शुभेच्छा है ।

भावना भवभञ्जिका

लेखक : वैराग्यदेशनादक्ष पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के प्रशिष्यरत्न प्रभावक प्रवचनकार मुनिश्री महाबोधि विजयजी म. (वर्तमान में पूज्य पंन्यासजी म.)

शान्त सुधारस !

अद्भुत है यह ग्रन्थ !!

रोमाञ्चक है इसमें भावनाओं का निरूपण ।

जैन साहित्य में संस्कृत भाषा में इस प्रकार के गेय काव्य विरल ही देखने को मिलते हैं । अजैनों में जयदेव का **'गीतगोविन्द'** काव्य प्रसिद्ध है । वैसा ही मधुर और लालित्य रस से भरपूर काव्य है **महोपाध्याय श्रीमद् विजय विजयजी** विरचित ***'शान्त सुधारस' ।***

सम्पूर्ण काव्य में शान्तरस का महासागर छलकता हुआ नजर आता है । पूर्व के कवियों ने भी शान्त रस को रसाधिराज की उपमा दी है ।

अध्यात्मरसिक लेखक की लेखनी में और वक्ता के वक्तव्य में ऐसे सभी रसों का वर्णन होते हुए भी अन्त में तो शान्तरस का ही वर्णन आता है अर्थात् उसी शान्तरस की धारा तक पहुँचाने के लिए ही अन्य रसों का यदा-कदा वर्णन किया जाता है ।

ग्रन्थ की पीठिका बनाते हुए महोपाध्यायजी ने बहुत ही सुन्दर बात कही है- ***''मनुष्य को सुखी बनना है, किन्तु शान्ति के बिना सुख कहाँ से ? केवल किताबी ज्ञान से बन बैठे विद्वानों के लिए शान्तरस की प्राप्ति/शान्ति का अनुभव अत्यन्त ही कठिन है और भावनाओं से भावित आत्माओं को शान्त रस का अनुभव सहज होता है ।''***

संक्षेप में कह सकते हैं कि भावनाओं के वपन से उगे हुए अमृतफल में से टपकते हुए शान्तरस को जो ग्रहण करते हैं, उन्हीं को सुख का अनुभव होता है ।

अपने यहाँ तत्त्वार्थसूत्र/प्रशमरति/योगशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों में भावनाओं का वर्णन आता है । प्रस्तुत ग्रन्थ में तो केवल भावनाओं का ही वर्णन है ।

मन को अशुभ विचार/अशुभ चिन्तन में से रोककर
शुभ विचार/शुभ चिन्तन की ओर मोड़ने की ताकत इन भावनाओं में है ।

सुबह से शाम तक मानव को अनेक अनुभव होते हैं ओर देखने/नहीं देखने योग्य कई दृश्य मानव को देखने को मिलते हैं । यदि उन प्रसंगों को सही दृष्टिकोण से देखा जाय तो मानव का मन उन शुभ भावनाओं से रंजित हो सकता है, किन्तु उसके लिए चाहिये-निर्मल मन और स्वच्छ दृष्टि ।

रोग से घिरी हुई काया को देखकर शरीर की नश्वरता का विचार कर सकते हैं...तो किसी सुखी से दुःखी बने व्यक्ति को देखकर उसके धन/सम्पत्ति की क्षणिकता का भी विचार कर सकते हैं...और देखना आता हो तो बिखरते हुए बादल और ढलते हुए सूरज को देखकर संसार की अनित्यता का भी विचार कर सकते हैं ।

संसार में सभी आत्माएँ किसी न किसी भय से त्रस्त होकर शारीरिक व मानसिक वेदनाओं से ग्रस्त होती हैं । भयभीत बनी आत्मा भयमुक्त बनने के लिए अनेकों की शरणप्राप्ति हेतु दौड़-धूप करती है । किन्तु अफसोस ! कोई भी आत्मा उसे सम्पूर्ण भयमुक्त नहीं कर सकती...क्योंकि शरणदाता स्वयं ही अशरण होता है । अशरणों से उभरती हुई इस दुनिया में संसार के विविध भयों से भयभीत बनी आत्मा को एकमात्र जिन वचन ही शरण दे सकते हैं, उनकी शरण में गई हुई आत्मा संसार के समस्त भयों से मुक्त बनती है ।

इस प्रकार संसार के विचित्र सम्बन्धों से संसार भावना, ***'कर्म के उदय को आत्मा अकेली ही सहन करती हैं, उसमें दूसरा कोई भागीदार नहीं बनता है' ।*** इस प्रकार एकत्व भावना, ***'मैं अकेला हूँ, मैं अपने स्वजन/परिवार से भी भिन्न हूँ'*** इस प्रकार अन्यन्त-भावना, पवित्र को अपवित्र, शुद्ध को अशुद्ध और निर्मल को मलिन बनाने वाले शरीर को देखकर अशुचि भावना आदि से आत्मा कोष भावित कर सकते हैं ।

किस कारण से आत्मा कर्म का बन्ध करती है । किन हेतुओं से उन कर्मों का आगमन रुक सकता है ? और किन कारणों से आत्मा पर लगे कर्म अलग हो सकते हैं ? इत्यादि चिंतनपूर्वक क्रमशः आस्त्रव भावना, संवर भावना और निर्जरा भावना से अपनी आत्मा की भावित कर सकते हैं ।

कर्म की निर्जरा जिससे होती है, उस धर्म के प्रभाव का विचार करना धर्मस्वरूप भावना है । धर्म के अभाव से आत्मा जहाँ परिभ्रमण करती है, उस चौदह राजलोक लंबे लोक की विचारणा करना, लोकस्वरूप भावना है, और जिसके बिना अनन्त आत्माएँ संसार में परिभ्रमण करती हैं उस सम्यग्दर्शन की दुर्लभता का विचार करना, बोधिदुर्लभ भावना है, ये हुई बारह भावनाएँ ।

इसी प्रकार शेष चार भावनाओं के अन्तर्गत सभी जीवों को संग्रहीत किया गया है । ये चार भावनाएँ हैं-मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ।

इन सोलह भावनाओं के चिन्तन से आत्मा के राग-द्वेष मन्द होते हैं, आत्मा शान्तरस में निमग्न होती है, विषय और कषाय की मन्दता होती है, आत्मा वैराग्यरस में मग्न होती है । इन सोलह भावनाओं के चिन्तन को जितना विस्तृत करना चाहें, उतना कर सकते हैं ।

ग्रन्थकार महोपाध्यायश्री ने यह सम्पूर्ण ग्रन्थ काव्यात्मक रूप में बनाया है । इस काव्य में उन्होंने अपने चिन्तन के महासागर को उंडेल दिया है । एकान्त की पलों में जब इस काव्यग्रन्थ का मस्ती से तन्मयतापूर्वक स्वाध्याय किया जाय तो कुछ अलौकिक आनन्द ही आता है । इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अन्तःकरण में चिन्तन का झरना बहने लगता है । संस्कृत भाषा में विरचित इस काव्य-ग्रन्थ के मर्म को संस्कृत-भाषा के ज्ञाता ही समझ सकते हैं ।

संस्कृत के इस महान् काव्य का रसास्वादन देश-विदेश की हिन्दीभाषी प्रजा भी कर सके, इसके लिए मेरे ***धर्मस्नेही मित्र विद्वान् मुनि श्री रत्नसेनविजयजी महाराज ने अथक प्रयत्न/पुरुषार्थ कर यह सुन्दर विवेचन तैयार किया है । लेखन/संपादन/संशोधन में प्रारंभ से रुचि रखने वाले पूज्य मुनिराजश्री ने अनेक अन्य पुस्तकों का सुन्दर आलेखन भी किया है । पूज्य मुनिश्री की मूल भाषा-शैली हिन्दी*** होने से वे हिन्दी भाषा के अच्छे प्रवचनकार भी हैं । **'मानवता तब महक उठेगी' 'मानवता के दीप जलाएँ', 'युवानो ! जागो'** इत्यादि पुस्तकों के माध्यम से युवावर्ग को भी जागृत किया है । आप पूज्य गुरुदेव अध्यात्मयोगी पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री के गुर्जर साहित्य का भी हिन्दी अनुवाद/संपादन कर हिन्दीभाषी जन पर महान् उपकार कर रहे हैं ।

'विवेचना' के क्षेत्र में भी आपका जैन समाज को अमूल्य योगदान रहा है । नवकार से वंदित्तु तक के प्रतिक्रमण सूत्रों की विवेचनाएँ कर आपने हिन्दीभाषी समाज पर बहुत उपकार किया है । आज से लगभग 300 वर्ष पूर्व हुए योगिराज **आनन्दघनजी** महाराज द्वारा रचित **'आनन्दघन चौबीसी'** पर भी लेखक मुनिश्री ने हिन्दी भाषा में सुन्दर विवेचना प्रस्तुत की है ।

प्रस्तुत **'शान्त सुधारस'** ग्रन्थ का, विवेचनकार मुनिश्री ने बहुत ही सुन्दर व आकर्षक शैली में विवेचन किया है । विवेचन की भाषा अत्यन्त ही सरल व सरस है । बीच-बीच में विवेचनकार मुनिश्री ने प्राचीन/अर्वाचीन, वास्तविक/काल्पनिक दृष्टान्तों के माध्यम से इस विवेचन को बहुत ही हृदयंगम बनाने का प्रयास किया है । **उत्साह और स्फूर्ति ही लेखक मुनिश्री का जीवन-मंत्र है । वे सतत ज्ञान-ध्यान की आराधना/साधना में मग्न रहते हैं । किसी भी समय उनकी मुलाकात हो, वे किसी-न-किसी शुभ-शुभतर प्रवृत्ति में व्यस्त ही दिखाई देते हैं ।** ऐसे गुण-सम्पन्न महात्मा के द्वारा जैनसंघ को उपयोगी ग्रन्थों की सुन्दर विवेचनाएँ प्राप्त होती रहे और अध्ययन/अध्यापन कर पुण्यवन्त आत्माएँ आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर बनें, यही एक शुभाभिलाषा है ।

(प्रथम आवृत्ति में से)

प्रस्तुत विवेचन में 16 भावनाओं के सभी रंगीन चित्र **पू. आचार्य श्रीमद् विजय जिनोत्तमसूरीश्वरजी म.सा.** कृत **'सुशील सद्बोध शतक'** से साभार लिये है ।

'कौड़ी को तो बहुत सम्हाला' पर लाल रतन क्यों छोड़ दिया ?

आपको एक रससिक्त धारा में बहने का आमन्त्रण है । आप बहते ही जाओ, बहते ही जाओ और अगले क्षण आप होंगे आनन्द के निरवधि समुद्र में ।

सचमुच शान्त सुधारस की एक-एक पंक्ति में आनन्द से भिगो देने की शक्ति है । कहना उचित ही है **'समुंद समाना बूंद में'** ।

तो आमन्त्रण दिया हुआ है आपको, अब भीतर की महफिल में शामिल होना है । बाहर तो है ही क्या ? जो है सो भीतर ही तो है ।

ज्ञानीपुरुष कभी-कभी करुणा से उद्वेलित होकर कह उठते हैं इन कंकड़ो और कूड़े को एकत्र कर क्या करोगे ? यह तुमने क्या इकट्ठा कर लिया है ? क्या है तुम्हारे पास ?

महाकवि खालिस ने कहा है **'कौड़ी को तो बहुत सम्हाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया ? नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?'** कौड़ी को तुमने सम्हाल कर, संजोकर जतन से रखा है और हीरे को छोड़ दिया ? परमात्मा के स्मरण को ही भूल गये ।

'शान्त सुधारस' की पंक्तियाँ गुनगुनाये जाने पर/दोहराये जाने पर यह अभिवचन कि `हीरा तुम्हारे पास ही है', का ज्ञान हुए बिना नही रहेगा ।

'भावय रे ! वपुरिदमतिमलिनम्...' जैसी पंक्तियाँ तुम्हें शरीर से बाहर झाँकने पर विवश कर देंगी । शरीर में ही पिरोई हुई चेतना (?) अब शरीर से अलग (Beyond the body) देखेगी । शरीर के उस पार, मन के उस पार...वही तो दर्शनीय है । `उस' को जिसने देख लिया; संसार में कोई भी पदार्थ उसके लिए दर्शनीय नहीं रह पाता । **'अध्यात्मबिन्दु'** ग्रन्थ में कहते हैं

हर्षवर्धन उपाध्यायः **'यद्दर्शनाच्च न परं पुनरस्ति दृश्यम् ।'** यदि आत्मा को देख लिया, अब देखने लायक दूसरा कुछ है ही नहीं ।

लेकिन कैसे करें हम आत्मदर्शन ? हम ठहरे निरे शरीरदर्शी, हम आत्मदर्शी बनें तो कैसे बनें ? इसीलिए है शब्द **'भावय रे...।'** अनुभव कर । आगे चलते ही जाओ । शरीर से आगे, नाम-रूपमय इस संसार के आगे । इसीलिए यह (Pushing) पुशिंगः **'वपुरिदमतिमलिनम्'** देख तो सही, क्या है तेरी इस काया में ? पवित्र आचारांग सूत्र की एक पंक्ति है अतो अंतो पुइ देहंतराणि पासइ । साधक इस शरीर के भीतर भरी हुई अशुचि को/गन्दगी को देखे ।

यह एक प्रकार का (Pushing) पुशिंग हुआ । एक आघात । जिस देह को लाइफबॉय एवं लक्स या लिरिल से घिस-घिस कर नहलाया; आखिर वह है कैसा ? भीतर तो वह गन्दगी से भरा हुआ है ही; बाहर भी क्या बिखेरता है वह ?

यह आघात अन्त में साधक को आत्मदर्शन तक ले जा सकता है ।

Invitation Card (आमंत्रण पत्र) **'शान्त सुधारस'** ही तो आपके हाथ में है । जब चाहे तब आप भीतर की आनन्दमयी सृष्टि में जा सकते हैं ।

विद्वद्वर्य मुनिश्री रत्नसेनविजयजी ने अपने सरल एवं सरस अनुवाद व विवेचन द्वारा ग्रन्थ के रहस्य को आपकी भाषा में प्रस्तुत किया है । मैं चाहता हूँ कि मुनिश्री ऐसे अनेक ग्रन्थरत्नों को सुबोध अनुवाद कर विशालसंख्यक हिन्दीभाषी तत्त्वज्ञों/तत्त्वार्थियों के लिए जैन शास्त्रागार के द्वार खोलें ।

- आचार्य यशोविजयसूरि

जैन उपाश्रय
पाड़ीव-307001
जिला-सिरोही (राज.)

विवेचनकार की कलम से...

ज्येष्ठ मास और उसमें भी मध्यान्ह काल,
सूर्य अपनी पूर्ण शक्ति के साथ भयंकर ताप बरसा रहा है;
नीचे भूमि तपी हुई है और
ऊपर सूर्य आग उगल रहा है,
ऐसे समय में कोई पथिक
तप्त रेती के मार्ग से
प्रसार हो रहा है;
पथिक का देह पसीने से
लथपथ हो गई है,
ऐसे समय में
अचानक पथिक की दृष्टि
विशाल वट-वृक्ष की ओर जाती है ।
पथिक तीव्र गति से
वट-वृक्ष की ओर अपने कदम बढ़ाता है और
विशाल वृक्ष की शीतल छाया में
पहुँच जाता है ।
शीतल पवन की लहरियों से
उसका पसीना सूख जाता है,
बाह्य गर्मी कम हो जाती है और उसे
परम आनन्द/आह्लाद का अनुभव होता है ।
उसका संतप्त चित्त
प्रसन्नता से भर आता है ।

बस,
इसी प्रकार
राग और द्वेष
अज्ञान व मोह

क्रोध, मान, माया और लोभ के ताप से संतप्त बनी आत्मा,
जब भावनाओं के महासागर में डुबकी लगाती है,
तब
उसके मोह का ताप/संताप दूर हो जाता है,
कषायों की आग शान्त हो जाती है और आत्मा
परम आनन्द की अनुभूति करती है ।
देखा है कभी भावनाओं के उस महासागर को ?
हिन्द महासागर या अरब की खाड़ी को तो
शायद देखा ही होगा ?
परन्तु
भावनाओं का महासागर तो उससे भी अधिक
विराट् और गहन है ।
यदि आप उससे अपरिचित/अनजान हों तो
आइए,
महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म. हमें
उसका परिचय कराते हैं,
मात्र परिचय ही नहीं,
उन भावनाओं के साथ
एकाकार/तन्मय बनने का
उपाय भी बतलाते हैं ।

❑ ❑ ❑ ❑ ❑

भावनाओं की शक्ति बेजोड़ है । जरा, भूतकाल के इतिहास को उठाकर देखें–

- देह की अनित्यता का विचार करते-करते भरत महाराजा इतने भाव-विभोर हो गए कि आदर्श भवन (आरिसा भवन) में ही उन्हें केवलज्ञान हो गया ।

- अस्ताचल की ओर द्रुत गति से आगे बढ़ रहे सूर्य को देखकर पवनपुत्र हनुमान संसार से विरक्त हो गए ।
- **'जो जल रहा है, वह मेरा नहीं और जो मेरा है, वह कभी जलने वाला नहीं ।'** इस प्रकार अन्यत्व भावना में लयलीन बने गजसुकुमाल मुनि साधना के शिखर पर पहुँच गए और सदा के लिए बन्धन-मुक्त हो गए ।
- **'मैं अकेला हूँ, अकेला आया हूँ और अकेला ही जाने वाला हूँ'** ...इस एकत्व भावना में मग्न बने अनाथी मुनि ने युवावस्था में ही संसार का त्याग कर दिया और संसार के बंधन में से मुक्त बन गए ।
- देह की अशुचि/दुर्गन्धता का दर्शन कराकर राजकुमारी मल्लिकुमारी ने स्वयं पर मुग्ध छह राजकुमारों को वैराग्य-भावना से रंजित कर दिया ।
- लग्न-मण्डप में भावना के शिखर पर पहुँचे हुए गुणसागर राजकुमार को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई ।

ऐसे एक नहीं, अनेक दृष्टान्त इतिहास के स्वर्मिम पृष्ठों पर अंकित हैं ।

ग्रंथकार-परिचय

महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी के जीवन-संदर्भ की स्पष्ट जानकारी कहीं भी उपलब्ध नहीं है । फिर भी उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में प्रशस्ति के तौर पर लिखे गये श्लोकों के आधार पर उनका कुछ परिचय मिलता है ।

उनके जन्म-दिन और जन्म-स्थल का कोई पता नहीं है । उनकी माता का नाम राजश्री और पिता का नाम तेजपाल था । उनके गृहस्थ-जीवन के नाम और दीक्षा-तिथि का कोई उल्लेख नहीं है । संयम-स्वीकार के बाद उनका नाम विनय विजयजी रखा

गया और वे **उपाध्यायश्री किर्तिविजयजी** के शिष्य बने ।

अत्यन्त सूक्ष्म प्रज्ञा और निर्मल बोध के कारण **विनय विजयजी म.** ने अनेक ग्रन्थों की रचना की ।

'लोकप्रकाश' ग्रन्थ उनके गहन तत्त्वावबोध की साक्षी रूप है ।

-संस्कृत व्याकरण पर उनका अच्छा अधिकार था । उनके द्वारा विरचित **'हेमलघुप्रक्रिया'** में उनके व्याकरण के सूक्ष्मावबोध का पता चलता है ।

उनके द्वारा विरचित अन्य रचनाएँ निम्नांकित हैं-

1) **'कल्पसूत्र'** पर सुबोधिका टीका-चौदह पूर्वधर **महर्षि भद्रबाहुस्वामीजी** द्वारा पूर्व में से उद्धृत **'कल्पसूत्र'** पर आपने **'सुबोधिका'** नामक संस्कृत टीका की रचना की है । यह टीका 6580 श्लोक प्रमाण है । इन्होंने इस टीका की समाप्ति विक्रम संवत् 1696 की जेठसुद 2 के दिन की थी । इसकी भाषा अत्यन्त ही सरल व भाववाही है ।

वर्तमान काल में पर्युषण पर्व में अधिकांश मुनि भगवन्त, कल्पसूत्र की इसी सुबोधिका का आधार लेकर प्रवचन करते हैं । यह टीका अत्यन्त ही सरल व सुबोध होने से बहुत लोकप्रिय बनी है ।

2) **लोकप्रकाश** - इस ग्रन्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है । यह ग्रंथ 21000 श्लोक प्रमाण है ।

- द्रव्यलोकप्रकाश में ग्यारह सर्ग हैं । इसमें वीतराग प्ररूपित षड्द्रव्य का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है ।
- क्षेत्रलोकप्रकाश में 16 सर्ग हैं । इसमें चौदह राजलोक के स्वरूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है ।

- कालोकप्रकाश में समय से लेकर घड़ी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, कालचक्र, पल्योपम, सागरोपम आदि का सविस्तृत वर्णन किया गया है ।
- भावलोकप्रकाश में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक, सांनिपातिक आदि छह भावों का सुन्दर शैली में वर्णन किया गया है ।

सचमुच, जैनदर्शन के द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग को बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया गया है ।

इस विशालकाय ग्रन्थ में आगमादि अन्य 700 ग्रन्थों के 1025 साक्षी पाठ दिए गए हैं । इससे उपाध्यायजी म. के आगमज्ञान की गहराई का स्पष्ट परिचय व प्रमाण मिल जाता है ।

3) हैमलघुप्रक्रिया - वि.सं. 1710 में हैमलघुप्रक्रिया ग्रन्थ की रचना हुई है । कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी विरचित **'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्'** ग्रन्थ के सूत्रानुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है । संस्कृत-भाषा के बोध के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपयोगी है । यह टीका 2500 श्लोक-प्रमाण है ।

4) नयकर्णिका - दीवबन्दर में 23 गाथाओं के रूप में संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित इस ग्रन्थ की रचना हुई है । इसमें नयों के स्वरूप को अच्छे ढंग से समझाया गया है ।

5) षट्त्रिंशत् जल्प संग्रह - उत्तराध्ययन ग्रन्थ के टीकाकार श्री भावविजयजी म. ने सं. 1666 में षट्त्रिंशत् नामक ग्रन्थ संस्कृत पद्य में रचा था, जिसमें तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन किया गया था । इस ग्रन्थ को संक्षिप्त संस्कृत गद्य में रचा गया है ।

(6) अर्हन्नमस्कार-स्तोत्र - यह संस्कृत भाषा का स्तोत्र है और अभी तक अप्रकाशित है ।

7) जिनसहस्त्रनाम स्तोत्र - वि. सं. 1731 में गंधार में 149 उपजाति छंदों में इस ग्रन्थ की रचना की गई है । इस स्तोत्र में एक हजार बार जिनेश्वर-भगवन्त को नमस्कार किया गया है ।

8) इन्दुदूत काव्य - उपाध्याय **श्रीमद् विनयविजयजी म.** ने जोधपुर से अपने आचार्य विजयप्रभसूरिजी के नाम जो पत्र लिखा था, वही पत्र `इन्दुदूत काव्य' है । भादों सुद 15 के दिन चन्द्रमा को देखकर उसे दूत बनाकर अपने आचार्यश्री को विज्ञप्ति भेजी है । सम्पूर्ण लेख संस्कृत भाषा में मन्दाक्रांता छंद में है । इसमें कुल 131 श्लोक हैं ।

गुजराती भाषा की कृतियाँ

1) सूर्यपुर चैत्यपरिपाटी - वि. सं. 1689 में सूरत शहर के मन्दिरों की जो चैत्यपरिपाटी की थी, उन सब मन्दिरों का इसमें सुन्दर वर्णन है ।

2) उपमिति भवप्रपंच स्तवन - श्री सिद्धर्षिगणि के द्वारा विरचित **'उपमिति भवप्रपंचा'** ग्रन्थ के आधार पर सूरत चातुर्मास में संवत् 1716 में इसकी रचना की गई थी । इस स्तवन में 138 गाथाएँ हैं । **'उपमिति भवप्रपंचा'** की तरह ही इस स्तवन में बहुत ही सुन्दर शैली में संसार के स्वरूप का वास्तविक चित्रण किया गया है ।

3) पट्टावली सज्झाय - इस सज्झाय में सुधर्मा स्वामी से लेकर अपने गुरुदेव कीर्तिविजय उपाध्याय तक की पट्टावली का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है । इसमें कुल 72 गाथाएँ हैं ।

4) पाँच समवाय कारण स्तवन - इस स्तवन में काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म और पुरुषार्थ रूप पाँच समवायी कारणों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है ।

5) चौबीसी स्तवन - वर्तमान चौबीसी के समस्त तीर्थंकरों के अत्यन्त ही भक्ति-भावगर्भित स्तवनों की रचना की है ।

6) वीशी स्तवन - सीमन्धर स्वामी आदि बीस विहरमान तीर्थंकर भगवन्तों के भावगर्भित बीस स्तवन ।

7) पुण्य प्रकाशनु स्तवन - वि. सं. 1729 में रांदेर में चातुर्मास स्थिरता दरम्यान **'आराधना सूत्र'** पयन्ना के आधार पर इस स्तवन की रचना की गई है । इसमें 70 गाथाएँ है । समाधिमरण के लिए अत्यन्त उपयोगी 10 बातों का इसमें सुन्दर संकलन किया गया है ।

8) भगवती सूत्र की सज्झाय - संवत् 1731 में रांदेर चातुर्मास में भगवती सूत्र सज्झाय की रचना की थी । इसमें भगवती सूत्र की महिमा तथा उसके पठन-पाठन स्वाध्याय का लाभ बतलाया गया है ।

9) आयंबिल की सज्झाय - 11 गाथाओं की इस सज्झाय में आयंबिल तप की महिमा बतलाई गई है ।

10) षडावश्यक (प्रतिक्रमण) स्तवन - इस स्तवन में सामायिक आदि षड्आवश्यकों के स्वरूप का वर्णन किया गया है ।

11) उपधान स्तवन - इस स्तवन में उपधान तप के स्वरूप का सुन्दर वर्णन है ।

12) श्री श्रीपाल राजा का रास - विनयविजयजी म. की गुजराती कृतियों में इस रास का महत्वपूर्ण स्थान है । संवत् 1738 में रांदेर नगर में चातुर्मास स्थिरता दरम्यान इस रास की रचना की गई है । यह रास चार खंडों में विभाजित है ।

पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. एवं पू. उपा. श्री विनयविजयजी म.सा. की परस्पर मैत्री

दोनों उपाध्यायजी भगवंत समकालीन थे । पू. विनय विजयजी म. दीक्षा पर्याय में बडे थे तो **पू. यशोविजयजी म.** ज्ञान में बडे थे ।

पू. यशोविजयजी म. ने **'धर्म परीक्षा'** नाम का ग्रंथ रचा । उस ग्रंथ रचना के साथ उन्होंने पूर्वाचार्य रचित अनेक ग्रंथों के साक्षी-पाठ भी दिए । ग्रंथ रचना के बाद उन साक्षी पाठों के मूल स्थानों को शोधकर उनका संग्रह करने का काम **पू. विनयविजयजी म.** को सौंपा गया । यद्यपि उन साक्षी पाठों के मूल स्थानों को शोधकर उनका निर्देश करने का काम सरल नहीं था परंतु परस्पर के मैत्री भाव के कारण पू. विनयविजयजी म. ने यह कार्य खूब उत्साह के साथ किया ।

'धर्मपरीक्षा' ग्रंथ की प्रशस्ति में **पू. उपा श्री यशोविजयजी म.** ने **पू. विनयविजयजी म.** के प्रति कृतज्ञता भाव बतलाते हुए उनके इस कार्य की अनुमोदना भी की है ।

• **पू. विनयविजयजी म.** अपनी वृद्धावस्था में सूरत के पास रांदेरगांव में चातुर्मास बिराजमान थे, उस समय वहां के संघ ने पूज्यश्री को सरल गुजराती भाषा में गेय काव्य के रुप में **'श्रीपाल महाराजा के रास'** की रचना के लिए विनंति की ।

पू. विनयविजयजी म. प्रार्थना भंग में भीरु थे, अतः संघ की विनति को ठुकराना उनके लिए मुश्किल था । शारीरिक स्थिति को देखते हुए उन्हे अपने आयुष्य का विश्वास नहीं था । आज तक उन्होंने जो भी रचनाएं प्रारंभ की थी, वे सब पूर्ण हुई थी, परंतु इस बार उनका अंतःकरण साक्षी नहीं भर रहा था । रास की रचना

का प्रारंभ होने के बाद रास पूर्ण होगा ही, ऐसा उन्हे आत्म विश्वास नहीं था । अतः उन्होंने कहा **'आज तक मेरी कोई भी रचना अधुरी नहीं रही हैं, अतः यह रचना भी अधुरी तो नहीं रहनी चाहिये । यदि यशोविजयजी मेरी अधुरी रचना को पूर्ण करने का वचन दे तो मैं इस रास की रचना का प्रारंभ कर सकता हूँ ।'**

रांदेर संघ ने जाकर **पू. विनयविजयजी म.** का संदेश **पू. यशोविजयजी म.** तक पहुँचाया । संघ की भावना को ध्यान में रखकर **पू. यशोविजयजी म.** ने संघ की विनंति स्वीकार की ।

वि.सं. 1737 में रांदेर में **पू. विनयविजयजी म.** ने अत्यंत ही मधुर शैली में श्रीपालरास की रचना का प्रारंभ किया ।

चार खंड रुप इस श्रीपालरास के दो खंड पूरे हो गए । तीसरे खंड की चोथी ढाल की रचना प्रारंभ हुई । कुल 750 गाथाओं की रचना हो चुकी थी ।

रास की रचना में **'श्रीपाल वीणा वादन के लिए राज सभा में गए हैं और वहां वीणा बजाते समय वीणा के तार टूट गए ।'**

'त्रट त्रट तूटे तांत, गया जाए खसी हो लाल,
ते देखी विपरीत सभा सघली हसी हो लाल,
(तृतीय खंड-चौथी ढाल गाथा-20)

अर्थ : राजकुमारों को खुश करने के लिए श्रीपाल ने वीणा के तार खींचे, उसी समय वे तार टूटने लगे-पर्दे दूर हो गए । यह सब विपरीत देख सारी सभा हंसने लगी ।'

इधर श्रीपाल रास की रचना में वीणा के तार टूटने लगे और इधर **विनयविजयजी म.** के शरीर की नसें टूटने लगी । उनका आयुष्य वहीं पूरा हो गया और वे स्वर्ग सिधार गए ।

इसके बाद इस अधूरी रचना को **पू. यशोविजयजी म.** ने पूर्ण की । **पू. विनयविजयजी म.** रसिक कवि थे, जब कि **यशोविजयजी म.** तात्त्विक कवि थे। उन्होंने **विनयविजयजी म.** की शैली में रास रचना प्रारंभ की परंतु वे वैसी रचना न कर पाए आखिर श्रीपाल रास के चौथे खंड को अपनी तात्त्विक शैली में ही पूर्ण किया ।

इस रास की रचना के माध्यम से उन्हे तात्त्विक आत्मानुभूति भी प्राप्त हुई । इस प्रकार इस रास की रचना के माध्यम से महोपाध्याय **श्रीमद् यशोविजयजी म.** को भी महान् लाभ प्राप्त हुआ ।

रास की महिमा

पू. यशोविजयजी म. ने रास के अंत में इस रास की महिमा प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा-

'जे भावे ए भणशे गुणशे, तस घर मंगल मालाजी ।'

जो पुण्यशाळी नवपद ओली के दिनों में इस रास का मंगल पाठ करेगा, उसके घर पर मंगल की माला का सर्जन होगा...और अनुक्रम से वह शाश्वत-मोक्षपद प्राप्त करेगा ।

कुदरत का संकेत

पू. विनयविजयजी म. ने जब श्रीपालरास की रचना का प्रारंभ किया, तब उनके मुख से उसके मंगलाचरण के रूप में **'कल्पवेली कवियणतणी'** के शब्द निकल पडे । ग्रंथ का प्रारंभ रगण से हो गया जो अपशकुनी माना जाता है । उसके बाद उन्हे भी ख्याल आ गया कि यह ग्रंथ रचना पूर्ण नहीं हो पाएगी, और आखिर ऐसा ही हुआ ।

चिरंजीवी रचनाएं

कई कवियों की रचनाएं ऐसी होती हैं जो उनके जीवन काल में ही भूला दी जाती हैं, जब की कई कवियों की रचनाएं उनके अस्तित्व काल में तो प्रसिद्ध होती ही हैं, परंतु उनके स्वर्ग गमन के बाद वे और भी प्रसिद्ध हो जाती है ।

पू. महोपाध्याय विनयविजयजी म. एक विशिष्ट कोटि के पुण्यशाली प्रतिभा संपन्न महापुरुष थे । इसके फलस्वरुप उनकी रचनाएं भी अत्यंत ही प्रसिद्ध बनी है ।

जैसे-पूर्वाधिराज के दिनों में उन्ही की कल्पसूत्र की टीका पढी जाती है तो नवपद ओली के दिनों में उन्ही के द्वारा विरचित रास घर घर में गूंजता रहता है ।

'सिद्धारथना रे नंदन विनवुं' उनका अत्यंत ही लोकप्रिय स्तवन है तो मृत्यु की वेला में उन्ही के द्वारा विरचित पुण्य प्रकाश का स्तवन पढा जाता है ।

वैराग्य के पोषण के लिए शांतसुधारस ग्रंथ कंठस्थ किया जाता है तो तत्व के अवबोध के लिए उन्ही के द्वारा विरचित **'लोकप्रकाश ग्रंथ का स्वाध्याय किया जाता है ।'** सिद्ध हैम व्याकरण को अच्छी तरह से समझने के लिए **'लघु हैमप्रक्रिया'** की रचना की । इस प्रकार **महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म.सा.** की सभी रचनाएं अत्यंत ही लोकप्रिय और सुप्रसिद्ध है ।

महोपाध्याय श्री विनयविजयजी म. की प्रस्तुत कृति शान्त सुधारस अत्यन्त ही भाववाही कृति है । इसमें अनित्य आदि भावनाओं का बहुत ही सुन्दर व मर्मस्पर्शी वर्णन है । अत्यन्त लय के साथ यदि गाया जाय तो परम आनन्द की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती ।

`कुछ'** लिखने के पूर्व मुझे किसी लेखक के `वे' शब्द याद आ रहे हैं- `A wound from the tongue is worse than a wound from a sword, for the latter affects only the body the former effects the heart, mind and spirit also.' तलवार के घाव प्रहार से भी वाक्बाण का प्रहार अधिक भयंकर है, क्योंकि तलवार का प्रहार तो शरीर पर ही घाव करता है और बाह्य-उपचार के द्वारा उस घाव को ठीक भी किया जा सकता है, परन्तु वाक्-बाण का घाव तो अत्यन्त ही भयंकर होता है, जो हृदय और दिमाग को ही भेद डालता है, उस घाव को मिटाना अशक्य हो जाता है । इसीलिए कहा गया है- **``बोलने के पूर्व सौ बार सोचें । क्योकि वाणी के कमान से छूटे हुए शब्द-बाण को वापस ग्रहण नहीं किया जा सकता ।'' `अन्धे के बेटे अन्धे ही होते है'-द्रौपदी के इन शब्दों ने तो एक महाभारत खड़ा कर लिया ।

असावधानी में बोले गए शब्द विष का काम करते हैं तो सोच-विचारपूर्वक बोले गए शब्द अमृत का भी काम कर सकते हैं ।

संगीत के सुरीले स्वर जागृत व्यक्ति को सुला भी सकते हैं और सोए हुए व्यक्ति को जगा भी सकते हैं ।

आध्यात्मिक-साधना के बल से **महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म.** के शब्दों में वह प्रचण्ड शक्ति व्याप्त है, जिसके फलस्वरूप एक सुषुप्त चेतना जागृत हुए बिना नहीं रहती ।

`शान्त-सुधारस' की यह अद्भुत-रचना ! इसमें शब्दों का लालित्य है तो साथ में भावों की ऊर्मियाँ भी उछलती हुई नजर आती है । महोपाध्याय **श्री विनयविजयजी म.** की प्रस्तुत

कृति **'शान्त सुधारस'** अत्यन्त ही भाववाही कृति है । इसमें अनित्य आदि भावनाओं का बहुत ही सुन्दर व मर्मस्पर्शी वर्णन है । अत्यन्त लय के साथ यदि गाया जाय तो परम आनन्द की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती । **'शान्त सुधारस'** के ये शब्द सुषुप्त चेतना को जागृत करने में पूर्णतया सशक्त हैं ।

परम पूज्य जिनशासन के अजोड़ प्रभावक सुविशाल **गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.** की असीम कृपादृष्टि, परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि **परमोपकारी गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की सतत कृपावृष्टि व **प. पू. सौजन्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रद्योतनसूरीश्वरजी म. सा.** के शुभाशीर्वाद से मैंने इस ग्रन्थ के हिन्दी विवेचन का प्रयास प्रारम्भ किया । उपर्युक्त पूज्यों की असीम कृपा तथा **प.पू. परम तपस्वी सेवाभावी मुनि श्री जिनसेनविजयजी म. सा.** की सहयोगवृत्ति से इस ग्रन्थ-विवेचन का अल्प प्रयास करने में सक्षम बन सका हूँ ।

वि. सं. 2039 के पाली चातुर्मास की अवधि में इस ग्रन्थ पर विवेचन लिखना आरम्भ किया था । इस विवेचन की पूर्णाहुति तो दुसरे ही वर्ष हो चुकी थी परन्तु इसके प्रकाशन में संयोगवश विलम्ब हो गया । आज पुनः वि. सं. 2045 में **प.पू. सौजन्यमूर्ति आचार्य श्रीमद् विजयप्रद्योतनसूरीश्वरजी म. सा.** आदि के पाली चातुर्मास दरम्यान ही इस विवेचन ग्रन्थ-रत्न का प्रकाशन होने

जा रहा है, यह अत्यन्त ही खुशी की बात है । सोने में सुगन्ध रूप इस चातुर्मास में प्रवचन भी इसी **'शान्त-सुधारस'** ग्रंथ के आधार पर हो रहे हैं ।

प.पू. विद्वद्वर्य आचार्यप्रवर श्री यशोविजयसूरिजी म. तथा **मुनि श्री महाबोधिविजयजी म.** ने विवेचन को आद्यन्त देखकर परिमार्जित किया है और इस ग्रन्थ विवेचन के अनुरूप संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित प्रस्तावना भी लिखी है, उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ । इस विवेचन को पढ़कर सभी भव्यात्माएँ मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ें, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है ।

अन्त में, मतिमन्दतादि दोषों के कारण यदि कहीं जिनाज्ञाविरुद्ध आलेखन हुआ हो तो उसके लिए त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।

जैन उपाश्रय,
गुजराती कटला
पाली (राज.)

अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री
का चरम शिष्याणु **मुनि रत्नसेनविजय**

चातुर्मास प्रारंभ दिन
असाढ सुदी-१४, वि.सं. २०४५
दि. 8-7-1986

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्म तिथि	: भादों सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-58
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षा दाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षा दिन	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आ. **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षा दिन विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 ऊपर दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषा बोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन प्रारंभ :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर, पालीताणा (दो बार) नासिक ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक आदि

◆ **पाद विहार :** आजतक लगभग 40,000 K.M.

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय-गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन : ''वात्सल्य के महासागर''** संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** (190) लगभग

◆ **संस्कृत साहित्य संपादन-सह संपादन :** सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्-बृहद्वृत्ति लघु न्यास सह, पांडवचरित्र आदि

◆ **अन्य संपादन :** भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा का इतिहास-भाग 1-2-3

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी, मुनि केवलरत्नविजयजी, मुनि कीर्तिरत्नविजयजी, मुनि प्रशांतरत्नविजयजी, मुनि शालिभद्रविजयजी, मुनि स्थूलभद्रविजयजी, मुनि स्व. यशोभद्रविजयजी ।**

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, नासिक ।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना.

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई.

◆ **आचार्य पदवी :** पोष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा.

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
1.	मंगलाचरण	1
2.	पीठिका	4
3.	१. अनित्य भावना	12
4.	२. अशरण भावना	35
5.	३. संसार भावना	60
6.	४. एकत्व भावना	87
7.	५. अन्यत्व भावना	107
8.	६ अशुचि भावना	128
9.	७ आस्त्रव भावना	147
10.	८ संवर भावना	171
11.	९ निर्जरा भावना	198
12.	१० धर्म भावना	222
13.	११ लोकस्वरूप भावना	246
14.	१२ बोधिदुर्लभ भावना	273
15.	१३ मैत्री भावना	297
16.	१४ प्रमोद भावना	328
17.	१५ करुणा-भावना	353
18.	१६ माध्यस्थ्य भावना	377
19.	षोडशभावनाष्टकम्	386
19.	अथ प्रशस्तिः	397
21.	शान्त सुधारस	400

मंगलाचरण

नीरन्ध्रे भवकानने परिगलत्पञ्चास्त्रवाम्भोधरे,
नानाकर्मलतावितानगहने, मोहान्धकारोद्धुरे ।
भ्रान्तानामिह देहिनां हितकृते कारुण्यपुण्यात्मभि-
स्तीर्थेशैः प्रथितास्सुधारसकिरो रम्या गिरःपान्तु वः।।1।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- यह संसार रूपी जंगल अत्यन्त ही सघन है, जो चारों ओर से बरसते हुए पाँच प्रकार के आस्त्रव रुप बादलों से घिरा है, जो अनेक प्रकार की कर्म-लताओं से अत्यन्त ही गहन है और मोह रुपी अन्धकार से व्याप्त है, इस जंगल में भूले पड़े प्राणियों के हित के लिए करुणासागर तीर्थंकर भगवन्तों ने अमृत रस से भरपूर और अत्यन्त आनन्ददायी वाणी का जो विस्तार किया है, वह वाणी आपका संरक्षण करे ।।1।।

विवेचन

महोपाध्याय श्री विनयविजयजी महाराज 'शान्त सुधारस' ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हैं । इस आद्य **'मंगलाचरण'** गाथा में तीर्थंकरों की वाणी की स्तुति कर **'वह वाणी आपका संरक्षण करे'**, यह आशीर्वाद भी दिया गया है । तीर्थंकरों के द्वारा निर्दिष्ट यह अमृतवाणी किस प्रकार उपकारी है, यह समझाने के लिए **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** ने संसार की भीषणता का वर्णन किया है । संसार की भीषणता-भयंकरता को समझाने के लिए **उपाध्यायजी म.** ने संसार को एक जंगल की उपमा दी है ।

कुछ समय के लिए आप अपनी आँखें बन्द कर दो और मन रुपी घोड़े पर सवार होकर भीषण वन में पहुँच जाओ । अब आप मन की आँखों से देखो । ओह ! .....कितना भीषण और भयंकर है यह जंगल !!

चारों ओर लम्बी-लम्बी झाड़ियाँ हैं । बहुत ही विशाल क्षेत्र में यह जंगल छाया हुआ है । विराट्काय वृक्षों से यह जंगल अत्यन्त सघन बना हुआ है ।

इसके साथ ही अमावस्या की घनघोर रात्रि है । चारों ओर घना अन्धकार छाया हुआ है । कहीं पर प्रकाश की एक भी किरण भी नजर नहीं आ रही है ।

जोर-शोर की गर्जनाओं के साथ बादल बरस रहे हैं । वर्षा की तीव्र रिम-झिम के कारण चारों ओर गहरा कीचड़ हो गया है । वर्षा के जल के कारण चारों ओर घास उगी हुई है । इस भीषण जंगल में हिंसक और क्रूर जंगली प्राणियों का भी आवास है । दूर-सुदूर से सिंह की गर्जनाएँ सुनाई दे रही हैं, जिसके श्रवण मात्र से ही कमजोर पशु थरथर काँप रहे हैं ।

चारों ओर अत्यन्त भयंकर और डरावना वातावरण है । जंगल की झाड़ियाँ इतनी सघन हैं कि उनमें फँस जाने के बाद निकलने के लिए मार्ग मिलना ही अत्यन्त कठिन है ।

कल्पना करो, ऐसे भीषण जंगल में आप फँस जायें तो आपकी मनःस्थिति कैसी होगी ? क्या क्षण भर के लिए भी आपका मन शान्त रह सकता है ? नहीं । कदापि नहीं । ऐसी परिस्थिति में मन सतत कम्पायमान ही रहेगा । सुरक्षा और संरक्षण के लिए आप प्रयत्न किये बिना नहीं रहेंगे । लेकिन अफसोस ! आपका एक भी प्रयत्न आपको बचा नहीं पा रहा है । जी-जान से किया गया आपका प्रयत्न निष्फल जा रहा है । आपके दुःख की सीमा नहीं रहेगी । दुःख से आपका हृदय भर आएगा । आपके इस दुःख के संवेदन की कल्पना मात्र भी आपको को भयभीत बना देगी ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज वन की इस भीषणता के दृश्य को अपनी आँख के सामने तादृश्य कराकर इस संसार की भयानकता को समझाना चाहते हैं ।

ओह ! यह संसार तो श्मशान घाट से भी अत्यन्त भयंकर है । फिर भी इस भीषण वन की उपमा के द्वारा इस संसार के वास्तविक स्वरुप का चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

ओह, यह भीषण संसार रुपी वन ! जिस प्रकार सघन वन में से बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिल पाता है और व्यक्ति इधर से उधर भटकता रहता है । बस, इसी प्रकार इस संसार में भी आत्मा इधर से उधर जन्म-मरण के चक्र में भटक रही है । वह सुख की लालसावश बन्धन से मुक्ति का प्रयत्न करती है, लेकिन वह प्रयत्न ही उसके लिए बन्धनस्वरूप बन जाता है ।

पूज्य उमास्वातिजी ने कहा है कि ``मोह से अन्धी बनी आत्मा सुख पाना चाहती है और दुःख का त्याग करना चाहती है, परन्तु मोहान्धता के कारण वह ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, त्यों-त्यों दुःख के गहन सागर में ही डूबती जाती है ।'' इस भीषण संसार में सुख की चाह से आत्मा इधर से उधर भटकती है । **'मधु-बिन्दु'** तुल्य कल्पित सुखों में वास्तविक सुख मान बैठती है और चारों ओर से दुःख ही दुःख पाती है ।

जिस प्रकार जंगल में अत्यन्त कीचड़ के कारण आगे बढ़ना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार इस संसार में भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रुपी पाँच आस्त्रव सतत बरस रहे हैं । आस्त्रवद्वारों से कर्मों का आत्म-भूमि में सतत आगमन होने से संसार रुपी जंगल सदैव हरा-भरा रहता है । जब तक वर्षा चालू रहती है, तब तक नई घास उत्पन्न होती रहती है । कर्मों के सतत आगमन से आत्मा का भव-भ्रमण रुप संसार सतत हरा-भरा रहता है ।

नाना प्रकार की कर्म-लताओं से यह संसार-वन सघन बना हुआ है ।

यह संसार-वन अत्यन्त भीषण और गहन तो है ही, इसके साथ मोह के गहन अन्धकार से भी व्याप्त है । एक तो वन की भीषणता और दूसरी ओर अन्धकार !! अब कैसे निकला जाय ?

इस संसार में भी मोह की गहन अन्धकार है, अतः जीवात्मा को सही दिशा प्राप्त ही नहीं हो पाती है ।

संसार में जीवात्मा की इस भयंकर दशा को देखकर, तीर्थंकर परमात्मा को दया आती है । तीर्थंकर परमात्मा तो करुणा के सागर हैं । जीवात्मा की इस दुःखभरी स्थिति को देख वे अत्यन्त ही करुणार्द्र बनते हैं और इस संसार में भटकती हुई आत्माओं के कल्याण के लिए शांत रस से भरपूर धर्मदेशना देते हैं । इस धर्मदेशना के श्रवण से भव्यात्माओं को सन्मार्ग की प्राप्ति होती है और अन्त में वे परम-पद की भोक्ता बन जाती हैं ।

'तीर्थंकरों की वह कल्याणकारी वाणी तुम्हारा रक्षण करे ।' इस प्रकार **विनयविजयजी म.** आशीर्वादात्मक मंगलाचरण पूर्ण करते हैं ।

卐 प्रशमरति-श्लोक सं. 40 ।

स्फुरति चेतसि भावनया विना,
न विदुषामपि शान्तसुधारसः ।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना,
जगति मोहविषादविषाकुले ।।2।।

(द्रुतविलम्बितम्)

अर्थ :- भावना के बिना विद्वानों के हृदय में भी **शान्त-सुधारस** (अमृत का रस) उत्पन्न नहीं होता है, जबकि मोह और विषाद रुपी विष से भरे हुए इस संसार में उसके बिना क्षणमात्र भी सुख नहीं है ।।2।।

विवेचन

ग्रन्थ की यथार्थता

पूज्य वाचकवर्य श्रीमद् विनयविजयजी म. ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम **'शान्त सुधारस'** रखा है । **'शान्त सुधारस'** इस ग्रन्थ का यथार्थ नाम है । दुनिया में कई बार स्वार्थसिद्धि के लिए अयथार्थ औपचारिक (आरोपित) स्तुति भी की जाती है । किसी कंगाल का नाम भी **'अमीरचंद'** रख दिया जाता है । परन्तु ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के नाम का यथार्थ व सार्थक चयन किया है । इस ग्रन्थ के अन्तर्गत उन्होंने सोलह भावनाओं का वर्णन किया है । इन भावनाओं के महत्त्व को बतलाते हुए वे फरमाते हैं कि इन भावनाओं के भावन (चिन्तन) बिना विद्वानों के मन में भी शान्त रस का प्रवाह प्रगट नहीं होता है अर्थात् मन्दजनों की बात तो दूर रही, किन्तु विद्वान् के हृदय में भी जो शान्त रस उत्पन्न होता है, वह इन भावनाओं की ही देन है । अतः विद्वज्जन के लिए भी यदि ये भावनाएँ अत्यन्त अनिवार्य हैं, तो मन्दजनों के लिए तो इनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है । उनको तो बार–बार अवश्य इन भावनाओं का भावन करना ही चाहिये । इस प्रकार प्रस्तुत गाथा में ग्रन्थ का **'विषय निर्देश'** भी हो जाता है ।

यदि भवभ्रमखेदपराङ्मुखम्,
यदि च चित्तमनन्तसुखोन्मुखम् ।
शृणुत तत्सुधियः शुभ-भावना-
मृतरसं मम शान्तसुधारसम् ।।3।।

(द्रुतविलम्बितम्)

अर्थ :- हे बुद्धिमानो ! संसार-परिभ्रमण से यदि आपका मन पराङ्मुख बना हो और अनन्त सुख को पाने के लिए आपका मन उन्मुख बना हो, तो शुभ-भावना रुपी अमृत रस से भरपूर मेरे इस **'शान्त सुधारस'** का श्रवण करो ।।3।।

विवेचन

'शान्त सुधारस' की उपयोगिता

गर्मी में लम्बी पदयात्रा से अत्यन्त थका हुआ पथिक आपने देखा ही होगा अथवा लम्बी पदयात्रा का आपने अनुभव भी किया होगा । लम्बी पदयात्रा से व्यक्ति थककर चूर हो जाता है, सिर पर से सतत पसीना छूटने लगता है और सारे कपड़े पसीने से लथपथ हो जाते हैं । श्रम से अत्यन्त थका हुआ व्यक्ति वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम करना चाहता है और उस थकावट में यदि उसे ठंडा पानी मिल जाय तो उसकी काफी थकावट दूर हो जाती है ।

बस ! इसी प्रकार यदि आपको इस अनादि संसार के परिभ्रमण से थकावट लग रही हो और उस थकावट से आप मुक्ति चाहते हों तो **पू. विनयविजयजी म.** कहते हैं कि मेरे इस **'शान्त सुधारस'** का आप अवश्य पठन व श्रवण करो ।

ठंडे पानी का वास्तविक मूल्यांकन वही कर सकता है जो गर्मी से अत्यन्त संतप्त हो । इसी प्रकार इस **'शान्त सुधारस'** ग्रन्थ का भी वास्तविक मूल्यांकन वही कर सकता है, जो इस संसार से उद्विग्न बना है । अनादि से अपनी आत्मा इस संसार में भटक रही है, परन्तु इस परिभ्रमण का जिसे ज्ञान ही नहीं है, वह आत्मा इस **'शान्त सुधारस'** का मूल्यांकन नहीं कर सकती ।

मुक्ति मार्ग की आराधना साधना में आगे बढने के लिए जीवात्मा में मुख्य दो गुण अनिवार्य है । **'शांत सुधारस'** - ग्रंथ के माध्यम से पूज्य उपाध्यायजी म. भाव धर्म स्वरुप सोलह भावनाओं का निरुपण करना चाहते हैं, परंतु ये भावनाएं उन्ही आत्माओं को लाभ करेगी, जिनमें ये दो गुण विकसित हुए हैं ।

1. भव भ्रमण का खेद :- भव भ्रमण अर्थात् चार गति रुप अथवा 84 लाख योनिरुप संसार में एक भव से दूसरे भव में भटकना । इस भव भ्रमण से जिस आत्मा को कंटाला आ गया हो अर्थात् जिसे यह महसूस हो रहा हो कि मुझे अब इस संसार में नहीं भटकना है ।

भव भ्रमण के इस गुण को ही शास्त्रीय भाषा में **'भव निर्वेद'** कहा गया है । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के सूचक 5 लक्षणों में भी **'भव निर्वेद'** आता है ।

2. अनंत सुख की अभिलाषा :- संसार में जो कुछ सुख हैं, वह क्षणिक व नाशवंत हैं, दुःख मिश्रित है और भावि दुःख को ही लानेवाला हैं, अतः ऐसा सुख मुझे नहीं चाहिये । मुझे तो शाश्वत, स्वाधीन और अक्षय सुख ही चाहिये ! **'ऐसा सुख संसार में नहीं बल्कि मोक्ष में ही है ।'**

उस मोक्ष सुख की तीव्र अभिलाषा को ही शास्त्रीय भाषा में संवेग भाव कहते है ।

जिन आत्माओं में भव निर्वेद और मोक्ष संवेग भाव जागृत हुआ हो, वे ही आत्माएं इन भावनाओं के श्रवण आदि के लिए अधिकारी है ।

सुमनसो मनसि श्रुतपावना,
निदधतां द्वयधिका दशभावनाः ।
यदिह रोहति मोहतिरोहिताऽद्-
भुतगतिर्विदिता समतालता ।।4।।

(द्रुतविलम्बितम्)

अर्थ :- हे सुन्दर मन वाले ! कानों को पवित्र करने वाली बारह भावनाओं को अपने मन में धारण करो, जिसके परिणामस्वरुप मोह से तिरोहित बनी, जिसकी अद्भुत शक्ति है, वह सुप्रसिद्ध समता रुपी लता अंकुरित होगी ।।4।।

विवेचन

भव्यात्माओं को प्रेरणा

पूज्य उपाध्यायजी महाराज भव्यात्माओं को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर मनवालो ! आप इन बारह भावनाओं को हृदय में अवश्य धारण करो ।

ग्रन्थकार की वाणी में कितनी मधुरता व सौष्ठव है, इसका पता हमें प्रस्तुत श्लोक से लग जाता है । धर्माभिमुख बनी आत्माओं के सम्बोधन के लिए कितने सुन्दर शब्दों का वे प्रयोग करते हैं ।

ग्रन्थकार फरमाते हैं कि इन भावनाओं का श्रवण कानों को पवित्र करने वाला है । आत्म-हितकर होने से ज्यों-ज्यों इन भावनाओं का श्रवण करते जाओगे, त्यों-त्यों आपके हृदय में शान्त रस का प्रवाह बढ़ता ही जाएगा । इन बारह भावनाओं के श्रवण से वैराग्य की पुष्टि होगी और अनादि की कुवासनाओं का जोर समाप्त होने लगेगा ।

ये बारह भावनाएँ श्रुतज्ञान से पवित्र बनी हुई हैं । इनके श्रवण से आत्मा के विवेक चक्षु खुल जाते हैं और आत्मा को सन्मार्ग की दिशा का ज्ञान होता है ।

इन भावनाओं के श्रवण से हृदय में समता रुपी कल्पलता भी उगती है । समता अर्थात् सम भावना । सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-तृण में सम भावना की प्राप्ति समता से ही होती है और उस समता की प्राप्ति इन भावनाओं के स्वाध्याय से होती है ।

आर्त्तरौद्रपरिणामपावक-प्लुष्टभावुकविवेकसौष्टवे ।
मानसे विषयलोलुपात्मनां, क्व प्ररोहतितमां शमाङ्कुरः ।।5।।
(रथोद्धता)

अर्थ :- आर्त्त और रौद्रध्यान (परिणाम) रुपी अग्नि से भावना रुपी विवेक चातुर्य जिसका जल कर नष्ट हो चुका है और जो विषयों में लुब्ध है, ऐसी आत्मा के मन में समता रुपी अंकुर कैसे प्रकट हो सकते हैं ? ।।5।।

विवेचन

समता के लिए समस्या

समता की प्राप्ति आसान बात नहीं है । उसकी प्राप्ति में अनेक विघ्नों की परम्परा का सामना करना पड़ता है । जिसका मन आर्त्त और रौद्र ध्यान से सतत संतप्त बना हुआ हो और उस मनस्ताप से जिसका विवेक नष्ट हो चुका हो, उसके मन-मन्दिर में समता-लता का विकास असम्भव ही है ।

समस्त साधना की सफलता का आधार समता की प्राप्ति ही है । परन्तु आर्त्त और रौद्रध्यान समतारुपी लता को जलाकर भस्मीभूत कर देते हैं ।

विषय की लोलुपता में से आर्त्त-रौद्रध्यान का जन्म होता है । विषयराग के निवारण बिना आर्त्त-रौद्रध्यान का निवारण सम्भव नहीं है और आर्त्त-रौद्रध्यान के निवारण बिना समता-लता की प्राप्ति सम्भव नहीं है । अतः जिस आत्मा में आर्त्त-रौद्रध्यान की प्रबलता है और जो आत्मा विषयों में आसक्त बनी हुई है, उसके लिए समता-प्राप्ति की आशा स्वप्नतुल्य ही है ।

विषय की लोलुपता :- अनादि काल से आत्मा में विषयों की आसक्ति रही हुई हैं । जिस भव में जिस इन्द्रिय का जो विषय मिला, उसमें वह आसक्त रही है ।

बाह्य तप-त्याग आसान हैं, परंतु मन के भीतर रही विषयों की आसक्ति को छोडना अत्यंत ही कठिन है । दुनियाँ में चारों ओर क्रोध, मान, माया और लोभ रुपी कषायों की आग देखी जाती हैं, उस आग का मूल भी विषयों की आसक्ति ही है ।

विषयों की आसक्ति ही क्रोध आदि कषायों को पैदा करती है ।

सभी प्रकार के आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का मूल भी विषयों की आसक्ति ही है ।

जिसने अपने जीवन में से विषयों की आसक्ति दूर कर दी, उसे समताभाव प्राप्त करना, खूब आसान हो जाता है ।

जहां विषयों की आसक्ति होगी, वहां समताभाव पैदा ही नहीं होता है ।

विषयों की आसक्ति तो सभी प्रकार के दुर्ध्यान को पैदा करनेवाली जननी है ।

यस्याशयं श्रुतकृतातिशयं विवेक-
पीयूषवर्षरमणीयरमं श्रयन्ते ।
सद्भावनासुरलता न हि तस्य दूरे,
लोकोत्तरप्रशमसौख्यफलप्रसूतिः ।।6।।

(वसन्ततिलका)

अर्थ :- श्रुतज्ञान से निपुण बना हुआ जिसका आशय, विवेक रुपी अमृतवर्षा से सुन्दरता का आश्रय बना हुआ है, उसके लिए लोकोत्तर प्रशमसुख को जन्म देने वाली सद्भावना रुपी कल्पलताएँ दूर नहीं हैं ।।6।।

विवेचन

सद्भावनाएँ कल्पलताएँ हैं

श्रुतज्ञान के अतिशय से जिसका विवेक निर्मल बन चुका है, उसके लिए लोकोत्तर प्रशमसुख को जन्म देने वाली सद्भावनाएँ दूर नहीं हैं ।

अविवेकी व्यक्ति इन भावनाओं का अभ्यास नहीं कर सकता है । भावनाओं के अभ्यास के लिए विवेक की अत्यन्त आवश्यकता रहती है । अविवेकी और मूढ़ व्यक्ति अज्ञानता के रोग से ग्रस्त होता है । वह इन भावनाओं का मूल्यांकन कर ही नहीं सकता है ।

विवेकी व्यक्ति ही इन भावनाओं का वास्तविक मूल्यांकन कर सकता है और फिर इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित कर सकता है । इन

भावनाओं के अभ्यास से पौद्गलिक आसक्ति क्षीण होने लगती है । इन्द्रियों के सानुकूल विषयों के प्रति भी हृदय में वैराग्य प्रगट होता है और उस वैराग्य के कारण आत्मा में प्रशम सुख का जन्म होता है । सद्भावनाओं के अभ्यास से प्राप्त लोकोत्तर प्रशमसुख, चक्रवर्ती और इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है ।

'प्रशमरति' में कहा गया है कि-

प्रशमितवेदकषायस्य, हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिभवस्य, यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ।।126।।

जिसने वेद और कषाय के उदय को शान्त किया है और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि पर जिसने विजय प्राप्त करली है, वह आत्मा जिस सुख का अनुभव करती है, वह सुख अन्य आत्माओं के भाग्य में कहाँ ?

कविवर ने इन सद्भावनाओं को कल्पलताओं की उपमा दी है, कल्पलता से समस्त इष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार इन भावनाओं के नित्य भावन से लोकोत्तर प्रशम रुप सुख की प्राप्ति होती है ।

अनित्यत्वाशरणते, भवमेकत्वमन्यताम् ।
अशौचमास्त्रवं चात्मन् ! संवरं परिभावय ।।7।।
कर्मणो निर्जरां धर्म-सूक्ततां लोकपद्धतिम् ।
बोधिदुर्लभतामेता, भावयन्मुच्यसे भवात् ।।8।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- अनित्यता, अशरणता, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोकस्वरुप और बोधिदुर्लभता रुप इन भावनाओं का भावन करने से हे आत्मन् ! तू इस संसार से मुक्त हो जाएगी ।।7-8।।

विवेचन

बारह भावनाएँ

अन्तिम दो गाथाओं में इन बारह भावनाओं का नाम-निर्देश किया गया है ।

(1) **अनित्य भावना :-** संसार का प्रत्येक पदार्थ, संसार के सभी संयोग-संबंध आदि अनित्य-नाशवन्त हैं ।

(2) **अशरण भावना :-** इस संसार में आत्मा के लिए वास्तव में कोई शरण्य नहीं है । आपत्ति-विपत्ति में उसका कोई रक्षक नहीं है ।

(3) **संसार भावना :-** इस संसार में एक ही आत्मा कभी माता बनती है, तो कभी पुत्र बनती है । संसार के सम्बन्ध बड़े ही विचित्र हैं ।

(4) **एकत्व भावना :-** आत्मा अपने सुख-दुःख की स्वयं ही कर्त्ता है । वह अकेली आई है और उसे अकेले ही जाना पड़ेगा ।

(5) **अन्यत्व भावना :-** आत्मा देह आदि से सर्वथा भिन्न है । वह न तो धन की स्वामी है और न ही अपने देह की ।

(6) **अशौच भावना :-** यह काया मांस-रुधिर-अस्थि आदि अशुचि से भरपूर है ।

(7) **आस्त्रव भावना :-** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि के सेवन से निरन्तर आत्मा में कर्मों का आगमन चालू है ।

(8) **संवर भावना :-** क्षमादि यतिधर्मों के परिपालन से आत्मा के आस्त्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं ।

(9) **निर्जरा भावना :-** बारह प्रकार के तप के आसेवन से आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त बनती है ।

(10) **धर्म भावना :-** आत्मा के स्वरुप तथा मुक्तिमार्ग के सम्बन्ध में विचार करना धर्मभावना है ।

(11) **लोकस्वरूप भावना :-** चौदह राजलोक का स्वरुप क्या है ? इत्यादि विचार करना ।

(12) **बोधिदुर्लभ भावना :-** सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ है ।

1 अनित्य भावना

वपुरिवपुरिदं विदभ्रलीला-
परिचितमप्यतिभङ्गुरं नराणाम् ।
तदतिभिदुरयौवनाविनीतम्,
भवति कथं विदुषां महोदयाय ।।9।।

(पुष्पिताग्रा)

अर्थ :- चंचल बादल के विलास की तरह यह मनुष्य देह क्षणभंगुर है । यह शरीर यौवन के कारण वज्रवत् अक्कड़ बना हुआ है । ऐसा शरीर विद्वज्जन के महा-उदय के लिए कैसे हो सकता है ? ।।9।।

विवेचन

क्षणविनश्वर देह !!

ग्रन्थकार महर्षि **'अनित्य भावना'** का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम शरीर की अनित्यता प्रस्तुत कर रहे हैं ।

मानव का यह देह आकाश के बादलों की भाँति अत्यन्त चपल है । शरद् ऋतु में बादलों से छाये हुए आकाशमंडल को देखा ही होगा ? क्षणभर में सम्पूर्ण आकाश बादलों से व्याप्त हो जाता है । किन्तु उनका अस्तित्व.....? पवन का एक झोंका आते ही वे कहीं-के-कहीं बिखर जाते हैं और क्षण भर में तो उनका अस्तित्व नामशेष हो जाता है । बस ! यही हालत मानव शरीर की है । .....आयुष्य कर्म की समाप्ति रुप पवन के एक झोंके से ही यह शरीर नष्ट हो जाता है ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज सर्वप्रथम देह की अनित्यता बतला रहे हैं, इसका मुख्य कारण है.....देह की अत्यधिक ममता ।

आहार से अधिक धन पर मूर्च्छा, धन से अधिक पुत्र पर, पुत्र से अधिक पत्नी पर और पत्नी से भी अधिक मूर्च्छा देह पर होती है ।

• बम्बई में चंपक भाई का एक समृद्ध छोटा सा परिवार रहता था । परिवार में कुल चार ही सदस्य थे । पति-पत्नी और एक पुत्र व एक पुत्री । उस युगल को शादी किये चार ही वर्ष हुए थे ।

एक दिन चंपक भाई ने अपने मित्रों को अपने घर भोजन के लिए आमंत्रण दिया । उसने वातानुकूलित कमरे में सभी मित्रों को सोफे पर बिठाया । थोड़ी ही देर में नाश्ते की प्लेटें आने लगीं । सभी मित्रों के साथ चंपक भी नाश्ता प्रारम्भ कर ही रहे थे कि दुकान से मुनीम का फोन आया- **``आप शीघ्र ही पधारिये, बाजार में भावों में बड़ी तेजी आ गई है । लाखों का मुनाफा हो सकता है ।''**

मुनाफा और वह भी लाखों का.....सुनते ही चंपक भाई ने मित्रों को कहा-**``मैं दो मिनिट में दुकान जाकर आता हूँ । अनिवार्य (Urgent) काम आ पड़ा है, आप नाश्ता कीजिएगा''.....**और चंपक भाई उठकर तत्काल दुकान पहुँच गए ।

दुकान से घर लौटे रात को आठ बजे । दिन भर कुछ खाया भी नहीं । क्यों ? लाखों के चक्कर में ।

स्पष्ट है, आहार से धन अधिक प्यारा है ।

एक दिन चंपक भाई दुकान पर हजारों का सौदा कर रहे थे, तभी उनकी पत्नी का फोन आया-``बच्चा पहली मंजिल से नीचे गिर पड़ा है, तुरन्त घर आ जाओ ।''

चंपक भाई सौदे को बीच में ही छोड़कर घर आ गए और बच्चे को लेकर निदान उपचार के लिए अस्पताल पहुँचे ।

चंपक भाई ने सौदे में लाभ की उपेक्षा की । क्यों ? धन से पुत्र अधिक प्यारा था, इसीलिए न ?

कुछ ही दिनों के बाद चंपक भाई की पत्नी गर्भवती बनी । प्रसूति का समय सन्निकट था और अचानक पत्नी की स्थिति गंभीर (Serious) हो गई । चंपक भाई तुरन्त अपनी पत्नी को अस्पताल ले गये ।

डॉक्टर चंपक भाई की पत्नी का उपचार करने लगे । स्थिति गम्भीर थी । डॉक्टर ने बाहर आकर चंपक भाई को कहा-**''दो में से एक बच सकता है-पत्नी या पुत्र । बोलो किसे बचाना है ?''**

चंपक भाई ने सोचा-**''पुत्र तो भविष्य में भी मिल सकेगा ।''** अतः बोला-**''पत्नी को बचा दो''** और पत्नी के रक्षण के लिए गर्भस्थ पुत्र को समाप्त कर दिया गया । क्यों ? पुत्र से भी पत्नी पर अधिक प्रेम था, इसीलिए न ?

एक दिन चंपक भाई की पत्नी रसोईघर में रसोई बना रही थी । चंपक भाई ने घर में प्रवेश किया । तभी चारों ओर से कोलाहल सुनाई दिया, **''भागो । भागो । चारों ओर आग लग गई है ।''** पुलिस आ चुकी थी और इस विशाल इमारत में से लोगों को बाहर निकालने के लिए इत्तला दे रही थी । तभी चंपक भाई को पुलिस ने कहा-**''जल्दी कूद पड़ो यहाँ से, अन्यथा मर जाओगे ।''**

अपने प्राण (शरीर को) बचाने के लिए चंपक भाई कूद पड़े । पत्नी झुलस कर समाप्त हो गई ।

चंपक भाई ने पत्नी के आने की इंतजारी न कर स्वयं का रक्षण कर लिया । क्यों ? पत्नी से भी अधिक उन्हें अपने प्राण प्रिय थे, इसीलिए न ?

ज्ञानियों का कथन है कि संसारी आत्मा को अपने देह पर अत्यधिक ममत्व होता है । इसीलिए तो दान, शील, तप और भाव में आगे-आगे का धर्म अत्यधिक कठिन है । दान से शील कठिन है और शील से तप कठिन है । दान में दूरस्थ धन की मूर्च्छा के त्याग का पुरुषार्थ है । शील में कुछ निकट स्त्री के त्याग का पुरुषार्थ है, जबकि तप में 24 घंटे साथ में रहने वाले देह की मूर्च्छा के त्याग का पुरुषार्थ है । अतः देह की मूर्च्छा का त्याग अधिक कठिन होने से कविवर बादलों की उपमा द्वारा देह के क्षणिक अस्तित्व का सर्वप्रथम वर्णन करते हैं ।

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि इस देह के साथ क्या परिचय करें ? इसका अस्तित्व तो अत्यन्त ही क्षणभंगुर है । यह कब धोखा दे देगा, इसका पता नहीं ।

और ओह ! यह क्षणभंगुर देह भी यौवन से कितना उन्मत्त बना हुआ

है ? यौवन के आवेग-आवेश में वह अपने क्षणिक अस्तित्व में भी कितने भयंकर पाप-कर्म कर बैठता है ।

याद आ जाती है **आनन्दघनजी** की ये पंक्तियाँ–

क्या तन मांजता रे, एक दिन मिट्टी में मिल जाना ।
मिट्टी में मिल जाना बंदे, खाक में खप जाना ।।क्या ०।।

कितनी बोधदायी और प्रेरणादायी हैं ये पंक्तियाँ !

और एक पंक्ति दिल-दिमाग में गूंज रही है-

``.....प्रेम से अतिपुष्ट किया, तन जलाया जाएगा ।''

ओह ! इस देह की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए कितने-कितने पाप किए; लेकिन आखिर में इसने धोखा ही दिया ।

ऐसा यह क्षणभंगुर देह एक बुद्धिमान् पुरुष के महा उदय का कारण कैसे बन सकता है ?

आयुर्वायुतरत्तरङ्गतरलं, लग्नापदः सम्पदः,
सर्वेऽपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः सन्ध्याभ्ररागादिवत् ।
मित्रस्त्रीस्वजनादिसङ्गमसुखं. स्वप्नेन्द्रजालोपमं,
तत्किं वस्तु भवे भवे-दिह मुदामालम्बनं यत्सताम् ।।10।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- पवन से चंचल बनी तरंगों के समान आयुष्य अत्यन्त चंचल है । सभी सम्पत्तियाँ, आपत्तियों से जुड़ी हुई हैं । समस्त इन्द्रियों के विषय संध्या के आकाशीय रंग की तरह चंचल हैं । मित्र, स्त्री तथा स्वजन आदि का संगम स्वप्न अथवा इन्द्रजाल के समान है । अतः इस संसार में सज्जन के लिए कौनसी वस्तु आलम्बन रुप बन सकती है ? ।।10।।

विवेचन

सभी पदार्थ/संयोग विनाशी हैं

``अरे ! यह किसकी श्मशान यात्रा निकल रही है ?'' दूर खड़े उस व्यक्ति ने अपने मित्र से पूछा ।

``ओह ! तुम्हें पता नहीं, सेठ रामलालजी का एकाकी पुत्र कल रात में हृदयगति रुक जाने से मर गया ।''

``क्या कहा ? सेठ रामलालजी का पुत्र अमरचन्द ! गजब हो गया । गत वर्ष ही तो उसका विवाह हुआ था और उसका शरीर भी कितना हृष्ट-पुष्ट था ? कल सुबह ही तो मैंने उसके साथ नाश्ता किया था.....और उसकी मृत्यु हो गई ।'' ऐसे और इस प्रकार के वार्तालाप हमें प्रतिदिन सुनाई देते हैं । ज्ञानियों के वचन कितने सत्य हैं । आयुष्य वायु से युक्त तरंग के समान अत्यन्त चपल है । कितना क्षणिक और नश्वर है यह जीवन !

इस संसार की संपत्तियाँ भी तो विपत्तियों से भरी हुई हैं । प्रत्येक संपत्ति के पीछे विपत्ति खड़ी है । यदि आपके पास धन-सम्पत्ति है तो आपको चोरों का सतत भय रहेगा । चोर का भय, राजकीय भय, ठगे जाने का भय आदि-आदि संपत्तिवान् व्यक्ति को ही सतत सताते रहते हैं ।

और ये इन्द्रियाँ ! संध्या के आकाशीय रंग की तरह कितनी चपल और चंचल हैं । प्रति समय प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को पाने के लिए घूमती ही रहती है । इष्ट विषय के मिलते ही उसमें आसक्त बन जाती है और प्रतिकूल विषय मिलते ही वह निराश बन जाती है । संध्या के समय आकाश में विविध रंग छा जाते हैं; किन्तु उनका अस्तित्व कब तक ? थोड़ी ही देर में वह रंग समाप्त हो जाता है । उसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के विषय भी अत्यन्त ही चपल हैं ।

इस संसार में मित्र-स्वजन और स्त्री के सम्बन्ध भी स्वप्नवत् नाशवन्त हैं । कई बार स्वप्न में अपनी विविध प्रकार की अवस्थाओं को देखते हैं । कई बार राजा बन जाते हैं तो कई बार सेठ-साहूकार । परन्तु आँख खुलते ही सब गायब ।

बस ! यही हालत है संसार के सम्बन्धों की । आँख बन्द होते ही (श्वास निकलते ही) सभी सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं । जीवनभर सैकड़ों व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़े किन्तु एक मृत्यु, कैंची बनकर उन समस्त सम्बन्धों को काट देती है । प्राण निकल जाने के बाद कौन सा सम्बन्ध साथ बना रहता है ?

ओह ! इस संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जो आत्मा के उत्थान के लिए आलम्बनभूत बन सके ? फिर भी आश्चर्य है कि इसी संसार में लीन रहने की वृत्ति-प्रवृत्ति क्यों बनी रहती है ?

प्रातर्भ्रातरिहावदातरुचयो, ये चेतनाचेतना,
दृष्टा विश्वमनः प्रमोदविदुरा भावाः स्वतः सुन्दराः ।
तांस्तत्रैव दिने विपाकविरसान् हा नश्यतः पश्यतः,
चेतः प्रेतहतं जहाति न भवप्रेमानुबन्धं मम ।।11।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- हे भाई ! प्रातःकाल में (इस संसार में) चेतन अथवा अचेतन पदार्थ के जो स्वतः सुन्दर भाव, अत्यन्त रुचि को उत्पन्न करने वाले और लोगों के मन को प्रमोद देने वाले हैं, वे ही भाव परिपाक दशा को प्राप्त कर उसी दिन विरस होकर नष्ट हो जाते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि प्रेत से नष्ट हुआ मेरा मन संसार-प्रेम के अनुबन्ध को नहीं छोड़ता है ।।11।।

विवेचन

सुबह खिले ! शाम को मुरझाये !!

अरे भाई ! जरा रुक जाओ । संसार के इन नश्वर पदार्थों में इतने आसक्त मत बनो । इन पदार्थों के वास्तविक स्वरुप का जरा चिन्तन करो । सुबह खिले हुए गुलाब के फूल को देखकर उसके सौन्दर्य में तुम मुग्ध बन जाते हो । किन्तु यह बात क्यों भूल जाते हो कि शाम होते ही इस गुलाब का ताजगी व सौन्दर्य समाप्त हो जाएगा ।

तुम नवीन वस्त्रों को देखकर इतने मोहित बन रहे हो, किन्तु जरा विचार तो करो, इनकी शोभा कब तक ? कुछ ही दिनों के बाद ये ही वस्त्र तुम्हारे लिए अप्रीति का कारण बन जायेंगे ।

ओह ! जिस डिजाइन वाले वस्त्र को लाने के लिए तुमने अपने माता-पिता से झगड़ा किया, जिस वस्त्र की सिलाई के लिए तुमने मुँहमाँगे रुपये दिये, जिस फैन्सी वस्त्र को पहनकर तुमने अपने शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाया; किन्तु कुछ ही दिनों के बाद कोई नई डिजाइन आ गई और अब तुम्हें उसी नवीन डिजाइन वाले वस्त्र को पाने की लालसा हुई । नवीन डिजाइन

वाले वस्त्र को पाने की लालसा ने उस पुरानी डिजाइन के वस्त्र की कीमत घटा दी । अब उस वस्त्र की तुम्हारे लिए कोई कीमत नहीं ।

संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं । कुछ ही दिनों पूर्व बम्बई में घटी यह घटना याद आ जाती है-

- लक्ष्मीचंद सेठ का पुत्र महेश बम्बई के एक कॉलेज में पढ़ता था । कॉलेज में पढ़ने वाली एक रुपवती कन्या के प्रति वह मोहित हो गया । किसी भी प्रकार से वह उस युवती से विवाह करना चाहता था, परन्तु उसे सफलता नहीं मिल पा रही थी । आखिर दो वर्ष के बाद उन दोनों की कोर्ट मेरिज (Court-marriage) हो गई । श्रेष्ठिपुत्र महेश के आनन्द का पार नहीं था । विवाह सम्बन्ध के दो वर्ष व्यतीत हुए । एक दिन वे दोनों टैक्सी में बैठकर घूमने के लिए जा रहे थे और अचानक टैक्सी का भयंकर एक्सीडेंट हो गया । भाग्यवश महेश की जान बच गई किन्तु उसकी पत्नी अत्यन्त घायल हो गई थी । तुरन्त वह अपनी प्राणप्यारी पत्नी को अस्पताल ले गया । डॉक्टर की दवाई से उसकी पत्नी होश में आई । उसके चेहरे पर काच के बहुत से टुकड़े चुभे हुए थे । उन सब को सावधानी से निकाला गया और उसकी पत्नी मौत के मुख में जाने से बच गई ।

आठ दिन बाद महेश अस्पताल में अपनी पत्नी को देखने के लिए आया । किंतु अब उसका आकर्षण समाप्त हो चुका था । जो चेहरा पहले अत्यन्त चमकदार और सौन्दर्य से भरा-पूरा था, अब उसका आकर्षण समाप्त हो चुका था, अतः महेश ने डॉक्टर की जेब भर दी और अपनी प्राण-प्यारी (?) पत्नी को जहर का इंजेक्शन देकर मौत के घाट सुला दिया ।

यह है इस संसार की हालत । ऐसी अनेक घटनाएँ आए दिन पढ़ने-सुनने को मिलती हैं ।

कुछ ही समय बाद अपने सौन्दर्य और चमक को खोने वाले ऐसे क्षणिक पदार्थों में क्या राग करें ?

परन्तु आश्चर्य है कि प्रेत से ग्रस्त व्यक्ति की तरह सांसारिक-क्षणिक पदार्थों का राग छूटता ही नहीं है । जिस प्रकार प्रेताधीन व्यक्ति स्वतंत्र रुप से कोई प्रवृत्ति नहीं कर पाता है, उसी प्रकार राग से अंधी बनी आत्मा भी विवेकभ्रष्ट होने से स्वतंत्र रुप से स्व-हित की प्रवृत्ति नहीं कर पाती है ।

अनित्यभावनाष्टकम्

(राग-रामगिरि)

मूढ मुह्यसि मुधा, मूढ मुह्यसि मुधा,
विभवमनुचिन्त्य हृदि सपरिवारम् ।
कुशशिरसि नीरमिव गलदनिलकम्पितम्,
विनय जानीहि जीवितमसारम् ।।मूढ..... 12।।

अर्थ :- हे मूढ़ आत्मन् ! अपने परिवार और वैभव का हृदय में बारम्बार विचार कर । तू व्यर्थ में ही क्यों मोहित हो रहा है ? हे विनय ! तृण के अग्र भाग पर पवन से कम्पायमान जल-बिंदु के समान इस असार जीवन को तू जान ले ।।12।।

विवेचन

नाशवंत जीवन

पुण्य के उदय से जीवात्मा को धन की प्राप्ति होती है..... समृद्धि की प्राप्ति होती है और उस वैभव और विलासपूर्ण जीवन में जीवात्मा यह भूल जाती है कि उसे प्राप्त हुई यह समृद्धि क्षणभंगुर और नश्वर है । मदिरापान के बाद जैसे शराबी अपने वास्तविक अस्तित्व को भूल जाता है, उसी प्रकार थोड़ी सी सम्पत्ति में जीवात्मा इतना रम जाता है कि उसे इस जीवन की वास्तविकता का भान ही नहीं रहता है ।

वह अपने क्षणिक वैभव और बाह्य परिवार को शाश्वत मान बैठता है । अनेक जीवों को मरते देखकर भी उसे अपनी मृत्यु का विचार नहीं आता है । इस जीवन की अमरता की भ्रांति में वह रात-दिन धन-वैभव के संग्रह हेतु प्रयत्नशील रहता है । धन-प्राप्ति तथा संग्रह की तीव्र लालसा में न्याय और नीति को भूल जाता है और अन्याय और अनीति का गुलाम बन जाता है ।

प्रथम धन की प्राप्ति के लिए अपूर्व पुरुषार्थ, धन-प्राप्ति के बाद उसके संरक्षण की चिन्ता । प्राप्त धन को कोई लूट न ले.....कोई चोर चोरी न कर ले.....इत्यादि चिंताओं से वह सतत ग्रस्त रहता है और फिर उस धन को देखकर बारम्बार मोह पाता है । धन के समान ही उसका तीव्र मोह होता है-परिवार पर । कभी पत्नी के सुख-दुःख की चिन्ता.....तो कभी पुत्र-पुत्री के सुख-दुःख की चिन्ता ।

कुटुम्ब के ममत्व के बन्धन से जकड़ा हुआ होने के कारण वह सतत चिंतातुर रहता है । चिंता से ग्रस्त आत्मा को आत्म-चिन्तन के लिए अवकाश ही कहाँ रहता है ?

पूज्य उपाध्यायश्री विनयविजयजी महाराज अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे विनय ! तू जरा विचार कर । तूने तृण के अग्र भाग पर रहे जलबिंदु को तो देखा ही है न ! उस जलबिंदु का अस्तित्व कब तक ? पवन की एक लहर के साथ ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है । बस, इसी के समान तेरा जीवन है । जरा सोच । वैभव और विलास के रंग-राग में इतना मस्त क्यों बन रहा है ?

तेरा जीवन ही जब क्षणभंगुर है, तब तेरा यह परिश्रम किस बात के लिए ?

पचास-पचास वर्ष के दीर्घ परिश्रम के बाद एक व्यक्ति चार मंजिल के आधुनिक डिजाइनदार मकान का निर्माण करता है । नवीनतम फर्नीचर और रंगों से मकान को सुसज्जित करता है । परन्तु आश्चर्य ! उस मकान का वह भोग करे, उसके पहले तो वह इस संसार से चिर-विदाई ले लेता है ।

क्या फल हुआ इतने परिश्रम और पुरुषार्थ का ?

.....संग्रह और सर्जन बहुत किया किन्तु गए खाली हाथ ही ।

किसी कवि की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं–

हजारों ऐश के सामान, मूल्को के मालिक थे ।
सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे ।।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज प्रस्तुत श्लोक द्वारा जीवन की अनित्यता समझा रहे हैं । यदि मनुष्य, जीवन की इस अनित्यता को समझ ले तो वह

बहुत कुछ सावधान हो सकता है ।

मनुष्य-जीवन दुर्लभ है और प्राप्त जीवन क्षणभंगुर है । इस मनुष्य-जीवन के माध्यम से जीवात्मा आत्मकल्याण कर सकता है, परन्तु मोह से मूढ़ बनी आत्मा इस जीवन की क्षणिकता के साथ-साथ इसकी महत्ता को नहीं समझ पाती है । अतः कविवर **'मूढ़'** शब्द से अपनी आत्मा को सम्बोधित कर रहे हैं और जागृत बनने के लिए प्रेरणा कर रहे हैं ।

पश्य भङ्गुरमिदं विषयसुखसौहृदम्,
पश्यतामेव नश्यति सहासम् ।
एतदनुहरति संसाररुपं रया-
ज्वलज्जलदबालिका रुचिविलासम् ।।मूढ..... 13।।

अर्थ :- जरा देख ! विषयजन्य सुख के साथ तेरी मित्रता है, वह तो नाशवन्त है और वह तो देखते-देखते ही मजाक करते हुए नष्ट हो जाती है और यह संसार का स्वरूप तो बिजली की चमक का अनुसरण करने वाला है ।।13।।

विवेचन

इन्द्रियसुख विनश्वर है

अधिकांशतः दुनिया का आकर्षण इन्द्रियसुख को पाने के लिए है-

कान को चाहिए-सुमधुर कर्णप्रिय संगीत ।

आँख को चाहिए-मनोहर रुप-सौन्दर्य दर्शन ।

नाक को चाहिए-इत्र व सुगन्धित फूलों की खुशबू ।

जीभ को चाहिए-स्वादिष्ट व चटपटा भोजन ।

त्वचा को चाहिए-सुकोमल 'डनलप' की शय्या ।

सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने इष्ट-विषयों को पाने के लिए दौड़-धूप करती हैं । इष्ट-विषय की प्राप्ति के बाद उसके भोग-परिभोग में लीन हो जाती है ।

भगवान महावीर की वाणी है-

'खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा ।'

एक क्षण भर के लिए इन्द्रिय के विषय सुखदायी हैं, किन्तु उसके परिणामस्वरुप दीर्घकाल तक आत्मा को दुःख ही भोगना पड़ता है ।

इष्ट विषय के परिभोग में कण भर का सुख है, किन्तु उसके पीछे मण भर का दुःख है । प्रभु ने ठीक ही कहा है-

'खाणी अणत्थाण उ कामभोगा'

कामभोग आदि तो अनर्थों की खान हैं । जो आत्मा इन्द्रियों के विषयों की गुलाम बन जाती है, वह आत्मा कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकती है ।

जिस सुख में पराधीनता है, वह सुख कैसे कहला सकता है ?

जरा सोचें ! एक-एक इन्द्रिय के विषय की पराधीनता से भी उन पशु-पक्षियों की क्या हालत होती है ?

(1) स्पर्शनेन्द्रिय के सुख में पागल बना हाथी जीवन पर्यंत गुलामी भोगता है ।

(2) रसनेन्द्रिय में आसक्त बनी मछली मौत के घाट उतार दी जाती है ।

(3) घ्राणेन्द्रिय के विषय में आसक्त भ्रमर कमल के अन्दर ही बंद हो मृत्यु को प्राप्त होता है ।

(4) रुप के गुलाम उस पतंगे की परिस्थिति से तो आप कहाँ अपरिचित हो ? बेचारा अग्नि में स्वाहा हो जाता है ।

(5) और उस मधुर संगीत में आसक्त हिरण की हालत तो देखो । शिकारी के बाण से बिंध जाता है ।

जब एक-एक इन्द्रिय की पराधीनता का भी मौत व जीवनपर्यंत गुलामी का परिणाम हो सकता है, तो फिर जो मानव पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होगा, उसकी क्या हालत होगी ?

.....और जरा, कविवर की बात भी ध्यान से सुन लें, वे कहते हैं-

इन्द्रिय-विषय के सुख तो हाथ-ताली देते-देते नष्ट हो जाने वाले हैं । आषाढ़ी मेघ से जब आकाश घिरा हुआ होता है और उस समय जब मेघ घनघोर गर्जना करते हैं, उसी बीच कभी-कभी बिजली चमक उठती है । उस बिजली का प्रकाश अत्यन्त तेजस्वी होता है, परन्तु उसका अस्तित्व ?

ओह ! एक क्षण भर में ही वह गायब हो जाती है । बस, इन्द्रिय के विषय भी बिजली की चमक की भाँति क्षणविनश्वर जानने चाहिए ।

हन्त हतयौवनं पुच्छमिव शौवनम्,
कुटिलमति तदपि लघुदृष्टनष्टम् ।
तेन बत परवशाः परवशाहतधियः,
कटुकमिह किं न कलयन्ति कष्टम् ।।मूढ..... 14।।

अर्थ :- अरे ! यह यौवन तो कुत्ते की पूँछ के समान अत्यन्त टेढ़ा होते हुए भी शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है और जो उस यौवन का गुलाम बन गया, वह तो गुलाम की भाँति मन्द-बुद्धि वाला हो जाता है और ऐसा व्यक्ति किन-किन कटु फलों को प्राप्त नहीं करता है ? ।।14।।

विवेचन

युवावस्था अस्थायी है

यौवन का उन्माद कुछ और ही होता है । किशोरावस्था व बाल्यावस्था में यदि किसी को संसार की अनित्यता आदि का पाठ सिखाया जाय तो वह जल्दी स्वीकार कर लेगा, किन्तु यौवन के प्रांगण में डग रखने के बाद संसार की अनित्यता को समझाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।

यौवन तो वन से भी भयंकर है । वन में भूला व्यक्ति तो शायद घर पर सुरक्षित पहुँच भी सकता है, किन्तु यौवन में भूला व्यक्ति तो सदा के लिए भटक जाता है ।

यौवनावस्था मनुष्य को दीवाना बना देती है । यौवन में एक जोश होता है.....एक अहंकार की प्रतिध्वनि सुनाई देती है । जवानी स्वच्छन्द जीवन की ओर प्रेरणा करती है ।

अरे ! कवियों ने तो यौवन को **'काम'** (विषय-वासना) का मित्र कहा है । सामान्यतः यौवन में काम का साम्राज्य छाया हुआ रहता है ।

बचपन में धर्माभिमुख आत्मा भी यौवन में प्रवेश पाते ही विषयाभिमुख बन जाती है । इतिहास साक्षी है कि बाल्यवय में त्याग का पंथ स्वीकार करने वाली भी अनेक आत्माएँ यौवन में प्रवेश के बाद पुनः संसार-सुख के अभिमुख बन जाती हैं ।

यौवन का अपना अलग ही नशा होता है । अतः इस नशे की वास्तविकता को समझ लेना अनिवार्य है ।

भीषण वन को भी पार करने के लिए एक मार्गदर्शक की आवश्यकता रहती है, तो फिर इस यौवन के अति भयंकर वन में एकाकी गमन कैसे हो सकता है ? इस **'यौवन'** में यदि सन्मार्गदर्शक सद्गुरु का योग न मिले तो यह यौवन उन्मार्ग के गहन गर्त में आत्मा को डुबो देता है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. उपमा अलंकार के द्वारा यौवन की उन्मत्तता हमें समझा रहे हैं । जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ को सीधी करने के लिए कितना ही परिश्रम किया जाय, सब परिश्रम निरर्थक ही जाता है और वह पूँछ टेढ़ी की टेढ़ी रहती है । बस ! इसी प्रकार का यह यौवन का उन्माद है । इसमें कितना ही समझाया जाय, किन्तु इस वय में वासना से निवृत्ति के पुरुषार्थ के लिए जीवात्मा शीघ्र तैयार नहीं हो पाती है ।

परन्तु याद रहे, यह यौवनावस्था सर्वकाल रहने वाली नहीं है ।

दूज का चांद प्रतिदिन अपनी एक-एक कला से अधिक प्रकाशित होता जाता है और कुछ ही दिनों के बाद वह चन्द्रमा पूर्णिमा के दिन अपनी सोलह कलाओं से खिल उठता है और वह सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर देता है । परन्तु अफसोस ! उसका यह विकास मात्र अल्प समय के लिए ही होता है । दूसरे ही दिन से उसकी कलाएँ क्षीण होने लग जाती हैं और अमावस्या की रात्रि में तो उस बेचारे (?) की दशा कैसी हो जाती है, यह हमसे अज्ञात नहीं है । बस ! यही हालत है, इस यौवन की । चढ़ती जवानी में तो व्यक्ति पागल सा बन जाता है । वह किसी की नहीं सुनता है । सबके ऊपर अपनी हुकूमत स्थापित करना चाहता है । परन्तु इस यौवन की सोलह कलाएँ मात्र अल्प वर्षों के लिए ही हैं । फिर उसका पीछा करती है-वृद्धावस्था । बाल सफेद हो जाते हैं । आँखों का तेज घट जाता है । चेहरे में पीलापन आ जाता है । पैर लड़खड़ाने लगते हैं, हाथ धूजने लगते हैं । दाँत गिर पड़ते हैं । वाणी अस्पष्ट हो जाती है और फिर देखो उसकी हालत । बच्चों के लिए वह बूढ़ा, तमाशा बन जाता है । युवा के लिए तिरस्कार का पात्र बनता है । फिर न संतान से प्रेम मिलता है, न पत्नी से सहानुभूति ।

यौवन के कुकर्मों का तीव्र कटुफल वह साक्षात् अनुभव करता है ।

यदपि पिण्याकतामङ्गमिदमुपगतम्,
भुवनदुर्जयजरापीतसारम् ।
तदपि गतलज्जमुज्झति मनो नाङ्गिनाम्,
वितथमति कुथितमन्मथविकारम् ।।मूढ..... 15।।

अर्थ :- त्रिभुवन में जिसे कोई न जीत सके, ऐसी जरावस्था मनुष्य के शरीर के सार को पी जाती है और उसके शरीर को निःसार (सत्त्वहीन) बना देती है, फिर भी आश्चर्य है कि लज्जाहीन प्राणी काम के विकारों का त्याग नहीं करता है ।।15।।

विवेचन

आशा की गुलामी भयंकर है

यौवन का सूर्य ज्योंही अस्ताचल की ओर ढलने लगता है, त्योंही शरीर कृश होने लगता है । शरीर की कृशता के साथ सभी इन्द्रियाँ भी शिथिल होने लगती हैं और मनुष्य की देह जरा से ग्रस्त हो जाती है ।

'चार दिन की चांदनी फिर अंधेरी रात' कहावत के अनुसार यौवन की चमक भी कुछ ही दिनों की होती है । बुढ़ापा शरीर की शक्ति का शोषण कर देता है । हाथ-पैर अत्यन्त कमजोर हो जाते हैं ।

जरा से ग्रस्त व्यक्ति की न तो कोई सेवा करता है और न ही कोई उसके सामने देखता है । परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि जरा से जीर्ण देह वाले बूढ़े को भी कामवासना परेशान करती है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं,
दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं,
तदपि न मुञ्चति आशापिण्डम् ।।

अहो ! बूढ़े की भी क्या हालत है ! शरीर का प्रत्येक अंग कमजोर हो चुका है, सिर के बाल सफेद हो चुके हैं, दाँत गिर चुके हैं, मुँह से लार टपक रही है, लकड़ी के सहारे चल रहा है, फिर भी महान् आश्चर्य है कि वह अनगिनत आशाओं को नहीं छोड़ पाता है ।

खाने की, पीने की, भोगने की तथा ऐश-आराम की वासनाएँ उसे भी परेशान कर रही हैं । जीवन पर्यंत इन्द्रिय-सुखों के पीछे दौड़ा है, फिर भी उसे तृप्ति व संतोष नहीं है । नवीन फैशन की वस्तु को देखते ही उसे पाने के लिए लालायित हो उठता है ।

'जरा' का पूरे लोक पर साम्राज्य है, वह धनी से धनी व्यक्ति को भी परेशान करती है और व्यक्ति के देह के समस्त सत्त्व को एक साथ पी जाती है ।

फिर भी आश्चर्य है कि जरा से आक्रांत व्यक्ति भी काम की वासना से मुक्त नहीं हो पाता है ।

70-75 वर्ष की उम्र में भी पत्नी की मृत्यु के बाद पुनः लग्न करने वाले बूढ़े को हम क्या कहेंगे ? सचमुच, वासना की गुलामी अपने भान को भुलाती है ।

महाराजा शांतनु प्रौढ़वय में पहुँच गए थे, फिर भी नाविक कन्या सत्यवती को देखकर उसके रुप पर मोहित हो गए थे ।

अरे ! आजकल अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में 40-40 बार लग्न किए हुए स्त्री व पुरुष देखने को मिलते हैं । आखिर यह क्या है ? एक मात्र वासना की गुलामी ही न ?

सुखमनुत्तरसुरावधि यदतिमेदुरम्,
कालतस्तदपि कलयति विरामम् ।
कतरदितरत्तदा वस्तु सांसारिकम्,
स्थिरतरं भवति चिन्तय निकामम् ।।मूढ० 16।।

अर्थ :- अनुत्तर विमान तक के देवताओं को जो अत्यन्त सुख है, वह सुख भी काल-क्रम से समाप्त हो जाने वाला है । अतः अच्छी तरह से तू विचार कर ले कि इस संसार की वस्तुएँ कितने दिनों तक स्थिर रहने वाली हैं ? ।।16।।

विवेचन

दैविक सुख का भी अन्त है

हे मूढ़ आत्मन् ! संसार की अनित्यता का जरा विचार कर ।

शायद तू यह मानता होगा कि मनुष्य के भोग-सुख तो कदाचित् नष्ट हो सकते हैं, किन्तु दिव्य दैविक सुख में तो परम आनन्द है न ?

तेरे प्रश्न का जवाब हाजिर है-नहीं । देवलोक के सुखों में भी कोई माल नहीं है । हाँ ! मनुष्य की अपेक्षा देवताओं का आयुष्य अधिक लंबा है । वे पल्योपम और सागरोपम तक देव भव में रह सकते हैं । एक पल्योपम में असंख्य वर्ष व्यतीत हो जाते हैं । इस प्रकार उनका दीर्घायुष्य अवश्य है ।

हाँ, उनका शरीर भी वैक्रियिक होता है । वे अपना मनचाहा रुप बना सकते हैं । वे इच्छित स्थान पर आसानी से जा-आ सकते हैं । उनके पास अनेक लब्धियाँ होती हैं । उनके शरीर में किसी प्रकार का मल-मूत्र नहीं होता है । उनकी काया अत्यन्त तेजस्वी होती है । वृद्धावस्था की उन्हें परेशानी नहीं है । न उन्हें भोजन पकाने की आवश्यकता रहती है और न ही खाने की । इच्छामात्र से ही उनकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं । उनके पास अपरम्पार शक्ति भी होती है । परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी **पूज्य उपाध्याय जी म.** हमें समझा रहे हैं कि उन दिव्य सुखों के प्रति भी आकर्षित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनुत्तर देव विमान का भी सुख एक दिन तो समाप्त हो जाता है ।

देवलोक में सुख कितना ही क्यों न हो, परन्तु आखिर उस सुख के भोग-काल की मर्यादा है । उस मर्यादा के पूर्ण होते ही देव का भव पूर्ण हो जाता है और एक समृद्ध देव को भी गटर के समान मलिन गर्भाशय में अवतरित होना पड़ता है ।

अपने दीर्घ आयुष्य की समाप्ति के छह मास पूर्व जब देवता अपने आगामी भव को देखते हैं तब उनकी स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जाती है । वे अत्यन्त दु:खी हो जाते हैं, फूलों की शय्या भी उनके लिए अत्यन्त दु:खदायी बन जाती है ।

'मुझे यह सब दिव्य सुख छोड़कर जाना पड़ेगा' इसकी कल्पना से ही देवता भयातुर हो जाते हैं ।

जिस सुख का परिणाम दु:ख रुप है, उस सुख को सुख कैसे कह सकते हैं ? और वह भी तो अल्पकालीन है । आयुष्य की समाप्ति के साथ वह सुख भी छिन जाता है ।

जब देवों का सुख भी सुखदायी नहीं है तो वर्तमान संसार के नश्वर सुखों में पागल बनना, यह तो एकमात्र मूर्खता ही है । अतः संसार के इन सुखों की अनित्यता को समझकर उनसे सावधान बनने में ही बुद्धिमत्ता है ।

यैः समं क्रीडिता ये च भृशमीडिता,
यैः सहाकृष्महि प्रीतिवादम् ।
तान् जनान् वीक्ष्य बत भस्मभूयङ्गतान्,
निर्विशङ्काः स्म इति धिक् प्रमादम् ।।मूढ० 17।।

अर्थ :- जिनके साथ हमने क्रीड़ा की, जिनके साथ सेवा-पूजा की और जिनके साथ प्रेम भरी बातें कीं, उन लोगों को भस्मसात् होते देखते हुए भी हम निश्चिन्त होकर खड़े हैं, अहो ! हमारे इस प्रमाद को धिक्कार हो ।।17।।

विवेचन

संसार के सभी सुख नाशवंत हैं

पदार्थ, सुख तथा जीवन की अनित्यता के दर्शन कराकर **पूज्य उपाध्यायजी म.** अब हमें स्वजन की ममता-त्याग के लिए उनकी अनित्यता बतलाते हुए फरमाते हैं–

हे मूढ़ आत्मन् ! अपने स्वजन के मोह में तू इतना मुग्ध बना है, किन्तु जरा विचार कर । जिनके साथ तूने अपना बचपन बिताया, जिनके साथ तूने नाना प्रकार के खेल खेले, उन सब परम प्रिय दोस्तों को भी तूने श्मशान में राख होते हुए देखा, अनेक की शव-यात्रा में भी तू शामिल हुआ । अनेक की चिता में आग भी तूने अपने हाथों से प्रज्वलित की । उन सबके देह-विनाश का तूने प्रत्यक्ष अवलोकन किया ।

परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि तू अपनी ही मौत को भूल गया । अनेक को मरते हुए जरुर देखा, परन्तु उनकी मृत्यु के दर्शन से तुझे अपने जीवन की अनित्यता का भान नहीं हुआ, बल्कि अधिकाधिक विलासिता के गर्त में तू डूबता गया ।

बचपन के कई साथी मौत के मुँह में चले गए । अपने से ज्येष्ठ व पूज्य

व्यक्तियों को भी तूने मरते हुए देखा, परन्तु फिर भी तुझे इस संसार के प्रति लेश भी विरक्ति नहीं हुई ।

किसी की शव-यात्रा को तूने देखा तो यही सोचा कि **'बेचारा ! मर गया ।'** परन्तु उसकी मौत में तुझे जीवन की अनित्यता के दर्शन नहीं हुए और अपने जीवन को तो तू शाश्वत ही मानता रहा ।

महापुरुषों का फरमान है कि जीवन क्षणभंगुर है । दूसरे की मौत में अपनी मृत्यु के दर्शन करो । जीवन की इस अनित्यता को समझकर प्रमाद का त्याग करो, क्योंकि मनुष्य-जीवन का प्रत्येक क्षण अत्यन्त ही कीमती है । महान् पुण्य के उदय से यह जीवन मिला है, अतः इसे व्यर्थ ही मत खो दो ।

मनुष्य-जीवन के कीमती क्षणों को क्षणिक सुख के पीछे व्यतीत कर देना, एक प्रकार का पागलपन ही है ।

क्षणिक सुख की दौड़ में अनन्तकाल व्यतीत कर दिया, परन्तु कुछ भी सुख हाथ नहीं लगा ।

अतः अब स्व-जीवन की अनित्यता को समझने का प्रयास करो और आत्मा के भयंकर शत्रु प्रमाद को समाप्त कर डालो ।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

इन्सान खो के वक्त को पाता नहीं कभी ।
जो दम गुजर गया, वह फिर आता नहीं कभी ।।

अतः सावधान बन जायें । भविष्य अपने हाथों में नहीं है और जो काल बीत चुका है, वह पुनः हाथ लगने वाला नहीं है । मात्र वर्तमान ही अपने हाथों में है, अतः सावधान बन प्रमाद का त्याग कर आत्म-कल्याण के पथ में जागरुक बनो ।

असकृदुन्मिष्य निमिषन्ति सिन्धूर्मिव-
च्चेतनाचेतनाः सर्वभावाः ।
इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसङ्गमा-
स्तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः ।।मूढ० 18।।

अर्थ :- समुद्र में उठती लहर के समान चेतन और अचेतन पदार्थों के समस्त भाव एक बार उठते हैं और पुनः शान्त हो जाते हैं । स्वजन और धन का संगम तो इन्द्रजाल के समान है, उनमें तो मूढ़ स्वभाव वाले ही राग कर सकते हैं ।।18।।

विवेचन

संसार के संयोग नश्वर हैं

संसार के समस्त चेतन और अचेतन भावों की अनित्यता को बतलाते हुए **पूज्य उपाध्यायजी म.** फरमाते हैं कि अहो ! इस दुनिया में आकर्षण की वस्तु भी क्या है ? जिसे देखो, जिससे प्रेम करो अथवा जिसे प्रेम दो, वे सब वस्तुएँ तो क्षणविनाशी ही हैं । या तो हमें उन वस्तुओं को छोड़कर जाना पड़ता है, अथवा वे वस्तुएँ हमें छोड़कर चली जाती हैं ।

पंचसूत्रकार ने कहा है–

'संयोगो वियोगकारणम् ।'

संयोग वियोग का कारण है । जहाँ-जहाँ संयोग है, उसके ऊपर वियोग की नंगी तलवार लटक ही रही है ।

शुभ-इष्ट के संयोग का अनुराग ।

अशुभ-अनिष्ट के संयोग का द्वेष । यही तो संसार का मूल है ।

ठीक ही कहा है-

'संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरम्परा ।'

इष्टसंयोग की आसक्ति ने ही अपनी आत्मा को संसार में भटकाया है ।

उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं कि भाई ! जिन-जिन पदार्थों का तुझे आकर्षण है, जिनके बिना तुझे अपनी जिन्दगी शून्य सी लग रही है और जिनके प्रति तूँ अपना स्नेह प्रदर्शित कर रहा है, उन चेतन-अचेतन पदार्थों के स्वरुप का जरा तो विचार कर ।

समुद्र में कई बार तरंगें उठती हैं, परन्तु उन लहरियों का अस्तित्व कब तक ? क्षण भर में ही वे समाप्त हो जाती हैं। बस, चेतन-अचेतन पदार्थ की पर्यायों की स्थिति भी ऐसी ही है। वे भी क्षण भर अत्यन्त आकर्षक लगते हैं और कुछ ही समय बाद अत्यन्त तिरस्करणीय हो जाते हैं।

और अहो ! स्वजन और धन का संगम तो इन्द्रजाल के समान है। कोई व्यक्ति माया अथवा मंत्र-शक्ति से विविध रचनाएँ खड़ी कर देता है, परन्तु वे वास्तविक न होने से विश्वसनीय नहीं हैं।

अंबड़ श्रावक ने सुलसा के समकित की परीक्षा के लिए इन्द्रजाल से ब्रह्मा, विष्णु, महेश और 25वें तीर्थंकर का रुप किया था, फिर भी सुलसा अपने सम्यक्त्व से चलित नहीं हुई थी। सुलसा को उस इन्द्रजाल में लेश भी आकर्षण नहीं था, इसी प्रकार **पूज्य उपाध्यायजी म.** फरमाते हैं कि इस जगत् में कंचन-कामिनी, कुटुम्ब-परिवार का जो समागम हुआ है, वह तो इन्द्रजाल की भाँति क्षण-विनश्वर है, अतः उसमें मोहित होना तो मूढ़ता की ही निशानी है।

कवलयन्नविरतं जङ्गमाजङ्गमम्,
जगदहो नैव तृप्यति कृतान्तः।
मुखगतान् खादतस्तस्य करतलगतै-
र्न कथमुपलप्स्यतेऽस्माभिरन्तः ।।मूढ० 19।।

अर्थ :- त्रस और स्थावर जीवों से भरपूर इस जगत् को निरन्तर ग्रास करते हुए भी आश्चर्य है कि यह यमराज कभी तृप्त नहीं होता। मुख में रहे हुए कवल को खा रहा है तो उसकी हथेली पर रहे हुए अपना अन्त कैसे नहीं आएगा ? ।।19।।

विवेचन

मृत्यु का सतत भय

एक मोटा-ताजा और स्वस्थ व्यक्ति है। कुछ कारणवश उसे दो दिन से भोजन नहीं मिल पाया है। आज एक बड़े सेठ के घर से भोजन का

आमन्त्रण मिला है । भोजन के लिए वह आसन पर बैठ गया है । मिष्टान्न-पक्वान्न-नमकीन और साग-सब्जी से युक्त थाल भरकर उसके सामने लाया जाता है । उसे गहरी भूख लगी है । भोजन आते ही वह उस पर टूट पड़ने की तैयारी में है, अतः भोजन का थाल आते ही वह जल्दी-जल्दी खाने लगता है । मिष्टान्न से उसने अपने मुँह को भर लिया है और दूसरा कवल हाथ में लिए तैयार बैठा है ।

बस, इस रुपक के द्वारा **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** जीवन की अनित्यता समझा रहे हैं । वे प्रश्न करते हैं कि उस भूखे व्यक्ति के हाथ में रहे कवल का अस्तित्व कब तक ? इसका जवाब है-जब तक मुँह में रहा कवल गले से नीचे न उतर जाय तब तक । ज्योंही मुख में रहा कवल नीचे उतरा नहीं कि हाथ में रहा कवल मुँह में चला जायेगा ।

यही स्थिति है हमारे वर्तमान जीवन की ।

यह सम्पूर्ण जगत् त्रस-स्थावर जीवों से ठसाठस भरा हुआ है । यमराज प्रति समय जीवों को ग्रसित करता जा रहा है ।

भूखा व्यक्ति तो भोजन से तृप्त हो जाता है और क्षुधा-तृप्ति के बाद भोजन का त्याग कर देता है, परन्तु आश्चर्य है कि यह यमराज निरन्तर जीवों को ग्रास करते हुए भी सदा अतृप्त ही रहता है ।

ऐसे यमराज की हथेली पर अपना अस्तित्व है, अतः आप ही सोचिए कि हमारा अस्तित्व कितने समय तक रह सकता है ?

मुँह में डाले कवल के नीचे उतरते ही, जैसे हाथ में रहा नया कवल मुँह में डाल दिया जाता है, इसी प्रकार यमराज की हथेली पर रहे हमारा अस्तित्व भी अत्यन्त क्षण-भङ्गुर ही है । हम उस दुष्ट यमराज के हाथों में से कैसे छूट सकते हैं ?

वर्तमान न्यायतन्त्र में तो गुनहगार व्यक्ति भी बच सकता है और सजा से मुक्त हो सकता है, किन्तु यमराज का त्रिभुवन में एक छत्र साम्राज्य है, उसके जाल से मुक्त होना असम्भव ही है ।

जो कर्म से मुक्त बन चुके हैं उन मुक्तात्माओं पर ही यमराज का साम्राज्य नहीं है, बाकी तो सभी कर्मयुक्त आत्माएँ यमराज के आधीन ही हैं ।

अतः जीवन की इस अनित्यता को समझ, यमराज के चंगुल में से सदा के लिए मुक्त बन सके, ऐसे सिद्ध-पद की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने से ही यह जीवन सार्थक बन सकता है ।

नित्यमेकं चिदानन्दमयमात्मनो,
रुपमभिरुप्य सुखमनुभवेयम् ।
प्रशमरसनवसुधापानविनयोत्सवो,
भवतु सततं सतामिह भवेऽयम् ।।मूढ० 20।।

अर्थ :- आत्मा के चिदानन्दमय स्वरुप को जानकर नित्य उस सुख का अनुभव करो । इस भव में प्रशमरस रुपी नवीन अमृत के पानरुप उत्सव सज्जन पुरुषों के लिए हमेशा होवें ।।20।।

विवेचन

आत्मा की अमरता

संसार अनित्य है, संसार के पदार्थ अनित्य हैं । जीवन अनित्य है, वैभव-विलास अनित्य हैं । भोग-सुख अनित्य हैं । इस संसार के समस्त बाह्य पदार्थ अनित्य हैं । अतः प्रश्न खड़ा होता है कि सब कुछ अनित्य है तो क्या किया जाय ?

इसका जवाब **पूज्य उपाध्यायजी म.** देते हैं कि इस संसार के सभी पदार्थ क्षणविनाशी होते हुए भी आत्मा नित्य है । वह ज्ञानमय है, वह अक्षय सुख का भण्डार है । उस सुख का कितना ही भोग किया जाय, वह कभी क्षय होने वाला नहीं है ।

आत्मा सच्चिदानंद है ।

आत्मा का अस्तित्व शाश्वत है ।

आत्मा का ज्ञान शाश्वत है ।

आत्मा का आनन्द शाश्वत है ।

अतः आत्मा के स्वरुप-सागर में जो डूब गया, उसने अक्षय-सुख को प्राप्त कर लिया ।

संसार में दु:ख तभी तक हैं, जब तक आत्मस्वरुप में मग्न न बने हैं। आत्मस्वरुप में जो मग्न बन गया, उसे दु:ख का लेश भी स्पर्श नहीं हो पाता है। वह इस खारे समुद्र में भी शृंगी मत्स्य की भाँति मधुर जल रुप आत्म-सुख का स्वाद लेता रहता है।

कमल कीचड़ व सरोवर में पैदा होता है, परन्तु उससे सर्वथा अलिप्त रहता है। इसी प्रकार से जो व्यक्ति आत्मस्वरुप में डूब गया है, वह संसार-कीचड़ में रहते हुए भी उससे सर्वथा अलिप्त रहता है।

उसे पुत्र की मृत्यु नहीं रुला सकती। उसे शारीरिक पीड़ा दु:खी नहीं कर सकती। उसे धन का वियोग संतप्त नहीं कर सकता।

आत्मा की मस्ती कुछ न्यारी ही है। जिसने आत्मा के चिदानन्द स्वरुप का आस्वादन कर लिया, उसे चक्रवर्ती के सुख भी तुच्छ से प्रतीत होते हैं। उसे भोग-सुख भी दु:ख रुप ही लगते हैं।

यहाँ पर **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** शुभ-भावना अभिव्यक्त करते हैं-

''इस संसार में सज्जन पुरुषों के लिए सदैव प्रशमरस के अमृतपान का महोत्सव हो।'' अर्थात्-सज्जन पुरुष सदा प्रशम भावना में लीन रहें।

2 अशरण भावना

ये षट्खण्डमहीमहीनतरसा, निर्जित्य बभ्राजिरे,
ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुराः ।
तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमाना हठा-
दत्राणाः शरणाय हा दशदिशः प्रेक्षन्त दीनाननाः ।।21।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- अपने असाधारण बल से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर जो सुशोभित थे, जो स्वर्ग को भोगने वाले थे, जो अपनी भुजाओं के बल से मदोन्मत्त बने हुए थे और आनन्द की लहरियों में मस्त बने हुए थे, वे जब अत्यन्त क्रूर यमराज द्वारा अपने दाँतों से नष्ट कर दिए गए, तब भी वे अशरणभूत, दीन मुख वाले शरण के लिए दशों दिशाओं में देखते हैं ।।21।।

विवेचन

अशरण्य संसार

ग्रन्थकार महर्षि अशरण भावना की प्रस्तावना करते हुए फरमाते हैं कि इस विराट् संसार में आत्मा के लिए शरण्यभूत एक भी स्थान नहीं है । जीवात्मा को जब थोड़ी सी समृद्धि प्राप्त हो जाती है, कुछ प्रसिद्धि हो जाती है और कुछ वैभव की प्राप्ति हो जाती है, तब वह उसमें इतना लीन बन जाता है कि अपनी मृत्यु तक को भी भूल जाता है । उसे पता नहीं कि जिस वैभव के संग्रह के लिए खून का पसीना बहाया है, वह मृत्यु के समय उसे तनिक भी साथ देने वाला नहीं है । एक रुपक याद आ रहा है-

- एक अत्यन्त समृद्ध और सुसम्पन्न सेठ था । वैभव-विलास के साधनों की उसे कोई कमी नहीं थी । उसकी तिजोरी में अनेक हीरे, मोती, माणक, रत्न व जवाहरात थे । उसके एक ही पुत्र था, जो अत्यन्त ही आज्ञांकित था । पत्नी अत्यन्त रुपवती और सुशीला थी । सेठजी के पास विशाल बंगला था । सेवा-शुश्रूषा के लिए काफी नौकर वर्ग भी था ।

एक दिन सेठ ने सोचा-``मेरा इतना बड़ा परिवार है, मेरे पास काफी समृद्धि भी है, किन्तु एक दिन तो मुझे यहाँ से विदाई लेनी ही पड़ेगी, अतः इनकी जरा परीक्षा तो कर लूँ कि इनमें से कौन-कौन मेरे साथ चलेगा ?''

सेठ पहुँच गए अपनी तिजोरी के पास। तिजोरी में सैकड़ों रुपये थे, हीरे थे, मोती थे, माणक थे और स्वर्ण के जेवर भी थे।

सेठ ने कहा-``बोलो, कुछ ही दिनों के बाद मैं यहाँ से चिर विदाई ले लूंगा, तब तुममें से मेरे साथ कौन-कौन कहाँ तक चलेगा ?''

हीरे-मोती-माणक आदि सभी ने मिलकर एक ही आवाज में कहा-``सेठजी ! आप इस बात के लिए आए हैं क्या ? तो छोड़िये इस बात को। हमें इस बात से कुछ लेना-देना नहीं है।''

सेठजी तो यह सुनकर भौचक रह गए और सोचने लगे- ``अहो ! जिनके लिए जीवन भर का परिश्रम उठाया उसका यह परिणाम ?''

सेठजी ने नम्र स्वर से कहा-``भाई ! ऐसी बात क्यों करते हो ? ऐसा अन्याय ? मैंने तो तुम्हारे लिए झूठ बोला, चोरी की। सभी प्रकार का पापाचरण किया, यहाँ तक कि मैंने अपने शरीर की भी परवाह नहीं की। खाया-न-खाया, बे-समय खाया और सतत तुम्हारी चिन्ता में जलता रहा, फिर भी तुम्हारी ओर से यह परिणाम ?''

सेठजी की यह बात सुनकर सभी का गुस्सा दुगुना हो गया, सभी एक ही गर्जना से बोल उठे-``सेठजी ! बन्द करो बकवास। आपको कल जाना हो तो आज चले जाएँ, हम तो अपने स्थान से एक इंच भर भी हटने वाले नहीं हैं और ज्यादा बकवास रहने दो। आपको जलाने की लकड़ियाँ भी हम ही लायेंगे।''

यह सुनकर सेठजी निराश हो गए। फिर पहुँचे अपनी प्रिया के पास। बोले-``प्रिये ! मैंने जीवन भर तेरे लिए बहुत कुछ किया है। तेरी हर इच्छा की पूर्ति की है और तेरे मनोरथ को पूर्ण करने के लिए न मालूम मैंने कितने पाप किए हैं। स्वर्ण के आभूषण बनवाने के लिए मैंने कई लोगों को ठगा है.....मैंने अपने शरीर को आभूषणों से सज्जित नहीं किया और सभी आभूषण तुझे ही सौंपे है।''

पत्नी बीच में ही बोल उठी-``स्वामिन् ! आखिर यह सब कहने के पीछे आपका आशय क्या है ?''

सेठजी ने कहा-``बात ऐसी है कि अब मैं थोड़े ही समय बाद इस संसार से चिर-विदाई लेने वाला हूँ, अतः बोल, तू मेरे साथ कहाँ तक चलेगी ?''

सुनते ही पत्नी बोल उठी-``ऐसी कुबात मत कीजिए..... ।''

सेठजी ने कहा-``इसमें कुबात कैसी ? तू बता तो सही..... ।''

पत्नी ने कहा-``आखिर साथ चलने में आप मेरी आशा क्यों रखते हैं ? मैं तो इस हवेली के द्वार तक भी नहीं आ सकूंगी.....और अफसोस ! सबसे पहले घर के कोने में भी मुझे ही बैठना पड़ेगा ।''

सुनते ही सेठजी हताश हो गए । सोचने लगे-``अहो ! जो अर्द्धांगिनी कहलाती है, वह घर के द्वार तक भी.....नहीं ।''

अब सेठजी पहुँचे अपने युवान पुत्र के पास । सेठजी का पुत्र प्रवीण अत्यन्त ही विनीत था । पिता के निकट आगमन के साथ ही वह अपने आसन से खड़ा हो गया । प्रवीण ने पिता को नमस्कार किया और बोला-``पिताजी ! आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों उठाया ? मुझे ही बुला लेते.....।''

सेठजी ने कहा-``बेटा ! इसमें कोई कष्ट की बात नहीं है.....ऐसे ही मैं आ गया ।''

बेटे ने कहा-``मेरे योग्य सेवा-कार्य ?''

सेठजी ने कहा-``बेटा ! एक बात तुझे पूछने आया हूँ । मैं इस संसार में थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ, कुछ ही दिनों के बाद यहाँ से चिर-विदाई ले लूंगा.....तब तू मेरे साथ कहाँ तक चलेगा ?''

बेटे ने कहा-``पिताजी ! आप विज्ञ हैं । आप यह कैसी बात करते हैं ? आज तक कौन किसके साथ चला है ?''

सेठजी ने कहा-``बेटा ! यह कैसी बात करता है । मैंने तेरे लिए क्या नहीं किया ? तेरी शिक्षा के लिए मैंने कितना श्रम उठाया ? मेरे धन का मालिक भी तू बनेगा.....फिर भी इस उपकार का यह परिणाम ?''

बेटे ने नम्रता से कहा-``पिताजी ! आपने मुझ पर महान् उपकार किया है, परन्तु अधिक-से-अधिक मैं आपके साथ श्मशान तक आ

सकूंगा.....इससे अधिक तो नहीं । कदाचित् मैं यहाँ उपस्थित नहीं रहा, तो भी प्रथम टेलीफोन मुझे ही होने वाला है । दूर शहर से भी आकर आपकी श्मशान-यात्रा में शामिल होऊंगा और अन्त में आपकी चिता में सर्वप्रथम अग्नि-प्रज्वलित करने का आदेश भी मुझे ही मिलेगा ।''

सुनते ही सेठजी को दिन में तारे दिखने लग गए । सोचने लगे- ``अहो ! जिसके लिए जीवन भर मेहनत की.....वही मेरी देह में आग लगाएगा.....ओह ! धिक्कार है, इस संसार को..... यहाँ कोई भी मेरा साथी नहीं ।''

अन्त में, चौबीस घंटे जिसकी सेवा की जाती है, उस काया से भी सेठजी ने प्रश्न किया-``बोल ! तू मेरे साथ कहाँ तक ?''

काया ने कहा-``बस करो । मैं तो अधिक से अधिक चिता तक आपके साथ आऊंगी, उससे आगे नहीं ।''

सेठजी अत्यन्त निराश हो गए और उन्हें संसार की अशरणता का भान हो गया ।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्टे भार्या गृहद्वारि जनःश्मसाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

यही हालत है इस संसार में प्राणियों की ।

चक्रवर्ती छह खण्ड के विशाल साम्राज्य को प्राप्त कर उसमें लीन बन जाता है, भोग-विलास में वह डूब जाता है । 64000 स्त्रियों का वह स्वामी होता है, अनेक मुकुटबद्ध राजा उसके चरणों में नित्य नमस्कार करते हैं । वैभव-विलास की उसे कोई कमी नहीं होती और उस समृद्धि में वह अपने आपको त्रिभुवन का अधिपति मान बैठता है ।

परन्तु एक दिन मृत्यु आकर उसका गला दबोच लेती है और उसकी हालत मरियल कुतिया की भाँति हो जाती है । उसके शरीर का तेज समाप्त हो जाता है और वह अशरण्य बना हुआ चारों ओर शरण की शोध करता है । यह तो हुई चक्रवर्ती की बात । मृत्यु के समय स्वर्ग के सुखों को भोगने वाले देवों की दुर्दशा भी कुछ कम नहीं होती है । छह मास के पूर्व उनके अपने आगामी जन्म का बन्ध हो जाता है और ज्योंही मृत्यु निकट आती हुई दिखाई

देती है-उनके होश-हवास उड़ जाते हैं, दिव्य सुख भी उन्हें तृणवत् लगते हैं, दिव्य अप्सराओं के संग में अब उन्हें आनन्द नहीं आता है अर्थात् मृत्यु के निकट आते ही देवों की स्थिति भी दयनीय बन जाती है ।

अपनी बुद्धि के बल से धन-वैभव को पाकर अभिमान करने वाले, बलिष्ठ शरीर को धारण करने वाले और अपनी बुद्धिमत्ता से अच्छे-अच्छे को मात देने वाले पुरुषों को भी जब मौत दिखाई देती है, तब वे भी हताश हो जाते हैं और चारों ओर मृत्यु से बचने के लिए डॉक्टर-वैद्य आदि को बुलाने के लिए भागदौड़ कराते हैं, किन्तु कोई भी उन्हें मृत्यु से बचा नहीं पाता है ।

तावदेव मदविभ्रममाली, तावदेव गुणगौरवशाली ।
यावदक्षमकृतान्तकटाक्षै-र्नेक्षितो विशरणो नरकीटः ।।22।।

(स्वागतावृत्तम्)

अर्थ :- जब तक शरण रहित मनुष्य रुपी कीटक, भयंकर यमराज की दृष्टि में नहीं आता है, तभी तक वह जाति आदि मद के भ्रम में घूमता रहता है और गुण के गौरव में खुश रहता है ।।22।।

विवेचन

मृत्यु अवश्यम्भावी है

गत जन्मों के पुण्य के उदय से उत्तम जाति, उत्तम कुल और समृद्ध परिवार में जन्म हो गया, तो भी यह बुद्धिमान् मानव अभिमान के शिखर पर चढ़ जाता है और घमण्ड करने लगता है कि **''हम तो ऊँचे कुल वाले हैं, हमारी जाति तुमसे ऊँची है, तुम तो हीन हो, दूर हटो, यहाँ से ।''**

कुछ लक्ष्मी मिल गई तो मानों त्रिभुवन का साम्राज्य मिल गया हो, इस प्रकार गर्व करने लगता है और गरीब व दीन की घोर उपेक्षा ही करता है । कामदेव के समान सुन्दर, आकर्षक रुप मिल गया, तो अभिमान करेगा । दूसरों की अपेक्षा कुछ विशेष तप कर लिया तो उसका भी अभिमान.....। अरे ! जो ज्ञान अभिमान से दूर रहने की शिक्षा देता है, उसे प्राप्त कर भी मनुष्य अभिमानी बन जाता है । **'मेरे जैसा बुद्धिमान् कोई नहीं, मैं सब कुछ जानता हूँ, मेरी सलाह के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता'** इत्यादि-इत्यादि अभिमान करता रहता है ।

मानव की यह कैसी दुर्दशा है, वह किसी वैभव को पचा नहीं पाता है-

धन मिल गया-धन का अभिमान ।

रुप मिल गया-रुप का अभिमान ।

बल मिला तो बल का अभिमान ।

ज्ञान मिला तो ज्ञान का अभिमान ।

ओह ! वह भूल जाता है कवि की इन पंक्तियों को-

चुन-चुन कंकड़ महल बनाया,
आप ही जाकर जंगल सोया ।
इस तन धन की कौन बड़ाई,
देखत नयनों में मिट्टी मिलाई ।।

लेकिन समृद्धि के शिखर पर आरुढ़ मानव यह भूल जाता है कि-

मोह से तेरा कमाया धन यहीं रह जाएगा ।
प्रेम से अति पुष्ट किया तन जलाया जाएगा ।।

मानव अभिमान के शिखर पर तभी तक अलमस्त रहता है, जब तक कृतान्त-यमराज की नजर में वह नहीं आता है । यमराज की नजर में आते ही उसके होश-हवास उड़ जाते हैं और वह अत्यन्त दीन बन जाता है ।

जन्म के साथ ही मृत्यु जुड़ी हुई है । उस मृत्यु के आगमन के साथ ही नरकीट की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन जाती है ।

प्रतापैर्व्यापन्नं गलितमथ तेजोभिरुदितै-
र्गतं धैर्योद्योगैः श्लथितमथ पुष्टेन वपुषा ।
प्रवृत्तं तद्द्रव्यग्रहणविषये बान्धवजनै-
र्जने कीनाशेन प्रसभमुपनीते निजवशम् ।।23।।

(शिखरिणी)

अर्थ :- यमराज जब किसी प्राणी को अपने फन्दे में फँसा देता है, तब उसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है, उसका तेज गलने लगता है, धैर्य और पुरुषार्थ समाप्त हो जाते हैं, उसका पुष्ट शरीर भी शीर्ण हो जाता है और बन्धुजन भी उसके धन को अपने कब्जे में करने लग जाते हैं ।।23।।

विवेचन

मृत्यु का सिरदर्द सबसे भयंकर है

किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

न गाती है, न गुनगुनाती है ।

मौत जब आती है, चुपके से चली आती है ।।

वास्तव में, मौत निश्चित होते हुए भी वह अनिश्चित है । आएगी जरुर, किन्तु कब आएगी ? इसका पता नहीं ।

मौत को अपनी आँखों के सामने देखते ही बलिष्ठ व्यक्ति भी अपने आपको कमजोर महसूस करता है । इसी संदर्भ में एक घटना है–

- अपने सिर पर उग आए सफेद बाल को जानते ही वे महाराजा संसार से विरक्त बन जाते हैं, परन्तु कुछ परिस्थितियों से बाध्य होने के कारण वे संसार का परित्याग नहीं कर पाते हैं; लेकिन उनका मन संसार से विरक्त बन चुका है । वे शाही भोजन भी करते हैं किन्तु उसमें उनको अब रस नहीं । वे शाही वेश-भूषा भी पहनते हैं, किन्तु उसमें कोई आसक्ति नहीं । वे महारानियों के साथ उद्यान-क्रीड़ा भी करते हैं, किन्तु उनमें मन का आकर्षण नहीं ।

चारों ओर नगर में यह बात फैल जाती है कि महाराजा संसार से विरक्त बन चुके हैं और किसी भी सानुकूल पल के आते ही वे संसार से महाभिनिष्क्रमण करेंगे ।

एक दिन दूर देश से एक पथिक उस नगर में आता है और नगरजनों से महाराजा की विरक्ति के सन्दर्भ में बहुत कुछ प्रशंसा सुनता है । उस पथिक ने राजसभा में जाने का और महाराजा के विरक्त-जीवन के दर्शन करने का निर्णय किया । ठीक समय पर वह राजसभा में पहुँच गया । उसने महाराजा को शाही वेश-भूषा में देखा । आभूषणों से अलंकृत महाराजा के चेहरे को देख सोचने लगा-``इतने वैभव-विलास के साथ, महाराजा विरक्त कैसे हो सकते हैं ?''

संध्या समय उसने महाराजा को महारानियों के साथ घूमते हुए भी देखा । उसने सोचा-``महाराजा के वैराग्य की बात मात्र ढोंग-ढकोसला ही है । अतः महाराजा से साक्षात् मुलाकात कर इस प्रश्न का समाधान करुंगा ।''

दूसरे दिन राजसभा के पूर्व ही वह महाराजा के पास पहुँच गया । महाराजा को नमस्कार आदि औचित्य व्यवहार कर बोला-``स्वामिन् ! एक बात पूछने के लिए आपके सामने उपस्थित हुआ हूँ । आप नाराज तो नहीं.....होंगे ? आपकी आ.....ज्ञा हो.....तो ?''

महाराजा ने कहा-``घबराओ मत । जो कुछ पूछना हो निस्संकोच पूछो ।''

पथिक ने कहा-``राजन् ! सम्पूर्ण नगर में यह बात प्रचलित है कि आप इस संसार से विरक्त बन चुके हैं । परन्तु राज-सभा आदि में मैंने आपके साक्षात् दर्शन किए, किन्तु आपके बाह्य आचरण में तो मुझे किसी प्रकार के वैराग्य की झाँकी नहीं दिख पाई, अतः मेरा यह प्रश्न है कि इस भोग-विलास के साथ आप विरक्त कैसे.....?''

महाराजा ने कहा-``तुम्हारे इस प्रश्न का जवाब मैं पाँच दिन बाद दूंगा, तब तक तुम्हें राजमहल के बाह्य-खण्ड में ही ठहरना होगा ।''

आगन्तुक ने सोचा-``अहो ! अच्छा हुआ, विश्रांति के लिए राजमहल का खण्ड भी मिल गया ।''

राजा ने कहा-``पाँच दिन तक आपको मेरे राजमहल में ही भोजन करना होगा ।''

पथिक ने सम्मति दे दी ।

पथिक को बाह्यखण्ड में आवास के लिए स्थान दे दिया गया ।

ज्योंही भोजन का समय हुआ, राजा की ओर से एक कर्मचारी, पथिक को भोजन के लिए आमन्त्रण देने हेतु जा पहुँचा ।

इस प्रकार के आमंत्रण से पथिक मन-ही-मन खुश हो उठा । तुरन्त ही सुन्दर वेश-भूषा पहनकर राजभवन के भोजन खण्ड की ओर आगे बढ़ा ।

राजभवन में प्रवेश के साथ ही राजा की आज्ञा से एक कर्मचारी उसके पाद-प्रक्षालन के लिए तैयार था । पाद-प्रक्षालन के बाद वह भोजनखण्ड में जा पहुँचा ।

भोजनखण्ड की शोभा कुछ निराली ही थी । ऋतु भी अनुकूल थी । ऊँचे आसन पर वह बैठा, तत्काल चांदी के थाल में पाँच पकवान व विविध खाद्य पदार्थ लाए गए और उसके सामने धर दिए गए ।

उसने भोजन करना प्रारम्भ किया । मन में उसके आनन्द की सीमा नहीं थी । अत्यन्त उल्लसित हृदय से वह भोजन का आस्वाद ले रहा था ।

भोजन के बीच वह कभी महाराजा की प्रशंसा करता, तो कभी भोजन के निर्माता रसोइयों की ।

भोजन के बाद **'आराम-गृह'** में आराम के लिए सुसज्जित शय्या तैयार थी । भरपेट भोजन के बाद उसने आराम-गृह में प्रवेश किया और घंटे भर तक आराम किया । राजा की ओर से राजमहल के प्रत्येक खण्ड में उसे जाने-आने की छूट थी । राजमहल की विविध कलाकृतियों से उसका मन मयूर नाच उठता था । राजमहल के उद्यान में वह स्वर्गीय-सुख की कल्पना करता था ।

इस प्रकार आनन्द-कल्लोल में चार दिन व्यतीत हो गए । पाँचवें दिन दोपहर को राजा से उत्तर की आशा थी ।

पाँचवें दिन राजा ने उसके शाही स्वागत व शाही भोजन की व्यवस्था कर दी । किन्तु भोजन समय के पूर्व राजा ने एक मंत्री के द्वारा उसे एक सन्देश पहुँचाया कि कल के किसी अपराध के कारण आज संध्या समय तुम्हें फाँसी के तख्ते पर लटका दिया जाएगा । फाँसी-मृत्यु की बात सुनते ही उसके होश उड़ गए । उसी समय चार कर्मचारी उसे भोजन का आमंत्रण देने आ पहुँचे ।

पथिक का मन फाँसी की सजा सुनते ही उद्विग्न बन चुका था, अतः आज उसे भोजन के आमंत्रण में कोई प्रसन्नता नहीं थी ।

बे-मन उसने राजभवन में प्रवेश किया । प्रवेश द्वार पर दूध से उसके पाद-प्रक्षालन के लिए नौकर तैयार खड़ा था ।

आज महाराजा की ओर से दूध से उसका पाद-प्रक्षालन किया गया, परन्तु आज का यह दूध से प्रक्षालन आग से भी अधिक गर्म लग रहा था । पाद-प्रक्षालन के बाद भी उसके चेहरे पर कोई प्रसन्नता नहीं थी । उदासीनता ने उसके चेहरे को घेर लिया था ।

वह धीरे-धीरे चल रहा था, किंतु उसके पैर पीछे हटने की कोशिश में थे ।

थोड़ी ही देर में वह भोजनखण्ड में जा पहुँचा ।

पथिक के भोजन की आज विशेष तैयारियाँ थीं । विविध जाति के पकवान-मिष्टान्न-साग-सब्जी, नमकीन आदि बनाए गए थे ।

सोने के थाल में उसे भोजन परोसा गया । महारानी स्वयं उसके एक ओर पंखा झलने लगी । मंत्रीश्वर स्वयं भोजन की परोसकारी करने लगे ।

किन्तु आज उसके भोजन का रंग उड़ चुका था । न मिष्टान्न में उसे आनन्द था.....न नमकीन में ।

न उसे गुलाबजामुन के स्वाद का पता था और न ही दहीबड़े का । कुछ खाया.....न खाया और वह उठ गया । उसका दिमाग चक्कर खा रहा था । आँखों के सामने मृत्यु झूम रही थी । कोई आनन्द नहीं ।

भोजन के बाद वह आरामखण्ड में गया किन्तु आज आराम हराम बन चुका था, बिस्तर पर लेटा रहा, किन्तु नींद का नाम नहीं ।

आखिर दोपहर का समय हुआ और महाराजा ने उसके आरामखण्ड में प्रवेश किया ।

तुरन्त ही महाराजा ने कहा-``क्यों ? आनन्द में हो न ? भोजन कैसा रहा ? कौनसा मिष्टान्न सबसे अधिक प्रिय रहा ?''

महाराजा के एक भी प्रश्न का जवाब उसके पास नहीं था । वह मौन खड़ा था.....चेहरे पर उसके उदासीनता थी ।

राजा ने कहा-``बात क्या है ? क्या सिरदर्द है ?''

पथिक ने कहा-``सिरदर्द से भी भयंकर दर्द है और वह है मृत्यु का । जब से आपने मेरे किसी अपराध के कारण फाँसी के समाचार भिजवाए, तब से आनन्द हराम हो चुका है । कुछ भी नहीं सूझ रहा है ।

राजा ने कहा-``क्या कह रहे हो ? मैंने तो कोई फाँसी के समाचार नहीं भेजे हैं ।''

राजा की यह बात सुनते ही पथिक को कुछ राहत मिली ।

राजा ने पूछा-``तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मिल गया न ?''

पथिक ने कहा-``स्वामिन् ! मैं नहीं समझ सका हूँ, क्या कहूँ, मैं तो अपना प्रश्न ही भूल गया ?''

राजा ने कहा-``तुमने यह प्रश्न किया था कि इस वैभव-विलास के बीच मैं कैसे विरक्त रहता हूँ ।''

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए राजा ने कहा-``मृत्यु के समाचार सुनने के बाद तुम पर क्या प्रतिक्रिया हुई ? क्या तुम्हें भोजन के स्वाद का पता चला ? क्या शाही स्वागत ने तुम्हें आनन्द दिया ?''

उसने कहा-``नहीं ।''

राजा ने कहा-``बस ! अपनी आँख के सामने मृत्यु को देखते ही तुम्हारे सब आनन्द समाप्त हो गए और तुम्हें उनमें कोई आसक्ति नहीं रही, इसी प्रकार मैं भी मृत्यु को अपनी आँखों के सामने सतत रखता हूँ, अतः बाहर से वैभव-विलास को भोगते हुए भी मृत्यु के भय के कारण मुझे कोई आनन्द नहीं आता है ।

पथिक की शंका का समाधान हो गया । **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** यही फरमाते हैं कि मृत्यु के आगमन के साथ मानव का प्रताप समाप्त हो जाता है । उसका तेज उड़ जाता है । उसको मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं होता है । बन्धुजन भी मात्र नाम का आश्वासन देते हैं और वे भी धन-सम्पत्ति बाँटने में लग जाते हैं ।

द्वितीयभावनाष्टकम्-गीतम्

(राग-मारुणी)

स्वजनजनो बहुधा हितकामं, प्रीतिरसैरभिरामम् ।
मरणदशावशमुपगतवन्तम् रक्षति कोऽपि न सन्तम् ।
विनय विधीयतां रे, श्रीजिनधर्मशरणम् ।
अनुसन्धीयतां रे, शुचितरचरण-स्मरणम् ।।विनय० 24।।

(ध्रुवपदम्)

अर्थ :- स्वजन वर्ग अनेक प्रकार से हित की इच्छा करने वाला हो और प्रेम के रस में डुबो देने वाला हो, फिर भी जब व्यक्ति मरणदशा के अधीन होता है, तब कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता है । अतः हे विनय ! तू जिनधर्म की शरण स्वीकार कर और अत्यन्त पवित्र चारित्र के साथ अपना अनुसन्धान कर ।।24।।

विवेचन

एक मात्र शरण्य जिनधर्म

इस संसार में माँ के हृदय में पुत्र के प्रति, पत्नी के हृदय में पति के प्रति तथा बहिन के हृदय में भाई के प्रति प्रेम देखने को मिलता है, परन्तु वह सब प्रेम स्वार्थजन्य ही होता है । स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही सभी एक दूसरे को प्रेम देते हैं और ज्योंही स्वार्थ सिद्ध हो जाता है, उस व्यक्ति का मुँह भी नहीं देखते हैं । इसी सन्दर्भ में एक घटना याद आती है ।

- किसी नगर में एक सेठ रहता था, सेठ अत्यन्त ही समृद्ध और प्रतिष्ठित था । सेठ के दो पुत्रियाँ और एक पुत्र कुल तीन सन्तानें थीं । पुत्र का नाम **'अमर'** था । अमर यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ ही था कि पिता ने एक सुन्दर रुपवती श्रेष्ठि-कन्या के साथ उसका विवाह करवा दिया । सेठ व सेठानी का अपने इकलौते पुत्र के प्रति अपार स्नेह था, वे उसके विरह को सहन नहीं कर पाते थे ।

एक दिन अमर भ्रमण के लिए नगर के बाहर निकल पड़ता है । अचानक एक महान् महात्मा के साथ उसकी भेंट हो जाती है । महात्माजी के चरणों में वह नमस्कार करता है, महात्मा उसे आशीर्वाद देते हैं । कुछ परिचय के बाद महात्मा उसे संसार की असारता व स्वार्थान्धता समझाते हैं । **'संसार में प्रेम झूठा और स्वार्थजन्य है ।'** इस प्रकार के महात्मा के वचनों को वह सुन तो लेता है, किन्तु मन विश्वास करने के लिए तैयार नहीं होता ।

वह कहता है-``महात्माजी ! आप ये कैसी बातें करते हैं । मेरी माता और मेरे पिता को तो मुझ पर अपार प्रीति है । वे क्षण भर भी मेरे विरह को सहन नहीं कर पाते हैं । घर पहुँचने में कुछ देरी हो जाय तो वे चिंतातुर हो जाते हैं और चारों ओर छानबीन करा देते हैं । अतः संसार में प्रेम नहीं है, यह बात मैं स्वीकार नहीं सकता ।

महात्मा ने कहा-``मेरी बात आज तू भले ही स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु कुछ समय बात तुझे सत्य की अनुभूति हो जाएगी । महात्मा ने आगे कहा-``कल पुनः मेरे पास आना ।''

दूसरे दिन पुनः अमर महात्मा के पास पहुँच गया । महात्मा उसे जंगल में ले गए और उसे एक विशाल वृक्ष दिखाते हुए बोले-``देखो ! इस वृक्ष के ऊपर कितने सारे पक्षी हैं ? सभी कल्लोल कर रहे हैं । पथिक भी आकर इसकी छाया में विश्राम करते हैं और इसके मूल में सिंचन करते हैं । यहाँ इतने जीव-जन्तुओं का आगमन है, इसका कारण समझे ?''

अमर ने कहा-``नहीं ।''

महात्मा अमर के साथ कुछ आगे बढ़े । सूखे, फल-फूल व पत्ते रहित एक वृक्ष के ठूंठ को बताते हुए बोले-``बोल अमर । इस वृक्ष के ऊपर एक भी पक्षी क्यों नहीं ? पथिक इसके नीचे विश्राम क्यों नहीं करते हैं ? कोई आकर इसका जल-सिंचन क्यों नहीं करता है ?''

अमर ने कहा-``यह तो स्पष्ट बात है, जहाँ छाया नहीं, फल नहीं, वहाँ कौन आएगा ?''

महात्मा ने कहा-``यही तो संसार की हालत है । जिस वृक्ष से कुछ पाने की आशा है, वहाँ सभी दौड़कर आते हैं और जहाँ पाने की आशा नहीं,

वहाँ एक पंखी भी पास नहीं फटकता है । संसार भी इसी का प्रतिबिम्ब है । जो समृद्ध है, जो कुछ देता है, वहाँ सभी दौड़ते हैं, जिसके पास देने को कुछ नहीं, उसके पास कोई नहीं आएगा, उससे कोई प्रेम नहीं करेगा ।''

अमर ने कहा-``आपकी बात कुछ अंश में सत्य भले हो, किन्तु सम्पूर्ण सत्य तो नहीं । ओह ! मुझ से मेरी माँ को, मेरी पत्नी को कितना प्रेम है, इसको मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता हूँ ।''

महात्मा ने सोचा-``आखिर इसे सत्य की अनुभूति करानी पड़ेगी ।'' वे बोले-``कल पुनः मुझसे मिलना ।''

दूसरे दिन पुनः अमर आया । महात्मा उसे एक विशाल सरोवर पर ले गए, जिसमें विविध पक्षी क्रीड़ा कर रहे थे । मनुष्य भी उसमें स्नान कर रहे थे ।

फिर महात्मा उसे एक शुष्क सरोवर पर ले गए, जहाँ न कोई पक्षी था और न कोई मनुष्य । सब कुछ श्मशान की भाँति शून्य था ।

महात्मा ने कहा-``देख लिया दोनों तालाबों के बीच अन्तर । तालाब में पानी है तो सब का आगमन और शुष्क पड़ा है तो निर्जन । ऐसा ही तो संसार है ।''

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए महात्मा ने आगे कहा-``फिर भी तुम्हें विश्वास न हो तो आज तुम्हें परिवार के प्रेम की परीक्षा कराना चाहता हूँ । आज तुम ज्योंही घर के निकट पहुँचो, बेहोश होकर नीचे गिर पड़ना । सबके प्रयत्न के बावजूद भी मत उठना । बेहोश की भाँति पड़े रहना, संध्या समय मैं आऊंगा, तब तुम्हें सत्यानुभूति करा दूंगा ।''

महात्मा के निर्देशानुसार अमर ज्योंही अपने घर के निकट पहुँचा, भूमि पर गिर पड़ा । अमर के गिरते ही चारों ओर से लोग दौड़ पड़े और अमर को देखने लगे । अमर को बेहोश देखकर सभी चिंतातुर बन गए । तत्काल उसके माता-पिता भी आ गए और करुण विलाप करने लगे । माँ रोते हुए बोली-``बेटा ! बोल तो सही । कैसे गिर गया, कहीं चोट तो नहीं लगी ?'' किन्तु अमर तो मौन था । अमर के मौन ने उसकी बीमारी की भयावहता को बढ़ावा दिया ।

कुछ लोग अमर को उठाकर उसके आरामखण्ड में ले आए । चारों ओर भागदौड़ होने लगी, कोई वैद्य को बुलाने भागा तो कोई हकीम को ।

थोड़ी ही देर में वैद्य आया । दवाई दी, किन्तु कोई सुधार नहीं ।

हकीम आया । उसने अपना उपचार किया, किन्तु कोई फर्क नहीं ।

नये-नये वैद्य, डॉक्टर आने लगे, लेकिन कोई फर्क नहीं ।

घर में सभी परेशान हो गए । अब क्या किया जाय ? माँ रो रही है, पत्नी की आँखों में आँसू हैं । किसी ने भोजन नहीं किया ।

अमर के पिता दरवाजे के पास बाहर खड़े थे, तभी वे महात्मा उस मार्ग से गुजरने लगे । महात्मा को देखते हो सेठजी ने झुककर उनके चरणों में नमस्कार किया और बोले-``कृपालो ! कृपा करो.....मेरा एकाकी बच्चा.....मृत्यु श...य्या पर.....। वह कुछ बोल नहीं पा रहा है.....आप उसे ठीक कर दीजिए ।''

महात्मा ने कहा-``ठीक करना तो आसान बात है, किन्तु हम दुनिया से विरक्त हैं, हम दुनियादारी में गिर पड़ेंगे तो प्रभु का ध्यान.....।''

सेठ ने विनती करते हुए कहा-``कृपासागर ! इतनी मेहर कर दीजिए । आपके इस उपकार को जिन्दगी भर नहीं भूलूंगा ।''

महात्मा ने अपनी सम्मति दे दी । सेठजी महात्मा को अमर के पास ले आए । महात्मा ने कहा-``सभी दूर रहिए । मैं अभी मंत्र का जाप करता हूँ, सब अच्छा हो जाएगा । अभी कटोरी में कुछ पानी ले आओ ।''

तत्काल पानी लाकर महात्मा को सौंप दिया गया । महात्मा ने बीच में पर्दा करा दिया और मंत्र जाप करने लगे । थोड़ी ही देर बाद वे पर्दे से बाहर निकल आए और सभी परिवारजनों को इकट्ठा कर बोले-``मैं इसकी असाध्य बीमारी को मंत्रशक्ति से खींचकर इस कटोरे में ले आया हूँ, अतः इस कटोरे के पानी को कोई पी जाय तो यह तत्काल ठीक हो सकता है, परन्तु खेद है कि जो पीएगा वह इस संसार से चिर-विदाई ले लेगा.....।''

महात्मा की वाणी सुनते ही सभी के मुँह फीके हो गए । किसी के चेहरे पर उस कटोरे के पानी को पीने के लिए उत्साह नहीं था, सभी एक दूसरे का

मुँह ताक रहे थे । माँ, पत्नी पानी पी ले ऐसी आशा कर रही थी और पत्नी, उसकी माँ पानी पी ले, ऐसी आशा । महात्मा ने वह कटोरा सभी के पास घुमाया, किन्तु सभी ने पानी पीने से मना कर दिया ।

अन्त में महात्मा बोले-``यदि आप तैयार नहीं हैं तो मैं.....पी जाता हूँ ।''

सुनते ही सभी के चेहरे आनन्द से खिल उठे । सभी ने एक ही आवाज में कहा-``महात्माजी ! आपका बहुत बड़ा उपकार होगा, आपके उपकार को हम कभी नहीं भूल सकेंगे ।''

और तत्काल महात्मा ने उस कटोरे का जल पी लिया । महात्मा के जलपान के साथ ही **'अमर'** खड़ा हो गया ।

महात्मा तत्काल घर से निकल पड़े और अमर भी उनके पीछे जाने लगा । अमर को स्वस्थ देखते ही माँ बोली-``बेटा ! तबियत तो ठीक है न ? तू कुछ बोला भी नहीं । तेरे बिना मैं कितनी दुःखी थी ।''

अमर को अब कल्पित प्रेम की वास्तविक अनुभूति हो चुकी थी । उसने कहा-``तुम्हारा प्रेम मैं जान गया.....मेरे लिए प्राण देने वाले तो एक महात्मा ही हैं, मैं उन्हीं के पास जाऊंगा ।''

और अमर अपने परिवार को छोड़ महात्मा की शरण में आ गया ।

संसार के प्रेम की यही वास्तविकता है । मृत्यु के निकट आने पर स्वजन भी कुछ नहीं कर पाते हैं । स्वजन भी परजन बन जाते हैं ।

संसार में आत्मा को कोई शरणदाता नहीं है । अतः फिर प्रश्न उठता है-किसकी शरण में जाय ? **पूज्य उपाध्यायजी म.** इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् ! इस संसार में एक जिनेश्वर का धर्म ही शरणभूत है । केवली प्ररुपित धर्म की शरणागति के बाद आत्मा निर्भय बन जाती है । जिस प्रकार जिस व्यक्ति ने कवच को धारण कर लिया है, उसे युद्ध-भूमि में विशेष भय नहीं रहता है, उसी प्रकार जिस आत्मा ने जिनधर्म की शरणागति रुप कवच को धारण कर लिया है, उसके लिए मोहराजा के भयंकर अस्त्र-शस्त्र भी निष्फल हो जाते हैं, भयंकर मोह भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता है ।

जिनधर्म की शरणागति के साथ पवित्र चारित्र का पुनः- पुनः स्मरण व आसेवन करना चाहिए । पवित्र चारित्र के दस भेद हैं- (1) क्षमा (2) मार्दव (3) आर्जव (4) निर्लोभता (5) तप (6) संयम (7) सत्य (8) शौच (9) ब्रह्मचर्य और (10) आकिंचन्य ।

अनाथी मुनि ने श्रेणिक महाराजा को वास्तविक नाथपन समझाया था और यही कहा था कि-

जिनधर्म विना नरनाथ ।
नथी कोई मुक्ति नो साथ ।।

जिनधर्म ही आत्मा का मुक्तिपर्यन्त सच्चा साथी बन सकता है । सच्चा साथी वही है, जो लक्ष्य तक पहुँचावे । संसार में ऐसा कोई साथी नहीं है, जो हमें इष्ट-स्थान (मोक्ष) तक पहुँचा सके, एकमात्र जिनधर्म ही हमारे लिए सहारा हो सकता है, अतः उसी का शरण स्वीकार करना चाहिए ।

तुरगरथेभनरावृतिकलितं, दधतं बलमस्खलितम् ।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघुमीनम् ।।25।।

अर्थ :- जिस प्रकार एक छोटे मत्स्य को बड़ा मत्स्य निगल जाता है, उसी प्रकार घोड़े, रथ, हाथी तथा पैदल सैन्य से अस्खलित बल को धारण करने वाले और अत्यन्त दीन बने राजा को भी यमराज उठा ले जाता है ।।25।।

विवेचन

सैन्य से भी रक्षण असंभव है

याद आ जाती है कवि की ये पंक्तियाँ-

जिनके महलों में, हजारों रंग के फानूस जलते थे ।
उनकी कब्रों का आज, निशां भी नहीं ।।

हजारों सम्राट् इसी पृथ्वीतल के साम्राज्य को भोगकर चल बसे, किन्तु आज उन्हें कोई याद नहीं करता है । बड़े से बड़ा सम्राट् भी मृत्यु के बाद धीरे-धीरे विस्मृत होता जाता है ।

इस संसार में मत्स्यगलागल न्याय है । समुद्र में छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है । बस, इसी प्रकार यमराज भी इस संसार में रहे

प्राणियों को ग्रास करता जाता है । कोई उसके चंगुल से बच नहीं पाता है ।

छह खंड के अधिपति चक्रवर्ती भी इस पृथ्वीतल पर आए । लाखों-करोड़ों का उनका सैन्यबल था । एक संकेत करते ही लाखों लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे । परन्तु उनको भी यमराज उठा ले जाता है, उस समय उनका विराट् सैन्य भी उनको मृत्यु से बचा नहीं पाता है ।

सम्राट् सिकंदर **विश्वविजेता** बनने के अपने स्वप्न को साकार करने हेतु प्रयत्नशील था । विशाल सैन्यदल का वह मालिक बन चुका था, लेकिन एक दिन वह मृत्यु-शय्या पर गिर पड़ता है और उसे इस सत्य की अनुभूति हो जाती है कि धन, डॉक्टर और सैन्यबल भी उसे मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं । अतः उसने अपनी शव-यात्रा में अपने दोनों हाथों को बाहर खुले रखने की आज्ञा की थी, इसके साथ उसने अपनी शव-यात्रा में सुप्रसिद्ध वैद्य-चिकित्सकों को तथा विराट् सैन्यबल को साथ में रखने का आदेश दिया था इसीलिए कि वह दुनिया को सत्य सिखाना चाहता था कि-

(1) धन मृत्यु से बचा नहीं सकता है ।

(2) वैद्य मृत्यु से बचा नहीं सकते हैं और

(3) विराट् सैन्यबल भी मृत्यु से बचा नहीं सकता है ।

प्रविशति वज्रमये यदि सदने, तृणमथ घटयति वदने ।
तदपि न मुञ्चति हत समवर्ती, निर्दय-पौरुषनर्ती ।।26।।

अर्थ :- कोई वज्र से निर्मित घर में प्रवेश कर जाय, अथवा मुख में तृण धारण कर ले तो भी निर्दय बनकर अपने पौरुष का नाच करने वाला, तिरस्कार योग्य तथा सबको समान गिनने वाला यमराज किसी को नहीं छोड़ता है ।।26।।

विवेचन

यमराज का ताण्डव नृत्य

मृत्यु से बचने के लिए मनुष्य कदाचित् वज्र का महल खड़ा कर दे और उसमें घुस जाय, फिर भी वह बिचारा (रंक ?) मृत्यु से बच नहीं सकता है ।

युद्ध-भूमि में तिनके को मुँह में रखना, हार के स्वीकार की निशानी

है । तृण ग्रहण करने के बाद भयंकर शत्रु भी उस पर कोई प्रहार नहीं करता है । अतः कदाचित् मृत्यु से अपनी हार-स्वीकृति के लिए कोई व्यक्ति मुँह में तृण ले लेवे तो भी वह मृत्यु से बच नहीं सकता है ।

यमराज तो जीवों पर सतत प्रहार करता ही जा रहा है । जीवों के जीवन की समाप्ति में ही वह आनन्द मानता है और उसमें उसे लेश भी थकावट का अनुभव नहीं होता है ।

मृत्यु से बचने के लिए प्राणी उससे दया की भीख मांगे तो भी वह उस पर लेश भी दया करने के लिए तैयार नहीं है, वह तो अत्यन्त ही क्रूर है । निर्दयता का ताण्डव-नृत्य करने में उसे किसी प्रकार की शर्म नहीं है । वह छोटे-बड़े का, धनी-निर्धन का कोई भेद नहीं करता है ।

विद्यामन्त्रमहौषधिसेवां, सृजतु वशीकृतदेवाम् ।
रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम् ।।27।।

अर्थ :- कोई विद्या, मंत्र और महा औषधियों का सेवन करे, देवताओं को भी अपने वश में कर ले तथा देह को पुष्ट करने वाले रसायनों का सेवन करे तो भी मृत्यु उसे नहीं छोड़ती है ।।27।।

विवेचन

मृत्यु से बचना शक्य नहीं है

सभी जीवात्मा जीवन चाहते हैं, मृत्यु किसी को पसन्द नहीं, फिर भी मरना पड़ता है । सर्व जीवों पर मृत्यु का प्रहार सतत चल रहा है । एकमात्र मुक्तात्माओं पर ही उसका प्रहार निष्फल जाता है ।

मृत्यु के जाल से बचने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के प्रयत्न करता है और अन्तिम दम तक जीवन को बचाने के लिए मृत्यु से संघर्ष करता है । वह अनेक प्रकार की विद्याओं को सिद्ध करता है, वह नाना प्रकार के मंत्रों का जाप करता है, नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करता है और नाना देवी-देवताओं को अपने अधीन करने के लिए साधनाएँ करता है । अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए वह नाना प्रकार के रसायन-चूर्णों का सेवन करता है । उसके सारे प्रयत्न जीवन के रक्षण और मृत्यु से संरक्षण के लिए होते हैं । परन्तु अफसोस ! मृत्यु के आगे उसके सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं । वह

कीमती दवाओं के लिए लाखों रु. खर्च कर देता है, दूर-दूर से डॉक्टर व वैद्यों को बुलाता है, परन्तु मृत्यु के आगे उसका एक भी प्रयत्न सफल सिद्ध नहीं हो पाता है । वह लाचार बन जाता है । दुनिया का कोई भी पदार्थ उसे मृत्यु से बचा नहीं पाता है ।

वपुषि चिरं निरुणद्धि समीरं, पतति जलधिपरतीरम् ।
शिरसि गिरेरधिरोहति तरसा, तदपि स जीर्यति जरसा ।।28।।

अर्थ :- शरीर में लम्बे समय तक पवन को रोक दे, महासमुद्र के अन्य तट पर जाकर पड़ाव डाल दे, अथवा शीघ्र ही ऊँचे पर्वत के ऊपर भी चढ़ जाय तो भी मनुष्य जरा से अवश्य जीर्ण होता है ।।28।।

विवेचन

वृद्धावस्था भयंकर है

मृत्यु के बाद दूसरा भय-स्थान है-जरावस्था का । वृद्धावस्था को रोकने के लिए मनुष्य कितना भी प्रयास करे किन्तु उसके समस्त प्रयत्न निरर्थक ही जाते हैं ।

व्यायाम आदि के द्वारा शरीर को कितना ही स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाय, कितना ही प्राणायाम किया जाय, फिर भी वृद्धावस्था रुकने वाली नहीं है । समुद्र के किनारे जाकर बैठें अथवा पर्वत के शिखर पर चढ़ जायें, फिर भी वृद्धावस्था रुकने वाली नहीं है और उसके आगमन के साथ ही शरीर कमजोर होने लगता है ।

उत्पत्ति के साथ विनाश जुड़ा हुआ ही है । जन्म के साथ ही देह की जीर्णता प्रारम्भ हो जाती है । अंग्रेजी में ठीक ही कहते हैं-I am Three years old, I am Fifty years old. मैं तीन वर्ष का बूढ़ा हूँ.....मैं पचास वर्ष का बूढ़ा हूँ.....इससे स्पष्ट है कि बुढ़ापा तो सभी के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है ।

सृजतीमसितशिरोरुहललितं, मनुजशिरः सितपलितं ।
को विदधानां भूधनमरसं, प्रभवति रोद्धुं जरसम् ।।26।।

अर्थ :- मनुष्य के मस्तक पर अत्यन्त सुन्दर दिखने वाले काले बालों को जरावस्था सफेद बना देती है और शरीर को रसहीन (नीरस) बना देती है, ऐसी जरावस्था को रोकने में कौन समर्थ है ? ।।26।।

विवेचन

अप्रिय वृद्धावस्था

सभी को यौवनावस्था प्रिय है, वृद्धावस्था किसी को प्रिय नहीं है । मस्तक के श्याम केश सुन्दर लगते हैं, किन्तु सफेद केश किसी को प्रिय नहीं हैं । वृद्धावस्था के आगमन के साथ ही मनुष्य के काले केश सफेद हो जाते हैं और उसका शरीर निस्तेज हो जाता है । यौवन की चाल भी बदल जाती है और व्यक्ति बड़ी कठिनाई से लकड़ी के सहारे धीरे-धीरे एक-एक कदम चलता है । दाँत गिर पड़ते हैं, लेकिन स्वाद जाता नहीं है । खाने की इच्छाएँ बनी रहती हैं ।

वृद्धावस्था शरीर को जीर्ण-शीर्ण बना देती है । जीवन नीरस बन जाता है ।

मनुष्य ऐसी जरावस्था का शिकार बनना नहीं चाहता है, परन्तु उस जरावस्था को रोकने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई समर्थ नहीं है ।

उद्यत उग्ररुजा जनकायः, कः स्यात्तत्र सहायः ।
एकोऽनुभवति विधुरुपरागं, विभजति कोऽपि न भागम् ।।30।।

अर्थ :- मानव देह जब तीव्र व्याधियों से ग्रस्त बन जाता है, तब उसका सहायक कौन होता है ? ग्रहण की पीड़ा चन्द्रमा अकेला भोगता है, उस समय उसके साथ कोई हिस्सा नहीं बँटाता है ।।30।।

विवेचन

रोग सहित काया

आकाश में चन्द्रमा के साथ अनेक तारागण भी होते हैं, परन्तु जब चन्द्रग्रहण होता है, तब उससे चन्द्र ही ग्रसित होता है अन्य तारागण नहीं । इसी प्रकार धन-वैभव आदि की समृद्धि होने पर भी जब शरीर रोगों से घिर जाता है, तब स्वयं को ही पीड़ा भोगनी पड़ती है, उस पीड़ा में कोई सहायक नहीं हो पाता है ।

आप समृद्ध हैं तो आपकी बीमारी के निवारणार्थ बड़ी-बड़ी फीस लेने वाले डॉक्टर बुलाए जा सकते हैं, किन्तु दर्द की पीड़ा तो स्वयं को ही भोगनी पड़ती है । डॉक्टर या स्वजन उस दर्द में भागीदार नहीं बन सकते हैं ।

अनाथी मुनि गृहस्थ अवस्था में अत्यन्त ही समृद्ध थे । किसी भी प्रकार के धन-वैभव-स्वजन-परिवार की उन्हें कमी नहीं थी, किन्तु जब उनके शरीर में वेदना पैदा हुई, तब उस वेदना को बाँटने वाला कोई नहीं था । संसार का यह स्वभाव है । सुख में भागीदार बनने के लिए सब तैयार हैं, किन्तु दुःख में भागीदार बनने के लिए कोई भी तैयार नहीं । सभी सुख के साथी हैं, दुःख आने पर दूर-सुदूर ही भागने वाले हैं ।

अनाथी मुनि ने अपनी अनाथता का साक्षात् अनुभव किया और यह संकल्प लिया कि मेरी बीमारी ठीक हो जाए तो मैं संसार का त्याग कर दीक्षा अंगीकार कर लूंगा । दूसरे ही दिन वे स्वस्थ हो जाते हैं और अपने संकल्पानुसार संसार का त्याग कर दीक्षा अंगीकार कर लेते हैं ।

शरणमेकमनुसर चतुरङ्गं, परिहर ममतासङ्गम् ।
विनय ! रचय शिवसौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम् ।।31।।

अर्थ :- हे विनय ! चार अंग स्वरुप (अरिहंतादिक का) शरण स्वीकार कर । ममता के संग का त्याग कर और शिवसुख के निधानभूत शांतसुधारस का पान कर ।।31।।

विवेचन

सच्चे शरण्य कौन ?

संसार में जीवात्मा की सर्वत्र अशरण दशा है । उसी अशरण दशा से मुक्त होने के लिए **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** तीन उपाय बतला रहे हैं-

(1) चतुःशरण गमन ।

(2) ममता का त्याग ।

(3) शान्त सुधारस का पान ।

1. **चतुःशरणागति :-** इस विश्व में जीवात्मा के लिए शरण्यभूत चार ही पदार्थ हैं-(1) अरिहन्त (2) सिद्ध (3) साधु और (4) केवली प्ररूपित धर्म ।

अरिहन्त परमात्मा तीर्थ की स्थापना कर भव्य जीवों के लिए मोक्षमार्ग का प्रदर्शन करते हैं । अतः आद्य उपकारी वे ही हैं, वे स्वयं संसारसागर से पार हो चुके हैं और शरणागत को भी भवसागर से पार कर देते हैं । अतः वे अवश्य शरण योग्य हैं ।

सिद्ध भगवान चौदह राजलोक रुप इस संसार के अग्र भाग पर स्थित हैं, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि आत्म-गुणों के भण्डार हैं । सिद्ध भगवन्तों ने आत्मा के पूर्ण स्वरुप को प्राप्त कर लिया है । अरिहन्त परमात्मा के लिए भी वे ध्येयस्वरुप हैं । वे अपनी स्थिति मात्र से मुमुक्षु आत्माओं पर महान् उपकार करते हैं ।

तीर्थंकर के अभाव में शासन की धुरा को वहन करने वाले आचार्य भगवन्त ही हैं । आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवन्त तीनों का जीवन उद्देश्य आत्मा के शुद्ध स्वरुप को प्राप्त करना है । वे ग्रामानुग्राम विचरण कर भव्य जीवों को धर्मोपदेश प्रदान करते हैं और सभी को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाते हैं । उनकी शरणागति से आत्मा में सुषुप्त साधुता जागृत होती है ।

केवली प्ररुपित धर्म ही यथार्थ और मोक्षसाधक है । दुनिया में धर्म की बातें तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु यथार्थ धर्म जिनेश्वर प्ररुपित ही है । उस धर्म की शरणागति के स्वीकार से आत्मा उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़ती है ।

2. **ममता का त्याग :-** ममता ही आत्मा के परिभ्रमण और सर्व दुःखों का मूल है । संसार के सुख की ममता से आत्मा के विवेक-चक्षु बन्द हो जाते हैं और आत्मा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है । **पूज्य यशोविजयजी म.** ने ठीक ही कहा है-

ममतान्धो हि यन्नास्ति तत्पश्यति न पश्यति ।
जात्यन्धस्तु यदस्त्येतद् भेद इत्यनयोर्महान् ।।

अर्थ :- जाति से (जन्म से) अन्ध व्यक्ति तो जो पदार्थ है, उसे नहीं देखता है किन्तु जो ममता से अन्ध बना हुआ है वह तो जो जिस रुप में नहीं है, उसे उस रुप में देखता है । यही जन्मान्ध और ममतान्ध में भेद है ।

जाति (जन्म) से अन्ध होना विशेष हानिकर नहीं है, किन्तु जो ममतान्ध बन जाता है, वह तो बहुत कुछ खो देता है ।

ममता से अन्ध व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है ।

ठीक ही कहा है-**'रागी दोषान् न पश्यति ।'** रागी-आसक्त व्यक्ति वस्तु में रहे दोष को जान नहीं सकता है ।

अतः जो आत्मा इस ममता का त्याग कर देती है और समता को प्राप्त कर लेती है, वह आत्मा इस संसार में अत्यन्त निर्भय बन जाती है । फिर संसार के सुख या दुःख उसे परेशान नहीं कर सकते ।

3. **शान्त सुधारस का पान :- शान्त सुधारस** का पान आत्मा को सुख के सागर में मग्न कर देता है । आत्मा तभी तक अशान्त रहती है, जब तक वह शान्त रस का पान नहीं करती है ।

पूज्य उमास्वातिजी महाराज ने शान्त रस से भरपूर **'प्रशमरति'** ग्रन्थ की रचना की है । उस ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि-

प्रशमितवेदकषायस्य, हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिभवस्य, यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ।।[1]

अर्थात् जिसने वेद और कषाय के उदय को उपशान्त कर दिया है और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का पराभव कर दिया है, वह आत्मा जिस सुख का अनुभव करती है, वह सुख अन्य के लिए कहाँ है ?

क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायों के शमन से आत्मा शान्त बनती है । पाँच इन्द्रियों के अनुकूल विषयों के परित्याग से आत्मा शान्ति के महासागर में अवगाहन करती है ।

कितना सुन्दर और सचोट उपाय बतला दिया है **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** ने ।

---

1. प्रशमरति गाथा 126

रोग तो बतला देवे किन्तु इलाज न करे तो वह डॉक्टर प्रशंसनीय नहीं बनता है, किन्तु रोग की पहचान के बाद जो रोग-मुक्ति का उपाय भी बतलाता है, वही डॉक्टर आदरणीय बनता है ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज मृत्यु का रोग बतलाकर उससे मुक्ति का उपाय भी बतला रहे हैं । इस रोग और रोग के इलाज को बतलाकर **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** ने महान् उपकार किया है । इस **शान्त सुधारस** का जो अमीपान करेगा, इसे आत्मसात् करने का प्रयास करेगा वह अवश्य ही अल्प भवों में शिव-सुख का भोक्ता बन जाएगा ।

अमृत वही है, जो व्यक्ति को अमृत (अमर) बनाता है । **शान्त सुधारस** एक ऐसा ही अमृत है, जिसके पान से आत्मा अमरत्व को प्राप्त कर सकती है ।

आप भी यह अमृतपान करें और अमरत्व को प्राप्त हों ।

3 संसार भावना

इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरन्तो दव इवो-
ल्लसंल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुम् ।
इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला,
कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने ।।32।।

(शिखरिणी)

अर्थ :- एक ओर लोभ का भयंकर दावानल सुलगा हुआ है, जिसे बढ़ते हुए जलरुपी लाभ से किसी भी तरह से शान्त नहीं किया जा सकता है तथा दूसरी ओर इन्द्रियों की तृष्णा मृगतृष्णा की भाँति परेशान कर रही है । इस प्रकार विविध प्रकार के भयों से भयंकर इस संसार रुपी वन में स्वस्थ कैसे रहा जा सकता है ? ।।32।।

विवेचन

लोभ और तृष्णा का आतंक

संसार एक नाटक की रंग-भूमि है, जहाँ जीवात्मा कर्म के नेतृत्व में विविध प्रकार के पात्र भजती है । कभी आत्मा मानव के रुप में जन्म लेती है तो कभी पशु के रुप में । एक ही आत्मा कभी पुरुष-देह को धारण करती है तो कभी स्त्री-देह को । आत्मा स्वयं न पुरुष है, न स्त्री । स्त्री-पुरुष का भेद कर्मकृत है । आत्मा न देव है, न मनुष्य और न नारक या तिर्यंच । किन्तु कर्म के अनुसार वह विविध देहों को धारण करती है और नाना प्रकार के दुःखों की भोक्ता बनती है ।

प्रस्तुत संसार-भावना के अन्तर्गत **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** संसार का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

दावानल के सन्दर्भ में आपने सुना ही होगा । जब जंगल में भयंकर आग सुलग जाती है, तब उसे किसी भी प्रकार से शान्त करना अशक्य हो जाता है । इस दावानल में चारों ओर से आग की इतनी अधिक प्रबलता होती

है कि वन के सभी विराट्काय वृक्ष भी जलकर भस्मसात् हो जाते हैं । दावानल के सुलगने के बाद किसी भी प्राणी का उसमें से बचना अशक्य हो जाता है । दावानल की लपटों में जीवात्मा अपने जीवन को स्वाहा कर देता है । इस भयंकर दावानल को जल के छिड़काव से शान्त नहीं किया जा सकता है ।

बस ! वन में दावानल की भाँति ही इस संसार में लोभ का दावानल सुलगा हुआ है । इस लोभ ने सम्पूर्ण संसार में असन्तोष की आग फैला दी है, जिसे किसी भी प्रकार से शान्त करना शक्य नहीं है । कितना ही धन मिल जाए.....कितनी ही समृद्धि मिल जाए.....कितना ही वैभव मिल जाए.....कितनी ही सुविधाएँ मिल जाएँ, परन्तु लोभ के वशीभूत आत्मा कभी तृप्त होती ही नहीं है । इस लोभ की आग ने सबको बेचैन बना दिया है और आश्चर्य है कि इस लोभ के दावानल को शान्त करने के लिए ज्यों-ज्यों इच्छा-पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों इस लोभ की आग बढ़ती ही जाती है ।

- मम्मण सेठ के पास इतना अधिक धन था कि जिसके आगे श्रेणिक की समृद्धि भी नगण्य थी । परन्तु मम्मण लोभ की आग में डूबा हुआ था । जिस प्रकार खुजली का रोगी ज्यों-ज्यों खुजलाता है, त्यों-त्यों शान्ति के बजाय उसकी खाज बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार मम्मण के पास इतनी अधिक समृद्धि होते हुए भी वह सदा अतृप्त ही था । अधिकाधिक धन-समृद्धि को पाने के लिए वह तनतोड़ मेहनत करता था ।

अमावस्या की घनघोर रात्रि में भयंकर मुसलाधार वर्षा हो रही थी । चारों ओर नगर में पानी भरा हुआ था और नदियों में भयंकर बाढ़ आई हुई थी । राजमार्ग पर न तो कोई मनुष्य ही दिखाई दे रहा था और न ही कोई पशु । परन्तु ऐसी भीषण बाढ़ में भी एकमात्र पुरुषार्थ करने वाला था तो एक मम्मण सेठ । एकमात्र लंगोटी पहनकर वह उस नदी की बाढ़ में कूद पड़ा था और नदी में बहती हुई लकड़ियों को खींच-खींचकर किनारे पर ला रहा था । कैसी दयनीय स्थिति थी ? वह मौत से खेल रहा था । परन्तु उसको उसी में आनन्द था, क्योंकि लोभ ने उसके हृदय पर अधिकार जमा रखा था । लोभ की बढ़ती हुई आग को शान्त करने के लिए वह सतत पुरुषार्थ कर रहा था, परन्तु उसे यह ख्याल नहीं कि **'लाभ से लोभ का शमन कभी सम्भव नहीं है ।'**

वस्तु की प्राप्ति से तो उलटा लोभ प्रबलतर होता है ।

- याद आ जाती है उस लोभी फूलचन्द सेठ की बात ।

सेठजी का अधिकांश व्यापार विदेशों में होता था । अनेक बार उन्हें समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती थीं ।

एक बार उनके किसी मित्र ने कहा-``सेठजी ! आपको अनेक बार समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती हैं । समुद्री यात्रा कभी-कभी अत्यन्त आपत्ति का कारण बन सकती है । समुद्र में कई बार तूफान भी आते हैं, अतः अपने जीवन की सुरक्षा के लिए कम-से-कम आप तैरना तो सीख लीजिए ।''

सेठ ने कहा-``तुम्हारी बात तो ठीक है, किन्तु मुझे फुर्सत कहाँ है कि मैं तैरना सीख सकूँ ?''

मित्र ने कहा-``फुर्सत तो नहीं है, किन्तु जीवन तो बचाना होगा न ?''

सेठ ने कहा-``कोई दूसरा उपाय बता दो ।''

मित्र ने कहा-``अच्छा ! तो अपनी प्रत्येक समुद्र-यात्रा में अपने साथ खाली डिब्बे ले लिया करो और जब जहाज टूट जाय तो उनके सहारे समुद्र में कूद पड़ना जिससे आप बच सकोगे ।''

सेठ ने कहा-``यह अच्छी बात है ।''

और सेठजी अपनी प्रत्येक यात्रा में अपने साथ खाली डिब्बे भी रखने लगे ।

एक बार सेठजी विदेश से समुद्री यान के द्वारा लौट रहे थे । मध्य मार्ग में ही समुद्र में तूफान आया और जहाज डगमगाने लगा ।

कप्तान ने कहा-``अब परिस्थिति विकट है, जहाज को बचाना अशक्य है, जिसे तैरना आता हो, तैरकर अपनी जान बचा ले ।''

सेठजी ने यह बात सुनी । खाली डिब्बे पास में ही पड़े थे । साथ ही विदेश से लौट रहे थे अतः सोने के सिक्के भी बड़ी संख्या में साथ ही थे ।

सेठ ने सोचा-``खाली डिब्बों को लेकर कूदना, इसके बजाय इनमें सोना मोहर भर लूँ, तो कितना अच्छा होगा ? मैं भी बच जाऊंगा और सार-सार भी बच जाएगा ।''

तत्काल सेठजी ने एक डिब्बे में चार सौ सोना मोहर भर ली और

उसे उठाकर समुद्र में कूद पड़े ।

सेठजी तैरना तो जानते नहीं थे । बेचारे समुद्र के गहन तल में जा पहुँचे; लोभ ने उनके प्राण ले लिये ।

लोभी व्यक्ति की अधिकांशतः यही स्थिति होती है । वह कभी तृप्त होता ही नहीं है ।

- एक नगर के महाराजा का यह नियम था कि प्रातःकाल में उसके द्वार पर जो कोई भी याचक आवे उसे वह मुँह मांगा दान देता था । इस प्रकार दान के प्रवाह व प्रभाव से उसकी कीर्ति दिग् दिगन्त तक फैल गई ।

एक दिन उसके द्वार पर एक संन्यासी आया । राजा ने कहा- ``बाबाजी ! फरमाइये । आपको मैं क्या दूँ ?''

संन्यासी ने कहा-``बस ! मेरा यह छोटा सा पात्र सोना मोहर से भर दो ।''

सुनते ही राजा ने खजांची को आदेश दिया । तत्काल खजांची एक थाल भर कर सोना मोहर ले आया और उसने वे मोहरें संन्यासी के पात्र में उंडेल दी, परन्तु आश्चर्य ! संन्यासी का पात्र खाली ही था । मुश्किल से उस पात्र का पैंदा ही ढक पाया था ।

राजा की सूचना से पुनः खजांची सोना मोहर ले आया । पुनः उस पात्र में उंडेल दी.....फिर आश्चर्य.....! पात्र खाली ही था । इस तरह बारम्बार की इस प्रक्रिया के बावजूद भी जब उस संन्यासी का पात्र भरा नहीं गया, तब महाराजा ने आश्चर्यचकित होकर संन्यासी को कहा-``बाबाजी ! आज तक मैंने सभी याचकों की इच्छाएँ पूर्ण की हैं । परन्तु माफ करें, मैं आपके इस मनोरथ को पूर्ण नहीं कर सकता । क्या आप कृपया यह बतायेंगे कि आपका यह पात्र किस वस्तु से बना हुआ है ?''

संन्यासी ने कहा-``राजन् ! यह तो सबसे अजीब पात्र है । यह न तो सोने का बना हुआ है.....न चांदी का । यह एक लोभी इन्सान की खोपड़ी से बना खप्पर है, इसमें कितना ही डालो, सबको अपने में समा लेगा । यह पात्र कभी भरता ही नहीं है ।''

सुनते ही महाराजा चकित हो गए । यह हालत है मानव के लोभ की ।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने **'योगशास्त्र'** में कहा है-

आकरः सर्वदोषाणां, गुणग्रसन-राक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः ।।

अर्थ :- ``लोभ तो सर्व दोषों की खान है, गुण का ग्रास करने वाला राक्षस है, सर्व आपत्तियों का मूल और सर्व सिद्धियों में बाधक है ।''

इस प्रकार इस संसार में एक ओर लोभ के भयंकर दावानल को शान्त करने की सबसे बड़ी समस्या है तो दूसरी ओर इन्द्रियों की अनुकूल तृष्णा भी जीवात्मा को सतत परेशान कर रही है ।

आँख को रुप-दर्शन में तृप्ति नहीं है । कितनी ही रुप-रमणियों के रुप का पान कर लिया, फिर भी जब नई रुप-रमणी पास से गुजरती है तो वह उसके भी रुप में मुग्ध बन जाता है । पेट की भूख तो भोजन से शान्त हो जाती है, किन्तु रुप-दर्शन की तृष्णा कभी तृप्त होती ही नहीं है ।

कान को मधुर संगीत के श्रवण से तृप्ति नहीं । रसना को मधुर स्वादिष्ट भोजन से तृप्ति नहीं ।

इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अनुकूल विषय की प्राप्ति होने पर भी सदा अतृप्त ही रहती हैं । अतृप्त इन्द्रियाँ नये-नये इष्ट-विषयों को पाने के लिए प्रयत्नशील बनती हैं । कदाचित् इष्ट-विषय मिल भी जाए तो भी वह तृप्त नहीं बनती है, बल्कि उसकी तृष्णा अधिक तीव्र बनती है ।

इस प्रकार इस संसार में एक ओर आत्मा लोभ से परेशान है तो दूसरी ओर तृष्णा से । इस प्रकार लोभ और तृष्णा के निरन्तर आतंक के कारण आत्मा क्षण भर भी सुख और शान्ति का आस्वादन नहीं कर पाती है ।

गलत्येका चिन्ता भवति पुनरन्या तदधिका,
मनोवाक्कायेहाविकृतिरतिरोषात्तरजसः
विपद्गर्तावर्ते झटिति पतयालोः प्रतिपदं,
न जन्तोः संसारे भवति कथमप्यर्तिविरतिः ।।33।।

(शिखरिणी)

अर्थ :- मन, वचन और काया की इच्छाओं के विकार से जीवात्मा

राग-द्वेष कर कर्म रुपी रज को ग्रहण करती है, उसकी एक चिन्ता दूर होती है, तो उससे बढ़कर दूसरी नई चिन्ता खड़ी हो जाती है । प्रतिपल विपत्ति के गर्त के आवर्त में पड़ने के स्वभाव वाले इस प्राणी के लिए इस संसार में किसी भी प्रकार से आपत्ति का अन्त कैसे हो सकता है ? ।।33।।

विवेचन

चिन्ताग्रस्त स्थिति

इस संसार में अपनी आत्मा अनन्त काल तक निगोद में रही है । जहाँ मात्र एक ही इन्द्रिय होती है । एकेन्द्रिय अवस्था में जीव के पास न तो वाणी होती है और न ही सोचने की शक्ति । फिर क्रमशः अकामनिर्जरा व भवितव्यता के फलस्वरुप आत्मा को बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय अवस्था की प्राप्ति होती है । पंचेन्द्रिय अवस्था में भी अपनी आत्मा बहुत बार पशु अवस्था में रही । वहाँ उसे चेतन मन मिला । कभी-कभी उसे मानव और देव भव की प्राप्ति हुई । किन्तु मानव और देव के भव में भी क्या किया ? मात्र दुर्लभता से प्राप्त मन, वचन और काया की शक्ति का दुरुपयोग ही ।

दुर्लभ मन भी सदा विषयों की वासनाओं से ही ग्रस्त बना रहा । कभी धन की वासना जाग उठी, तो कभी पुत्र की वासना, तो कभी भोग की वासना । वासना के जाल में यह मन सदा ग्रस्त बना रहा ।

उस महान् कवि ने प्रभु के आगे अपनी वास्तविक स्थिति दर्शाते हुए ठीक ही कहा है-

मैं दान तो दीधुं नहि, ने शीयल पण पाल्युं नहि ।
तप थी दमी काया नहि, शुभ भाव पण भाव्यो नहि ।।

वास्तव में, यही अपना भूतकाल रहा है । मन मिला तो वासनाओं का ही निरन्तर चिन्तन किया । तन मिला तो वासनाओं की तुष्टि का ही प्रयास किया । वचन मिला तो विलासितापूर्ण ही वचनप्रयोग किये और इन सबका परिणाम ? निरन्तर क्लिष्टकर्मों का बंध ।

इस प्रकार निरन्तर दुष्कर्मों के आसेवन से आत्मा पतन के स्वभाव

वाली बन गयी है । पतन-अभिमुख आत्मा को इस संसार में क्षण भर के लिए भी शान्ति कहाँ है ? उसकी दौड़ सतत चालू है ।

संसार-सुख को पाने की तीव्र लालसा के कारण वह सतत चिन्तातुर रहती है । उसकी एक इच्छा की पूर्ति की चिन्ता समाप्त भी नहीं हो पाती है तब तक उसे अन्य चिन्ताएँ लागू पड़ जाती हैं ।

धन की चिन्ता हुई और धन के लिए पुरुषार्थ प्रारम्भ किया । धन की कुछ प्राप्ति हो, तब तक पुत्र की बीमारी की अन्य समस्या खड़ी हो जाती है । पुत्र के स्वास्थ्य के लिए वह दौड़-धूप करता है, वह कुछ ठीक होता है, तब तक तो माँ की मृत्यु के कर्णकटु समाचार उसे सुनने पड़ते हैं और उस शोक में वह डूब जाता है । सतत चिंताओं से ग्रस्त होने के कारण वह जीवित ही जलता रहता है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

चिंता चिता से बढ़कर है, घुन लग जाती है ।
चिता मुर्दे को जलाती है, चिंता जीते जी खाती है ।।

इस प्रकार दुःख के आवर्त में गिरने के स्वभाव वाले इस प्राणी को इस संसार में क्षण भर के लिए भी शान्ति कहाँ से मिल सकती है ?

सहित्वा सन्तापानशुचिजननीकुक्षिकुहरे,
ततो जन्म प्राप्य प्रचुरतरकष्टक्रमहतः ।
सुखाभासैर्यावत् स्पृशति कथमप्यर्तिविरतिं,
जरा तावत्कायं कवलयति मृत्योः सहचरी ।।34।।

(शिखरिणी)

अर्थ :- जीव गन्दगी से भरपूर माँ की कुक्षि रुपी गुफा में सन्तापों को सहन कर जन्म प्राप्त करता है और उसके बाद अनेक प्रकार के महान् कष्टों की परम्परा को प्राप्त करता है, किसी प्रकार से सुखाभासों से जब दुःख से विराम पाता है, तब मृत्यु की सहचरी जरावस्था उसके देह को खाने लग जाती है ।।34।।

विवेचन

संसार में दुःख की सतत परम्परा है

इस संसार के भयंकर कारावास में सुख का क्षण भी कहाँ है ?

इस प्राणी को नरक और निगोद में तो सतत पीड़ा ही पीड़ा है । निगोद में बारम्बार जन्म और मृत्यु की भयंकर पीड़ा । एक दो घड़ी में तो निगोद जीव के 65536 भव हो जाते हैं । अव्यक्त दशा में आत्मा इन सब दुःखों को सहन करती है ।

नरक में व्यक्त रुप से भयंकर वेदना का अनुभव करती है । जन्म भी कुम्भीपाक में । कुम्भीपाक से बाहर निकलने में भयंकर त्रास । तत्पश्चात् परमाधामियों के द्वारा सतत सजा । परमाधामी, नरकजीवों को सतत काटते हैं, भाले से भोंकते हैं, चीरते हैं और नाना प्रकार की पीड़ाएँ देते हैं । नरक में क्षेत्रकृत वेदना भी कम नहीं है । अत्यन्त दुर्गन्धमय, अत्यन्त उष्ण और प्रतिकूल क्षेत्र में नरक का जीव सतत दुःख भोगता रहता है ।

नरक के जीवों को परस्परकृत वेदना भी भयंकर होती है । नरक में रहे मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंग ज्ञान होता है, परन्तु उस ज्ञान का उपयोग वे अपने शत्रु को पहचानने में करते हैं और शत्रु को पहचान कर परस्पर सतत लड़ते रहते हैं ।

तिर्यंच भव में भी आत्मशांति का क्षण कहाँ है ? भूख और प्यास से पशु-पक्षी सदा पीड़ित रहते हैं । भूख के साथ उन्हें पराधीनता भी सहन करनी पड़ती है ।

इस प्रकार निगोद, नरक व पंचेन्द्रिय तिर्यंच के दुःखों का विचार किया । तो क्या मानव इन दुःखों से मुक्त है ?

नहीं । मानव भी दुःख की आग में सतत ही जल रहा है ।

मानव को **'मानव'** के रुप में जन्म लेने के लिए भी तो नौ मास की भयंकर गर्भावास पीड़ा सहन करनी पड़ती है ।

थोड़ी सी दुर्गंध, थोड़ी सी प्रतिकूल हवा से आकुल-व्याकुल बन जाने वाला अहंकारी मानव यह क्यों भूल जाता है कि उसने इस जन्म को पाने के

लिए नौ मास तक अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त गर्भ के कारावास की सजा सहन की है ।

शास्त्र में कहा है कि कोई दुष्ट देव अपने शरीर के 3½ करोड़ रोंगटों में एक साथ लोहे की तपी हुई सुइयाँ भोंके, उससे आठ गुनी पीड़ा गर्भावस्था में होती है और उससे अनन्तगुनी पीड़ा जन्म के समय होती है ।

क्या माँ के गर्भ में वातानुकूलन था ? क्या माँ के गर्भ में सुगन्धित फूलों की महक थी ? क्या माँ के गर्भ में मखमल के गद्दे थे ? कैसी भयंकर सजा थी वह ? फिर भी अभिमानी मानव अपने भूतकालीन इतिहास को भूल जाता है और छोटी-छोटी बातों के लिए अहंकार-ग्रस्त हो जाता है ।

जन्म के साथ भी मानव प्राणी की क्या हालत है ?

क्या जन्मप्राप्त मानव-शिशु और पशु के बच्चे में विशेष अन्तर होता है ?

हाँ । पूँछ का अन्तर जरुर है, किन्तु अज्ञान-चेष्टाएँ तो दोनों की प्रायः समान ही होती हैं ।

फिर मानव प्राणी कुछ बड़ा होता है । कुछ पढ़ता है, सीखता है और अहंकार से ग्रस्त हो जाता है । कुछ धन और समृद्धि मिल गई तो भी वह शान्त नहीं होता है । अन्दर से वह उछलता रहता है और इस प्रकार वह अपनी शान्ति खो देता है ।

मानव प्राणी जन्म के समय दुःखी, बचपन में दुःखी और फिर यौवन के प्रांगण में प्रवेश कर कुछ पाने की.....कुछ नवीन करने की धुन में लग जाता है । ज्योंही कुछ सुख की सामग्री पाकर उसे भोगने की तैयारी करता है, तब तक तो बुढ़ापा उसकी इंतजारी करता हुआ अत्यन्त निकट आ जाता है और उसे घेर लेता है ।

खाने को मिष्टान्न मिल रहे हैं, किन्तु पचाने की शक्ति क्षीण हो गई है । देखने के लिए टी.वी के प्रोग्राम हैं, किन्तु आँखों की ज्योति समाप्त हो गई है । Hill Station पर घूमने का प्रोग्राम बना है, किन्तु पैर लड़खड़ा रहे हैं ।

इस प्रकार सुख-भोग की अनुकूलता के समय ही उसकी स्थिति दयनीय बन जाती है । जरावस्था तो मृत्यु की सहचरी है ।

विभ्रान्तचित्तो बत बम्भ्रमीति,
पक्षीव रुद्धस्तनुपञ्जरेऽङ्गी ।
नुन्नो नियत्याऽतनुकर्मतन्तु-
सन्दानितः सन्निहितान्तकौतुः ।।35।।

(उपजाति)

अर्थ :- मोह से मूढ़ चित्त वाला यह प्राणी इधर-उधर भटकता रहता है । नियति से प्रेरित और कर्म के तन्तुओं से बँधा हुआ यह प्राणी शरीर रूपी पिंजरे में पक्षी की भाँति पड़ा हुआ है, जिसके निकट में ही कृतान्त (यम) रूपी बिलाड रहा हुआ है ।।35।।

विवेचन

देह-पिञ्जरग्रस्त प्राणी

पूज्य उपाध्यायजी म. एक रुपक के द्वारा संसारी जीव की वास्तविक स्थिति का प्रदर्शन करते हुए फरमाते हैं कि एक पिंजरे में जब पक्षी को बन्द किया जाता है, तब वह अत्यन्त परेशान हो जाता है, परन्तु धीरे-धीरे वह पक्षी उस पिंजरे का आदी बन जाता है । फिर वह अपनी वास्तविक स्वतन्त्रता को भूल जाता है ।

- याद आती है एक पोपट की कहानी । पिंजरे में बन्द उस पोपट को किसी ने सिखाया-**'स्वतंत्रता में आनन्द है.....स्वतंत्रता में आनन्द है ।'** वह पोपट धीरे-धीरे उस वाक्य को याद कर लेता है और प्रतिदिन उस वाक्य को बोलता है ।

एक दिन किसी आगन्तुक व्यक्ति ने पोपट के मुख से यह बात सुनी । उसने सोचा-यह पक्षी वास्तव में स्वतंत्रता चाहता है, अतः उसने पिंजरे का द्वार खोल दिया और उस पोपट को बाहर निकाल दिया.....परन्तु उस आगन्तुक ने एक आश्चर्य देखा-पोपट उड़कर दरवाजे पर बैठा और थोड़ी ही देर में पुनः उस पिंजरे में घुस गया ।

बस, स्वतन्त्रता.....स्वतन्त्रता की पुकार सब करते हैं, किन्तु वास्तविक

स्वतंत्र बनना कौन चाहता है ? वासनाओं की गुलामी से मुक्त बनने के लिए प्रयास कहाँ है ?

और इसी कारण वासनाओं की गुलामी से आत्मा कर्मतन्तुओं का सर्जन कर उनके जाल में फँस जाती है । उस जाल के बाहर ही यमराज रुप बिलाड़ रहा हुआ है । यह जीवात्मा रुप पक्षी ज्योंही उस जाल में से बाहर निकलने की कोशिश करता है, तत्क्षण यमराज उसे ग्रस्त कर देता है और भवितव्यता पुनः आत्मा को एक नये पिंजरे में डाल देती है । इस प्रकार भवितव्यता-नियति के वशीभूत बनी आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती रहती है ।

देहरुप जाल में प्रतिबद्ध होने पर भी आत्मा को स्वबन्धन की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता है और चित्त की भ्रंशता के कारण वह इधर-उधर भटकती है ।

अनन्तान्पुद्गलावर्तानननन्तानन्तरुपभृत् ।
अनन्तशो भ्रमत्येव जीवोऽनादिभवार्णवे ।।36।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- यह जीवात्मा इस अनादि भवसागर में अनन्त-अनन्त रुपों को धारण कर अनन्त-अनन्त पुद्गलपरावर्त तक भटकता रहता है ।।36।।

विवेचन

भवभ्रमण करते अनन्तकाल बीत चुका है

किसी आत्मा ने सर्वज्ञ परमात्मा से पूछा-``प्रभो ! इस संसार में मैं कब से भ्रमण कर रहा हूँ ?''

प्रभु ने कहा-``अनादिकाल से ।''

``तो प्रभो ! आज तक मेरे कितने भव हुए ?''

प्रभु ने कहा-``अनन्तानन्त ।''

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भी जीवात्मा के संसार-परिभ्रमण की आदि नहीं बता सकते हैं ।

अपनी आत्मा का अनन्तकाल निगोद में व्यतीत हुआ है । निगोद से बाहर निकलने के बाद भी अपनी आत्मा के जितने भव हुए हैं, उन सबका कथन सर्वज्ञ परमात्मा भी नहीं कर सकते हैं । कल्पना करें, किसी सर्वज्ञ भगवन्त के हजार मुख हों, उनका हजार वर्ष का आयुष्य हो और प्रति सैकण्ड अपना एक भव बतलावें और वे जीवन पर्यन्त कहते ही रहें तो भी वे हमारे भवों का वर्णन नहीं कर सकते हैं । हजार मुख वाले हजारों केवली भी हमारे समस्त भवों का वाणी से कथन करने में असमर्थ हैं । इस प्रकार इस संसार में प्रत्येक जीवात्मा ने अनन्तानन्त भव किये हैं ।

एक पुद्गलपरावर्तकाल अर्थात् अनन्तकालचक्र । जब जीवात्मा चौदह राजलोक में रहे समस्त पुद्गलों को (आहारक वर्गणा के पुद्गलों को छोड़कर) औदारिक आदि वर्गणा के द्वारा भोग लेता है तब एक पुद्गलपरावर्तकाल होता है । इसमें अनन्त चौबीसियाँ बीत जाती हैं । ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल से आत्मा इस संसार में भ्रमण करती आ रही है ।

और इस अनन्तकाल में चौदह राजलोक में एक भी ऐसा आकाशप्रदेश नहीं बचा है, जहाँ अपनी आत्मा ने जन्म और मृत्यु के द्वारा स्पर्श नहीं किया हो ।

इस अनन्तकाल में अपनी आत्मा ने अनन्त रुपों को धारण किया है । कोई ऐसा जन्म नहीं, कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, कोई ऐसी जाति नहीं, कोई ऐसा देश नहीं, कोई ऐसी योनि नहीं जहाँ अपनी आत्मा ने जन्म नहीं लिया हो ।

ओह ! अफसोस है कि अनन्तकाल से अपनी आत्मा संसार-सागर की भँवर में फँसी हुई है, फिर भी उससे मुक्त बनने के लिए लेश भी प्रयत्न नहीं करती है ।

तृतीयभावनाष्टकम्

(गीतम्)

कलय संसारमतिदारुणं,
जन्म-मरणादिभयभीत रे ।
मोहरिपुणेह सगलग्रहं,
प्रतिपदं विपदमुपनीत रे ।।कलय० 37।।

अर्थ :- जन्म-मरण आदि के भय से भयभीत बने हे प्राणी । तू इस संसार की अतिभयंकरता को समझ ले, मोह रुपी शत्रु ने तुझे गले से बराबर पकड़ लिया है और वह हर कदम पर तुझे आपत्ति में डाल रहा है ।।37।।

विवेचन

मोह की विडम्बना से भरा संसार

संसार-भावना के अन्तर्गत संसार के वास्तविक स्वरुप का दर्शन कराया गया है । इस संसार का बाह्य दिखावा-आडम्बर तो बहुत चित्ताकर्षक है, किन्तु भीतर से यह अति भयंकर है । यह संसार भी उन्हीं को अच्छा लगता है, जो मोह के नशे में हैं । वे शत्रु स्वरुप मोह को भी मित्र समझ बैठे हैं ।

- सुना है कि एक किसान के पशु हरी घास को खाने के इतने आदी हो गए थे कि यदि कोई उन्हें शुष्क घास डालता तो वे उस ओर मुँह भी नहीं करते ।

एक बार उस नगर में भयंकर दुष्काल पड़ा । उस किसान के पास हरे घास की तंगी हो गई । अपने पशुओं को बचाने के लिए उसने कुछ सूखा घास खरीद लिया और पशुओं को डाला । किन्तु किसी ने उसमें अपना मुँह नहीं डाला । मालिक को आश्चर्य हुआ-यह क्या बात है ? कोई घास नहीं खा रहा है । अन्त में किसी मित्र ने सलाह दी कि ये हरी घास को खाने के आदी हो गए हैं, अतः ये सूखी घास की ओर नजर भी नहीं कर रहे हैं । अतः इनकी आँखों पर हरे रंग के काच बँधवा दो, फिर देखो इसका कमाल ।

किसान ने वैसा ही किया और तत्काल वे पशु उस सूखी घास पर टूट पड़े ।

बस ! यही हालत है इस संसार में संसारी जीवात्मा की । मोह के नशे के कारण उसे इस संसार की भयानकता समझ में ही नहीं आती है ।

सम्पूर्ण विश्व के समस्त प्राणियों पर मोहराजा एकछत्र राज्य करना चाहता है । एकमात्र धर्मराजा तीर्थंकर परमात्मा की शरण में गए प्राणियों पर ही उसका कोई अधिकार नहीं चलता है । शेष प्राणियों को तो वह नाना प्रकार से परेशान करता रहता है । उसने जीवात्मा को गले से ही पकड़ लिया है और वह जीवात्मा को जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक आदि नाना प्रकार की पीड़ाएँ देता रहता है ।

जीवात्मा को जन्म की पीड़ा पसन्द नहीं है ।

जीवात्मा को मृत्यु का दुःख नापसन्द है ।

जीवात्मा को वृद्धावस्था की वेदनाएँ प्रिय नहीं हैं । वह सुख चाहता है और दुःख से मुक्त बनना चाहता है । परन्तु वह संसार से मुक्त बनना नहीं चाहता है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. हमें सम्यग्बोध देते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम इस संसार की भयंकरता को समझ लो । यह संसार नाना प्रकार की यातनाओं का घर है । वास्तविक सुख तो मुक्ति में ही है । अतः इस मोह के नशे का त्याग कर दो ।

स्वजनतनयादिपरिचयगुणै-
रिह मुधा बध्यसे मूढ रे ।
प्रतिपदं नवनवैरनुभवैः ,
परिभवैरसकृदुपगूढ रे ।।कलय० 38।।

अर्थ :- हे मूढ़ ! स्वजन तथा पुत्र आदि की परिचय रुपी डोरी से तू व्यर्थ ही अपने आपको बाँध रहा है । तू कदम-कदम पर नये-नये अनुभवों के द्वारा अनेक प्रकार के पराभवों से घिरा हुआ है ।। 38 ।।

विवेचन

स्वजन का प्रेम झूठा है

स्वजन अर्थात् आत्मीयजन । सच्चा स्वजन तो वह है जो अपनी आत्मा का हित करे, बाकी तो सब परजन ही हैं । परन्तु मोह के नशे में आत्मा स्वजन-परजन की इस सच्ची व्याख्या को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो पाती है, वह तो देह के सम्बन्धियों को ही स्वजन स्वीकारने के लिए तैयार है । आत्मा का निरन्तर हित चाहने व करने वाले देव-गुरु और धर्म को वह सच्चा स्वजन मानने के लिए तैयार ही नहीं है । इसी कारण दुनिया में हम देखते हैं कि स्वसन्तान व स्वकुटुम्ब के लिए लाखों रुपये खर्च करने वाले भी देव-गुरु और धर्म के लिए एक रुपया भी प्रेम से खर्च करने के लिए तैयार नहीं हो पाते हैं । धर्म में खर्च आते ही वे अपना मुँह मोड़ लेते हैं । ऐसा क्यों ? इसका कारण यही है कि धर्म के प्रति उनके हृदय में आत्मीय सम्बन्ध नहीं हो पाया है ।

स्वजन-पुत्र-परिवार के मोह में व्यक्ति इतना अन्धा हो जाता है कि वह भावी का विचार ही भूल जाता है । कवि ने ठीक ही कहा है–

पूत कपूत तो क्यों धन-संचय ?

पूत सपूत तो क्यों धन संचय ?

सन्तान यदि कपूत है तो उसके लिए धन का संचय करना मूर्खता ही है । वह तो पिता के धन को भी विनाश के मार्ग में नष्ट कर देगा और सन्तान यदि सपूत है तो उसके लिए भी धन का संचय करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सपूत सन्तान ही तो सच्चा धन है । पुत्र यदि सपूत है तो वह अपनी सज्जनता के बल से अपना गुजारा आसानी से चला सकेगा और वह अपने पिता की भी सेवा अदा करेगा ।

परन्तु मोह से मूढ़ बनी आत्मा की तो बात ही कुछ और है । जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन होते हुए भी वह **'हाय' 'हाय'** करता रहेगा और अन्याय-अनीति से किसी भी तरह धन के संग्रह का प्रयास जारी रखेगा ।

स्वजन, पुत्र, परिवार की तीव्र आसक्ति के परिणामस्वरुप जीवात्मा को क्या मिलता है ? एकमात्र तिरस्कार व अपमान के कटु अनुभव ही ।

श्रेणिक महाराजा के हृदय में अपनी बाल सन्तान कोणिक के प्रति कितना अधिक प्रेम था ! लेकिन उसे बदले में क्या मिला ? एकमात्र भयंकर कारावास की सजा ही न !

समरादित्य-चरित्र में पिता सिंह महाराजा और पुत्र आनन्दकुमार की बात आती है । आनन्द के जन्म के बाद उसकी माँ उसे मार डालना चाहती थी, परन्तु सिंह महाराजा ने उसे बचा दिया था । तत्पश्चात् पिता ने पुत्र को प्रेम दिया.....स्नेह दिया और अन्त में राज्य देने के लिए तैयार हो गया । परन्तु पुत्र ने बदले में क्या दिया ? अति भयंकर कारावास की सजा और अन्त में मौत ही न !

इस संसार में समस्त रिश्ते-नाते स्वार्थ से भरे हुए हैं । पुत्र भी पिता को तभी तक प्रेम करता है, जब तक उसकी शादी न हो जाय अथवा उसे पिता से धन पाने की आशा है । ज्योंही उसकी यह आशा टूट जाती है, त्योंही उसका प्रेम समाप्त हो जाता है ।

जब तक पिता युवान होते हैं, तब तक उसकी सन्तान भी उससे प्रेम करती है, उसकी आज्ञा मानती है, परन्तु ज्योंही पिता भयंकर रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं अथवा वृद्धावस्था से कमजोर बन जाते हैं, तब वे ही पुत्र उस पर हुकूमत चलाते हैं और उस बूढ़े को पुत्र के इशारों पर चलना पड़ता है ।

राज्य की लिप्सा से औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद करवा दिया था ।

संसार के सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हैं । अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भाई, भाई की हत्या के लिए; पति, पत्नी की हत्या के लिए और पुत्र, पिता की हत्या के लिए भी तैयार होते देखे गए हैं ।

घटयसि क्वचन मदमुन्नतेः,
क्वचिदहो हीनतादीन रे ।
प्रतिभवं रुपमपरापरं,
वहसि बत कर्मणाधीन रे ।।कलय० 36।।

अर्थ :- तू कभी-कभी उन्नति के अभिमान की कल्पना करता है तो कभी हीनता के विचारों से दीन बन जाता है । कर्म की पराधीनता से हर भव में नये-नये रुपों को धारण करता है ।।36।।

विवेचन

उतार-चढ़ाव से भरा संसार

इस संसार में जीवात्मा कर्मसत्ता के अधीन है । कर्म के नियम का उल्लंघन करने की उसमें लेश भी शक्ति नहीं है । कर्म उसे जहाँ ले जाता है, उसे वहीं जाना पड़ता है । कभी चौदह राजलोक के एक कोने में एकेन्द्रिय के रुप में जन्म लेता है तो कभी दूसरे कोने में । कभी नारक बनकर परमाधामी की भयंकर यातनाओं को सहन करता है तो कभी तिर्यंच में पराधीन अवस्थाएँ प्राप्त करता है ।

कभी-कभी कर्म ही उसे सुख के साधन देता है और फिर उसे दुःख के भयंकर गर्त में डाल देता है ।

इस प्रकार सोचेंगे तो ख्याल में आएगा कि दुनिया में जो कुछ भी जीवों की हल्की अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं, उन सब अवस्थाओं में से अपनी आत्मा गुजरी हुई है । ऐसी स्थिति होने के बावजूद भी थोड़े से शुभकर्म के उदय से जीवात्मा को अनुकूल सामग्रियाँ मिलती हैं, तो वह उसमें पागल सा हो जाता है । वह यह मान लेता है कि मुझे प्राप्त हुई अनुकूल सामग्री तो सदा रहने वाली है । इस भ्रम के कारण वह नाना प्रकार की कल्पनाएँ कर लेता है ।

शेखचिल्ली की बात याद आ जाती है । अत्यन्त गरीबी में वह अपने दिन गुजार रहा था । उसके घर पर एक बकरी थी । एक दिन वह अपने सिर पर मिट्टी की हांडी में बकरी का दूध भरकर उसे बेचने के लिए बाजार जा रहा था । रास्ता कुछ ऊबड़-खाबड़ था । शहर का मार्ग कुछ लंबा था, अतः शेखचिल्ली विचारों में डूब गया और सोचने लगा-

``इस दूध को बेचूंगा.....एक रुपया मिलेगा.....बाजार से चने खरीद लूंगा और उन्हें पाठशाला के बच्चों में बेच दूंगा.....फिर मैं दूसरी बकरी खरीदूंगा, फिर धीरे-धीरे मेरे पास.....50 रु. हो जाएंगे, उससे एक

गाय खरीद लूंगा.....जिससे अधिक दूध मिलेगा.....उस दूध को रोज बेचूंगा.....धीरे-धीरे मेरे पास ज्यादा गायें हो जाएंगी.....फिर भैंस खरीद लूंगा.....वह बहुत दूध देगी.....फिर मैं धीरे-धीरे दूध का व्यापारी बन जाऊंगा.....मेरे पास काफी धन हो जाएगा.....फिर अच्छी सुन्दर लड़की के साथ मेरी शादी होगी.....वह मेरी बीबी मेरी आज्ञा का पालन करेगी.....और यदि वह मेरी आज्ञा का पालन नहीं करेगी तो मैं उसे घर से निकाल..... ।'' और इस विचार-विचार में ही शेखचिल्ली की मिट्टी की हांडी को हाथ से जोर का धक्का लग गया और उसमें रहा सारा दूध भूमि पर फैल गया । शेखचिल्ली के सभी स्वप्न एक पल में मिट्टी में मिल गए ।

बस, यही स्थिति है संसारी जीवात्मा की । थोड़ा सा धन मिल गया.....एक सम्राट् के स्वप्न देखने लग जाएगा । थोड़ी सी इज्जत मिल गई.....विश्वपूज्य बनने के स्वप्न देखने लग जाएगा ।

और कहीं से थोड़ा सा अपमान मिल गया अथवा व्यापार में थोड़ा सा घाटा हो गया तो वह अत्यन्त दीन-हीन बन जाएगा और ऐसी कल्पनाएँ करेगा मानों पूरी दुनिया खराब है, कोई अच्छा व्यक्ति है ही नहीं ।

लेकिन मनुष्य कर्म-सत्ता का विचार करे तो वह सुख में लीनता और दुःख में दीनता की बुरी हालत से बच सकता है । परन्तु मोह के नशे में चकनाचूर बने मानव के लिए यह सोचने का अवकाश ही कहाँ है ? यदि इस प्रकार सोचने लगे तो वह अवश्य ही धीरे-धीरे कर्म-जाल से छूट सकता है ।

जातु शैशवदशापरवशो,
जातु तारुण्यमदमत्त रे ।
जातु दुर्जयजराजर्जरो,
जातु पितृपतिकरायत्त रे ।।कलय० 40।।

अर्थ :- जब तू शिशु अवस्था में था, तब अत्यन्त परवश था, जब तरुण अवस्था में आया, तब मद से उन्मत्त बन गया और जब वृद्धावस्था में आया तब जरा से अत्यन्त जर्जरित बन गया और अन्त में यमदेव के पराधीन बन गया ।।40।।

विवेचन

संसार में सर्वत्र पराधीनता

इस संसार में जीवात्मा लेश मात्र भी स्वतन्त्र नहीं है । जन्म से मृत्यु पर्यन्त उसे नाना प्रकार की पराधीनताओं को सहन करना पड़ता है । शिशु को भी माता-पिता के पराधीन रहना पड़ता है । खाने में पराधीनता, पीने में पराधीनता ।

यौवनावस्था में भी वह स्वतन्त्र कहाँ है ? यदि वह व्यापारी बनता है तो अन्य अनेक व्यापारी व ग्राहकों की पराधीनता सहन करता है । यदि वह सरकारी कर्मचारी है तो अनेक अफसरों को उसे सलाम करना पड़ता है ।

यौवन में धन की चिन्ता, पुत्र-पत्नी व परिवार की चिन्ता, मकान व भोजन की चिन्ता । इस प्रकार चारों ओर समस्याओं से वह घिरा हुआ रहता है ।

यौवन की समाप्ति के बाद वृद्धावस्था घेर लेती है, जो उसके देह के सम्पूर्ण सत्त्व का शोषण कर लेती है और वह अत्यन्त जर्जरित बन जाता है । जो यौवन के उन्माद में अनेक को मार डालने में समर्थ था, अब वृद्धावस्था में वह इतना कमजोर हो जाता है कि उसमें अपने नाक पर बैठी एक मक्खी को भी उड़ाने की शक्ति नहीं बचती है ।

कदाचित् कुछ पुण्ययोग से वृद्धावस्था में उसकी सेवा-शुश्रूषा करने वाले मिल जायें किन्तु अन्त में तो उसे कृतान्त के मुख में जाना ही पड़ता है और ज्योंही कृतान्त उसे अपनी तीक्ष्ण दाढ़ों में दबोच लेता है, उसकी हालत अत्यन्त दयनीय बन जाती है । उस हालत में उसकी पीड़ा की चीख को सुनने वाला कौन ? मात्र अकेले को ही मृत्यु की भयंकर वेदना सहन करनी पड़ती है ।

व्रजति तनयोऽपि ननु जनकतां,
तनयतां व्रजति पुनरेष रे ।
भावयन्विकृतिमिति भवगते-
स्त्यज तमो नृभवशुभशेष रे ।।कलय० 41।।

अर्थ :- इस संसार में पुत्र मरकर पिता बन जाता है और वह पिता मरकर पुनः पुत्र बन जाता है । इस प्रकार इस संसारगति की विकृति (विचित्रता) का विचार करो और इसका त्याग कर दो, अभी भी तुम्हारे इस मनुष्य-जीवन का शुभ भाग बाकी है ।।41।।

विवेचन

संसार के सम्बन्ध विचित्रता से भरे हैं

ओह ! इस संसार की यह कितनी विचित्रता है कि पुत्र मरकर पिता बन जाता है और वही पिता मरकर पुत्र बन जाता है ।

समरादित्य चरित्र में सिंह और आनन्द के भव में जो पिता-पुत्र थे, वे ही कुछ भवों के बाद पुनः पुत्र-माँ के रुप में जन्म लेते हैं ।

कुबेरसेना की घटना से शायद आप परिचित ही होंगे । एक ही भव में एक ही व्यक्ति से भिन्न-भिन्न छह-छह सम्बन्ध हो जाते हैं । वह घटना इस प्रकार है-

- मथुरानगरी में कुबेरसेना नाम की एक वेश्या रहती थी । एक बार उस वेश्या ने पुत्र-पुत्री रुपी युगल को जन्म दिया । वेश्या के मालिक ने सोचा- ``यदि यह अपनी सन्तान का लालन-पालन करेगी तो मुझे इससे आय कम होगी ।'' अतः उसने कुबेरसेना को कहा-``तू अपनी दोनों सन्तानों को पेटी में बन्द कर, उन्हें नदी में डाल दे ।'' वेश्या कुबेरसेना ने वह आज्ञा स्वीकार की और अपनी दोनों सन्तानों के दाहिने हाथ की अंगुली में एक-एक अँगूठी पहना दी । पुत्र की अँगूठी पर नाम था **'कुबेरदत्त'** और पुत्री की अँगूठी पर नाम था **'कुबेरदत्ता'** । दोनों बच्चों को पेटी में बन्द कर, वह पेटी नदी में बहा दी गई ।

श्रीपुर नगर की नदी के किनारे दो वणिक् घूमने के लिए आए हुए थे । अचानक उनकी नजर नदी में बहती हुई इस पेटी पर पड़ी । दोनों मिलकर उस पेटी को नदी किनारे लाए । पेटी को खोलकर देखा तो उसमें से दो बच्चे निकले ।

दोनों वणिक् व्यापारी थे । एक के तीन लड़कियाँ थीं और एक के चार लड़के अतः लड़की वाले वणिक् ने लड़का ले लिया और लड़के वाले वणिक्

ने लड़की ले ली । दोनों की इच्छाएँ पूर्ण हो गई थीं, दोनों खुश थे । दोनों ने उनका अपनी सन्तानवत् पालन किया ।

धीरे-धीरे कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता बड़े हुए । यौवनावस्था में आने के बाद कुबेरदत्ता के पिता को उसके वर की चिन्ता होने लगी । अन्त में उस वणिक् ने सोचा **'कुबेरदत्त'** के सिवाय इसके लिए सुयोग्य वर और कौन हो सकता है, अतः उसने अपनी पुत्री का विवाह कुबेरदत्त से करा दिया । दोनों का दाम्पत्य जीवन आनन्द से बीत रहा था । एक दिन वे दोनों चौपड़ खेल रहे थे, अचानक कुबेरदत्त की अंगुली से एक अंगूठी निकल पड़ी । कुबेरदत्ता ने नाम पढ़ा-और अपनी अंगूठी से तुलना की, दोनों समान प्रतीत हुईं । दोनों की आकृति-प्रकृति समान थी । अतः कुबेरदत्ता को कुछ लज्जा आ गई । उसने पति से अपने वास्तविक माता-पिता को जानने का आग्रह किया ।

कुबेरदत्त ने अपने पिता से कहा-``पिताजी ! सत्य कहो, मेरे वास्तविक माता-पिता कौन हैं ?''

उस वणिक् ने कुबेरदत्त को सत्य (हकीकत) बता दी ।

इस सत्य की जानकारी से कुबेरदत्ता लज्जाशील बन गई, उसे बड़ा आघात लगा और अन्त में उसने दीक्षा अंगीकार कर ली ।

कुबेरदत्त घर पर ही रहा । व्यापारादि करने लगा । उसने बहुत धन कमाया । एक दिन वह मथुरा जा पहुँचा और अन्त में कुबेरसेना वेश्या के यहाँ ठहर गया । कुबेरदत्त के संग से वेश्या कुबेरसेना ने एक पुत्र को जन्म दिया ।

ज्ञान, ध्यान और तप की साधना से कुबेरदत्ता साध्वी को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसने कुबेरदत्त व कुबेरसेना की हालत देखी और करुणा से उसका हृदय भर आया । माँ व भाई को प्रतिबोध देने के लिए वह मथुरा जा पहुँची और कुबेरसेना के घर ठहरी । उसी समय कुबेरसेना का पुत्र रोने लगा, तभी कुबेरदत्ता साध्वी संगीत के माध्यम से उस बच्चे को कहने लगी-``तू तो मेरा भाई है, मेरा पुत्र है, मेरा देवर है, मेरा भतीज है, मेरा काका है और मेरा पौत्र है ।''

यह सुनते ही कुबेरसेना को बड़ा आश्चर्य हुआ । साध्वीजी यह क्या बोल रही हैं ? उसने इसका रहस्य पूछा तब कुबेरदत्ता साध्वी ने कहा-

(1) इसकी माता और मेरी माता एक है, अतः यह मेरा भाई है ।
(2) मेरे पति कुबेरदत्त का यह पुत्र है, अतः यह मेरा पुत्र है ।
(3) मेरे पति कुबेरदत्त का छोटा भाई है, अतः यह मेरा देवर है ।
(4) मेरे भाई कुबेरदत्त का यह पुत्र है, अतः मेरा भतीज है ।
(5) कुबेरदत्त मेरी माँ का पति और उसका यह भाई अतः मेरा काका है ।
(6) और कुबेरसेना मेरी शोक्य है । कुबेरसेना का पुत्र कुबेरदत्त और उसका यह पुत्र अतः मेरा पौत्र है ।

इसी प्रकार कुबेरदत्त को कहा-

(1) हम दोनों की माँ एक है, अतः तू मेरा भाई है ।
(2) मेरी माँ का पति है, अतः मेरा पिता है ।
(3) यह बालक मेरा काका और उसका तू पिता है, अतः तू मेरा दादा है ।
(4) हम दोनों का विवाह सम्बन्ध हुआ था, अतः तू मेरा पति है ।
(5) कुबेरसेना मेरी शोक्य है और उसका तू पुत्र है, अतः मेरा भी पुत्र है ।
(6) यह बच्चा मेरा देवर है और उसका तू पिता है अतः तू मेरा श्वसुर है ।

इसी प्रकार कुबेरसेना को कहा-

(1) मुझे जन्म दिया है, अतः तू मेरी माँ है ।
(2) कुबेरदत्त मेरा पिता, उसकी तू माँ होने से मेरी दादी है ।
(3) कुबेरदत्त मेरा भाई और उसकी तू पत्नी होने से मेरी भाभी है ।
(4) मेरी शोक्य के पुत्र कुबेरदत्त की पत्नी होने से तू मेरी पुत्रवधू है ।
(5) मेरे पति कुबेरदत्त की माता होने से तू मेरी सास है ।
(6) और मेरे पति कुबेरदत्त की अन्य स्त्री होने से तू मेरी शोक्य है ।

इस प्रकार के विचित्र किन्तु वास्तविक सम्बन्धों को सुनकर सबको पश्चाताप हुआ, संसार की असारता को समझ कर सभी ने दीक्षा अंगीकार की और अपना आत्मकल्याण किया ।

जब एक ही भव में इस प्रकार के विभिन्न सम्बन्ध घट सकते हैं, तब इस अनन्त भव संसार में ये भिन्न-भिन्न सम्बन्ध घट जायें तो इसमें आश्चर्य

ही क्या है ! ज्ञानियों का वचन है कि इस अनन्त संसार में सभी जीवों के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध हमारी आत्मा ने किये हैं, अतः किसी सम्बन्ध-विशेष का राग करना केवल मूर्खता ही है ।

यत्र दुःखार्तिगददवलवै-
रनुदिनं दह्यसे जीव रे ।
हन्त तत्रैव रज्यसि चिरं,
मोहमदिरामदक्षीव रे ।।कलय० 42।।

अर्थ :- मोह की मदिरा के पान से नष्टबुद्धि वाले हे जीवात्मा ! खेद है कि जहाँ पर दुःख की पीड़ा के दावानल से तू निरन्तर जला है, उसी स्थान में तू दीर्घकाल से राग करता है ।।42।।

विवेचन

मोह का नशा

एक मनुष्य जो सुगन्ध से प्रेम करता है और दुर्गन्ध से घृणा करता है, परन्तु वही व्यक्ति जब शराब की बोतल चढ़ा लेता है और लड़खड़ाता हुआ गटर में गिर पड़ता है, तब उसे कीचड़ अथवा गन्दगी से लेश भी घृणा नहीं होती है, उस कीचड़ में लोटने में उसे आनन्द आता है ।

बस, यही स्थिति है संसारी जीवात्मा की भी । मोह के नशे में चकचूर होने के कारण जिस स्थान से उसने पूर्व में दुःख पाया है, उसी स्थान में आसक्त बन जाता है ।

उसे पता है कि एक विवाह के कारण उसे कितने कष्ट सहन करने पड़े हैं ? परन्तु ज्योंही एक पत्नी की मृत्यु हो जाती है, पुनः दूसरी शादी करने के लिए वह तैयार हो जाता है ।

जैसे चोरी करने का आदी बना व्यक्ति, चोरी की सजा को जानते हुए भी चोरी करने से रुकता नहीं है ।

कैंसर व अन्य रोगों की सम्भावना होने पर भी सिगरेट का व्यसनी धूम्रपान का त्याग करने में समर्थ नहीं हो पाता है ।

इसी प्रकार से मोह के मदिरापान के कारण विवेकभ्रष्ट जीवात्मा सुख की चाहना रखते हुए भी दु:ख के साधनों को पाने के लिए ही दौड़ लगाता रहता है और अन्त में दु:ख पाता है ।

धन की आसक्ति के कारण जो अनीति की, उसके फल से जीवात्मा परिचित है । भोग की आसक्ति से जो व्यभिचार किया, उसके फल से जीवात्मा परिचित है । शराब की आसक्ति से जो मदिरापान किया, उसके फल से जीवात्मा परिचित है, फिर भी आश्चर्य है कि जीवात्मा उन बुरे व्यसनों से बच नहीं पाता, यही तो मोह का नशा है । इस नशे को अब उतारना ही होगा, तभी दुर्लभता से प्राप्त मानव-जीवन सार्थक बन सकता है ।

दर्शयन् किमपि सुखवैभवं,
संहरंस्तदथ सहसैव रे ।
विप्रलम्भयति शिशुमिव जनं,
कालबटुकोऽयमत्रैव रे ।।कलय० 43।।

अर्थ :- यह काल रुपी बटुक जीवात्मा को थोड़ा सा सुख-वैभव दिखाकर, पुनः उसे खींच लेता है, इस प्रकार यह काल जीवात्मा को बालक की भाँति ललचाता रहता है ।।43।।

विवेचन

कुत्ते को फँसाने के लिए उसे रोटी के टुकड़े का लालच दिया जाता है ।

चूहे को पिंजरे में फँसाने के लिए उसमें रोटी का टुकड़ा रखा जाता है ।

गाय को अपनी ओर खींचने के लिए घास के पूले की लालच दी जाती है ।

.....और ! बेचारे ये प्राणी थोड़े से लोभ में आकर मानव के चंगुल में फँस जाते हैं ।

परन्तु मानव भी सुरक्षित कहाँ बचा है ? उसको भी नीचे गिराने के लिए मोहराजा ने उसे **'भौतिक-सुख'** का लालच दिया है ।

'सुख' का नाम सुनते ही मनुष्य पागल हो जाता है और **'मृगजल'** समान उसे पाने के लिए निरन्तर दौड़ लगाता रहता है ।

थोड़ा सा धन मिला, मानव उसकी मस्ती में पागल हो जाता है और नये-नये सुखों की कल्पना के महल खड़े कर लेता है । अब तो मेरे पास इतना धन है, इससे मैं बड़ा बंगला खरीद लूंगा.....फिर एक कार खरीद लूंगा.....मनचाहे स्थान पर घूमने जाऊंगा.....और इस प्रकार इस दुनिया में मैं सबसे बड़ा और सुखी हो जाऊंगा । सभी लोग मेरी पृच्छा करेंगे.....मुझे सेठ कहेंगे, इत्यादि नाना प्रकार की कल्पनाओं के जाल को गूंथ लेता है ।

अपनी इस कल्पना को साकार करने के स्वप्न संजोए जब वह बैठता है, तब तक तो यमराज उसका सर्वस्व छीन लेता है और उसे एक रंक की हालत में डाल देता है ।

करोड़ों की सम्पत्ति वाले सेठ से मृत्यु उसका सर्वस्व-सम्पत्ति छीन लेती है और उस करोड़पति को वह रोडपति बना देती है ।

सकल-संसारभयभेदकं,
जिनवचो मनसि निबधान रे ।
विनय परिणमय निःश्रेयसं,
विहित-शमरस-सुधापान रे ।।कलय० 44।।

अर्थ :- हे विनय ! संसार के समस्त भयों को भेद देने वाले जिनवचन को हृदय में धारण करो । शान्त रस का अमृतपान कर अपने आपको निःश्रेयस् में बदल दो ।।44।।

विवेचन

अनमोल है जिन-वाणी !!

संसार के इस भीषण स्वरुप को जानकर अब क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर **पूज्य उपाध्यायजी म.** अन्तिम गाथा में दे रहे हैं, वे अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! यदि तू परम शान्ति और परम आनन्द पाना चाहता है तो जिनवचनों को अपने हृदय में धारण कर । यही जिनवचन समस्त शान्ति का स्रोत हैं । यही परमानन्द की गंगा का

उद्गम-स्थल है । जिनवचन में ही संसार के समस्त भयों को विच्छेद करने की ताकत रही हुई है ।

भयंकर खूनी दृढ़प्रहारी को साधु बनाने वाले जिन-वचन ही थे ।

भयंकर हत्यारे अर्जुनमाली को शान्तात्मा बनाने वाले भी जिन-वचन ही थे ।

भयंकर पापात्मा चिलातिपुत्र को धर्मात्मा बनाने वाले भी ये ही जिन-वचन थे ।

अत्यन्त क्रोधी चण्डकौशिक नाग को क्षमाशील बनाने वाले ये ही जिन-वचन थे ।

जिसने जिन-वचन का आदर किया.....उनका बहुमान किया, उसके लिए त्रिभुवन की लक्ष्मी हथेली पर है । यहाँ तक कि मोक्ष भी उसके लिए हाथबेंत में है ।

जिनाज्ञा के प्रति समर्पित आत्मा के लिए संसार का कोई सुख-वैभव दुर्लभ नहीं है ।

जिसने जिनाज्ञा की शरणागति स्वीकार कर ली, उस पर शासन करने में मोह भी घबराता है । **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं.....'** का नियम अब उस आत्मा पर लागू नहीं पड़ता है । वह आत्मा तो आसानी से परमपद की भोक्ता बन जाती है ।

राजगृही नगरी में मरण-शय्या पर पड़े कुख्यात डाकू लोहखुर ने अपने बेटे रोहिणेय को कहा-`बेटा ! मेरी एक बात स्वीकार करेगा ?'

उसने कहा-`पिताजी ! फरमाइये । आपकी आज्ञा की खातिर तो प्राणों का बलिदान करने के लिए भी तैयार हूँ ।'

पिता ने कहा-`बस, जीवन में एक बात का ख्याल रखना-भूलकर भी महावीर की वाणी का श्रवण मत करना ।'

रोहिणेय ने पिता को वचन दे दिया और लोहखुर ने अपने प्राण छोड़ दिये ।

रोहिणेय भयंकर डाकू तो था ही, वह अब डकैती में विशेष निष्णात हो गया । राजगृही की समस्त प्रजा रोहिणेय के भय से आतंकित थी । श्रेणिक के सिपाही भी उसे पकड़ने में असमर्थ थे ।

इसी बीच रोहिणेय जंगल में से गुजर रहा था, पास में ही प्रभु महावीर परमात्मा देशना दे रहे थे । देशना-श्रवण नहीं करने की प्रतिज्ञा होने से रोहिणेय अपने दोनों कानों में अंगुली डालकर तेजी से भागा । बीच मार्ग में ही एक पैर में काँटा लग जाने से उसे एक कान में से अंगुली निकालनी पड़ी और अफसोस ! प्रभु की वाणी उसे अनचाहे भी सुननी पड़ी । प्रभु देव के स्वरूप का वर्णन कर रहे थे । रोहिणेय प्रभु की वाणी को भूलना चाहता था, किन्तु भूल न सका । .....उस वाणी ने उसे मौत से बचा लिया, जब अभयकुमार उसे युक्तिपूर्वक फँसाना चाहता था.....प्रभु की उस वाणी से वह अभयकुमार के मायाजाल को समझ गया और अभयकुमार के चंगुल में फँसने से बच गया ।

रोहिणेय मौत के मुख में जाने से बच गया.....। किन्तु इस घटना ने रोहिणेय का हृदय परिवर्तित कर दिया, उसके रोम-रोम में प्रभु महावीर के प्रति भक्तिभाव जाग उठा और अन्त में उसने अपने आपको प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया ।

रोहिणेय डाकू संत-महात्मा बन गया । यह है प्रत्यक्ष प्रभाव प्रभु-वाणी का ।

यह जिनवाणी तो संसार को भेदने में समर्थ है । अतः हे प्रिय आत्मन् ! जिनवाणी को आत्मसात् कर, निःश्रेयस् (मोक्ष) को निकट लाने वाले शांत सुधारस का पान कर ।

4 एकत्व भावना

एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञानदर्शनतरङ्गसरङ्गः ।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद् व्याकुलीकरणमेव ममत्वम् ।।45।।

(स्वागता)

अर्थ :- यह एक आत्मा ही भगवान है, जो ज्ञान-दर्शन की तरंगों में विलास करने वाली है । इसके सिवाय अन्य समस्त कल्पना मात्र है । ममत्व आकुल-व्याकुल करने वाला है ।।45।।

विवेचन

आत्मा का मौलिक स्वरुप

अनित्य, अशरण तथा संसार भावना के बाद हम आत्मा के स्वरूप-चिन्तन रुप एकत्व भावना का विचार करेंगे । अनित्यादि भावनाओं में सांसारिक पदार्थों के स्वरुप का चिन्तन किया था । संसार भावना में आत्मा के परिभ्रमण का विचार किया, अब इस भावना में आत्मा का मूल स्वरुप क्या है ? और इसके परिभ्रमण का क्या कारण है ? इस सन्दर्भ में विचार करेंगे ।

एकत्व भावना के सन्दर्भ में एक दृष्टान्त याद आ जाता है –

- एक भयंकर जंगल था । उस जंगल में अनेक जंगली जानवर रहते थे । एक दिन एक गर्भवती सिंहनी जंगल को पार कर किसी नगर के उपखण्ड में जा पहुँची । सिंहनी को प्रसूति की वेदना होने लगी और उसने अत्यन्त वेदना के साथ एक बच्चे को जन्म दिया । बच्चे के जन्म के साथ ही सिंहनी ने अपने प्राण छोड़ दिये । सिंहनी का छोटा सा बच्चा अपनी माँ के इर्दगिर्द बैठा था, तभी पास से एक गड़रिया निकला, उसने मरी हुई सिंहनी और पास में खड़े उस बच्चे को देखा । उसने सोचा-``माँ के बिना सिंह का यह बच्चा मर जाएगा'' ऐसा सोच उसने उस बच्चे को कंधों पर उठा लिया और उसे अपने घर ले आया ।

उस गड़रिये ने बड़े ही प्रेम से उसे दूध पिलाया । सिंह का बच्चा

प्रसन्न था । गड़रिया अपनी भेड़ों के साथ उसे भी जंगल में चराने ले जाता । इस प्रकार आस-पास भेड़ ही भेड़ होने से वह सिंह का बच्चा भी अपने आपको भेड़ समझने लगा और उनके साथ घास-चारा आदि खाने लगा ।

एक वर्ष व्यतीत हुआ । एक दिन गड़रिया अपनी भेड़ों को नदी पर पानी पिला रहा था, तभी पर्वत की चोटी पर खड़े एक सिंह ने भयंकर गर्जना की । सिंह की इस गर्जना को सुनते ही सभी भेड़ें भागने लगीं और सिंह का बच्चा भी उन भेड़ों के साथ भागने लगा ।

सिंह ने अपनी आँखों से यह दृश्य देखा । **'भेड़ों की तरह यह सिंह क्यों भाग रहा है ?'** इस प्रश्न ने उसे बेचैन कर दिया । सिंह तेजी से पर्वत के नीचे आया और उसने उस सिंह के बच्चे को रोक कर कहा-``तुम क्यों भाग रहे हो ? सिंह होते हुए तुम इतने डरपोक कैसे बन गए ?''

सिंह के ये प्रश्न सुनते ही सिंह का बच्चा विचार में पड़ गया-``मैं तो भेड़ हूँ, मुझे यह सिंह कैसे कह रहा है ?''

सिंह ने सोचा-``यह भ्रम में है, अतः इसे नदी किनारे ले जाना चाहिए ।''

सिंह उस बच्चे को नदी किनारे ले गया और नदी के जल में उसने अपना तथा उसका प्रतिबिम्ब दिखलाया ।

ज्योंही सिंह के बच्चे ने अपना प्रतिबिम्ब देखा, त्योंही वह उछल पड़ा ``अहो ! मैं भी सिंह हूँ-और इसके साथ ही उसकी दीर्घकाल से घर कर गई कायरता दूर भाग गई, शौर्य प्रगट हो गया और उसने सिंह की भाँति ही गर्जना कर दी ।''

अब आप बतला सकोगे न कि उस सिंह के बच्चे में शौर्य कहाँ से आया ? जवाब यही होगा-``जब उसे स्व स्वरूप का भान हो गया ।'' स्व स्वरूप के ज्ञान के साथ ही सिंह के बच्चे की सुषुप्त शक्ति जागृत हो गई ।

बस, इस एकत्व भावना में भी हमें यही जानने का है कि **'मैं एक आत्मतत्त्व हूँ'**, ज्ञान-दर्शन और चारित्र ही मेरी सम्पत्ति है । इसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ मुझ से भिन्न हैं ।

अन्य पदार्थों में रही हुई ममता ही आत्मा को परेशान करती है ।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने ठीक ही कहा है-

'अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।'

पर-वस्तु में **'अहं'** और **'मम'** की बुद्धि ही मोह का मंत्र है, जो समस्त जगत् को अंधा करने वाला है ।

अपनी आत्मा तो अकेली है और अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न है । वह स्वयं सुख का महासागर है । इस सुख का कितना ही भोग किया जाय वह कभी समाप्त होने वाला नहीं है ।

अबुधैः परभावलालसालसदज्ञानदशावशात्मभिः ।
परवस्तुषु हा स्वकीयता, विषयावेशवशाद् विकल्प्यते ।।46।।

(प्रबोधता)

अर्थ :- पर-भाव को पाने की लालसा में पड़ी हुई अज्ञान-दशा से पराधीन अपण्डित आत्मा, इन्द्रिय-विषयों के आवेग के कारण पर-पदार्थों में भी आत्मबुद्धि (स्वकीयता-अपनापन) की कल्पना कर लेती है ।।46।।

विवेचन

अज्ञानता का प्रभाव

अज्ञानता के कारण प्राणी इन्द्रियों के विषयजन्य सुख को सच्चा सुख मान बैठता है और फिर उसके पीछे दौड़धूप करता है । उसकी यह दौड़धूप निरन्तर चलती रहती है । परपदार्थ में वह आत्मबुद्धि कर उन्हें अपना मान लेता है । परपदार्थों में आत्मबुद्धि हो जाने के बाद वह उन पदार्थों को पाने के लिए दिन-रात मेहनत करता रहता है । कुछ मिल जाय तो उसके संरक्षण की चिन्ता में आकुल-व्याकुल रहता है । इस प्रकार सतत पर-भाव में रमणता के कारण वह अपना वास्तविक स्वरुप भूल जाता है और निरन्तर दुःख के गर्त में डूबता जाता है ।

ठीक ही कहा है-

परस्पृहा महादुःखं, निस्पृहत्वं महासुखम् ।

पर-पदार्थों की स्पृहा-लालसा ही आत्मा को दुःखी बनाती है और उनके प्रति रही निस्पृहता आत्मा को सुखी करती है ।

परन्तु अज्ञानदशा के कारण आत्मा स्व-स्वरुप को जानने में अन्ध सी

बन जाती है और भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़धूप करती रहती है ।

रेती को पीस कर कोई तेल निकालना चाहे अथवा पत्तों का सिंचन कर वृक्ष को हरा-भरा रखना चाहे; यह कैसे सम्भव है ?

जो आत्मा से भिन्न हैं, उनके प्रति राग व आसक्ति से आत्मा कभी सुखी नहीं हुई है । उससे तो आत्मा विविध दुःखों की भोक्ता ही बनी है ।

पर-भाव में आत्मवत् बुद्धि होना ही सबसे बड़ी अज्ञानता है और यह अज्ञानता ही सर्व दुःखों की मूल है । कहा भी है-

धन भोगों की खान है, तन रोगों की खान ।
ज्ञान सुखों की खान है, दुःख खान अज्ञान ।।

पर-पदार्थों में रही हुई आत्मवत् बुद्धि को दूर कर स्वभाव में लीन बनना, यही परमानन्द की प्राप्ति का मार्ग है और उसी के लिए हमारा प्रयास होना चाहिए ।

कृतिनां दयितेति चिन्तनं, परदारेषु यथा विपत्तये ।
विविधार्तिभयावहं तथा, परभावेषु ममत्वभावनम् ।।47।।

अर्थ :- जिस प्रकार परस्त्री में स्वस्त्री की कल्पना बुद्धिमान् पुरुष के लिए आपत्ति का कारण बनती है, उसी प्रकार अन्य वस्तु में अपनेपन की भावना (ममत्वबुद्धि) विविध पीड़ाओं को लाने वाली ही होती है ।।47।।

विवेचन

पर-भाव में रमणता भयंकर है

परस्त्री की ओर जो नजर करता है, उसके साथ संग करने के लिए प्रयत्न करता है, उसकी हालत खराब ही होती है । **'दशवैकालिक'** में ठीक ही कहा है-

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वाया विध्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ।।

सती राजीमती रथनेमि को कहती है कि-``हे रथनेमि ! यदि तुम इस प्रकार राग भाव का सेवन करते रहोगे तो जब-जब स्त्री को देखोगे, तब-तब पवन से स्फुरित होने वाली हड नामक वनस्पति की तरह तुम अस्थिर

(आत्मा वाले) बन जाओगे ।''

अर्थात् जिसका मन परस्त्री में रंजित बना है, वह अपनी आत्म-स्थिरता खो देता है । उसके मन में नाना प्रकार के विकल्प चलते रहते हैं और इस प्रकार वह सदैव अशान्त-अस्थिर दशा में रहता है ।

परस्त्री व्यसनी की समाज में भी इज्जत नहीं होती है, लोग उसे हल्की नजर से देखते हैं ।

बस, इसी प्रकार आत्मगुणों को छोड़कर पर-पदार्थों में ममत्व करना एकमात्र आपत्ति का ही कारण है । पौद्गलिक पदार्थ आत्मा से पर हैं । अतः परपदार्थ की ओर नजर डालना.....उनसे प्रेम करना यह परस्त्रीगमन की तरह ही है, जो अनेक आपत्तियों को लाने वाला है । इस संसार-भ्रमण का भी मुख्य कारण जो अपना नहीं है, उसमें अपनेपन की बुद्धि ही है ।

परभाव में रमण की यह कितनी भयंकर सजा है कि **'अजन्मा'** स्वभाव वाले आत्मा को जन्म लेना पड़ता है । **'अमर'** स्वभाव वाली आत्मा को मरना पड़ता है ।

अधुना परभावसंवृतिं हर चेतः परितोऽवगुण्ठितम् ।
क्षणमात्मविचारचन्दन-द्रुमवातोर्मिरसाः स्पृशन्तुमाम् ।।48।।

अर्थ :- हे मन ! चारों ओर से घिरे हुए पर-भाव रुप आवरण को तूँ दूर हटा दे, ताकि आत्मचिन्तन रुप चन्दन वृक्ष के पवन की उर्मि के रस का क्षणभर के लिए मुझे स्पर्श हो जाय ।।48।।

विवेचन

आत्मचिन्तन का आनन्द

शुभ-अशुभ विचारों का उद्गमस्थल मन ही है । आचार का मूल भी विचार ही है । अधिकांशतः मनुष्य की प्रवृत्ति उसके मन की वृत्ति के अनुसार होती है । किसी भी कार्य को साकार रुप देने के पूर्व सर्वप्रथम मन में विचार पैदा होता है । तत्पश्चात् मन के भाव वाणी द्वारा व्यक्त होते हैं और फिर वे

विचार क्रियात्मक भाव धारण करते हैं ।

परभाव में अपनी रमणता का मूल अपना मन ही है । मन यदि समझ जाय तो सद्विचार की ओर मुड़ सकता है । अतः मन को समझाते हुए पूज्य उपाध्यायजी कहते हैं कि हे मन ! तेरे चारों ओर पर-भाव की रमणता का मोटा-काला पर्दा रहा हुआ है, इस पर्दे को तू हटा दे । इस पर्दे के हटने के साथ ही तुझे स्वरमणता का आस्वादन होगा, जो चन्दन वृक्ष के पास से बहते हुए शीतल पवन की भाँति आनन्ददायी होगा ।

आत्मस्वरूप के चिन्तन से जीवात्मा को चन्दन से भी अधिक शीतलता का अनुभव होता है । आत्म-रमणता के आनन्द की मस्ती कुछ और ही होती है, वह शब्दातीत है, उसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है । शक्कर के स्वाद को शब्दों मे कहना अशक्य है, उसी प्रकार आत्मानन्द की मस्ती को शब्दों से नहीं कह सकते हैं ।

आत्मा तो अक्षय सुख का सागर है । उसके निकट जाते ही परम शान्ति की शीतल लहरों का अनुभव होगा ।

अतः हे मन ! तू पर-भाव को छोड़ दे । आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, उसका तू विचार कर, चिन्तन कर, जिससे तुझे परम आह्लाद की प्राप्ति होगी । एक क्षण भर का भी आत्मविचार परम शान्ति का बीज है, अतः तू उसी में डूब जा ।

एकतां समतोपेता-मेनामात्मन् विभावय ।
लभस्व परमानन्द-सम्पदं नमिराजवत् ।।49।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- हे आत्मन् ! समत्व से युक्त एकता का तू भावन कर, जिससे नमि राजर्षि की तरह तुझे परमानन्द की सम्पत्ति प्राप्त होगी ।।49।।

विवेचन

समतायुक्त एकत्व भावना का प्रभाव

समता आत्मा का स्वभाव है । समता अर्थात् माध्यस्थ दशा । न इष्ट का राग और न अनिष्ट का द्वेष । न मित्र पर प्रेम और न शत्रु के प्रति घृणा । न स्वर्ण की आसक्ति और न ही तृण का तिरस्कार ।

सर्व अवस्थाओं में माध्यस्थ रहना यह आत्मा का स्वभाव है । इस स्वभाव की प्राप्ति से आत्मा वीतराग बन जाती है और मोह के जाल से सर्वथा मुक्त हो जाती है । मोह से मुक्त आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाती है और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आत्मा अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के उपयोग में लीन रहती है । वह सुख के महासागर में डूब जाती है । इस संसार के समस्त सुखी प्राणियों का सुख इकट्ठा किया जाय तो भी वह सुख एक सिद्धात्मा के एक आत्मप्रदेश द्वारा अनुभूत सुख के बराबर भी नहीं है । आत्मसुख के आगे इन्द्र और चक्रवर्ती के सुख भी नगण्य हैं ।

इस आत्मसुख की प्राप्ति आत्मा की एकता के भावन से होती है ।

एकता के भावन में नमि राजर्षि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है, जो निम्नानुसार है-

वेदना में से विराग की ज्योति प्रगटाने वाले नमिराजा मिथिला के अधिपति थे । सती मदनरेखा के सुपुत्र नमिराजा छह मास से भयंकर वेदना से ग्रस्त थे । अनेक उपचारों के बावजूद भी उनके स्वास्थ्य में लेश भी सुधार नहीं हो रहा था ।

समय-समय की बात है, एक बार के अत्यन्त सुखी नमिराजा आज दुःख की आग में तपे जा रहे थे ।

राजसिंहासन पर बैठने वाले नमिराजा शय्या पर पड़े-पड़े अपनी वेदना भोग रहे थे ।

नमिराजा के देह की रक्षा के लिए सैकड़ों वैद्य प्रयत्नशील थे.....परन्तु वेदना में थोड़ा भी अन्तर नहीं पड़ रहा था.....। अन्त में एक उपचार उन्हें लागू पड़ गया । चन्दन के लेप से उन्हें शीतलता का अनुभव होने लगा.....और नमिराजा की शान्ति से सभी के चेहरे प्रसन्न बन गए । राजरानियाँ आदि सभी महाराजा की शान्ति के लिए चन्दन घिसने लगीं । सैकड़ों रानियाँ निरन्तर चन्दन घिस रही थीं, इस प्रकार चन्दन घिसते समय राजरानियों के हाथों में रहे कंकण परस्पर टकराकर आवाज करने लगे । कंकण के टकराने से उत्पन्न ध्वनि को सहन करने में नमिराजा अशक्त हो चुके थे, अतः वे चिल्ला उठे-``अहो ! आज मेरे सब दुश्मन बन गए । इस प्रकार कर्णभेदी आवाज क्यों हो रही है ?''

महाराजा के भाव को जानते ही सभी महारानियों ने अपने हाथों में से एक कंकण को छोड़, शेष कंकण उतार दिये और थोड़ी ही देर बाद कंकण की मर्मभेदी ध्वनि शान्त हो गई । फिर भी राजरानियाँ जोरों से चंदन घिसे जा रही थीं ।

तभी महाराजा ने कहा-``मंत्रीश्वर ! क्या चन्दन का घिसना बन्द हो गया है, वही तो मेरा जीवन है.....देखो, अभी चन्दन घिसने की आवाज तो नहीं आ रही है ।''

मंत्री ने कहा-``राजन् ! चन्दन के विलेपन के प्याले तैयार हैं । चन्दन का घिसना बंद नहीं हुआ है, किन्तु महारानियों ने अपने हाथों में से एक कंकण को छोड़ शेष कंकण उतार दिये हैं, अतः उनकी आवाज बन्द हो गई है । जहाँ दो कंकण टकराते हैं, वहाँ आवाज होती है और जहाँ एक ही कंकण होता है, वहाँ आवाज का प्रश्न ही नहीं है ।''

मंत्रीश्वर की यह बात सुनते ही नमि महाराजा को आत्म-चिन्तन की नई दिशा मिल गई । वे सोचने लगे-``एक में शान्ति, अनेक में अशान्ति ।''

वेदना की आग में से नमिराजा की अन्तश्चेतना जागृत हो गई और अपनी चिन्तनधारा में वे आगे बढ़ने लगे, **'एक में आनन्द है । जहाँ दो, वहाँ कलह और क्लेश है । एक कंकण में कितनी शान्ति है और दो में कितना कोलाहल ! आध्यात्मिक जगत् में भी यह बात उतनी ही सत्य है, जो आत्मा अकेली बन गई.....निस्संग बन गई, वह कितनी शान्त हो जाती है ।'**

शैशव काल में प्राणी अकेला होता है, अतः कितना आनन्दमय होता है । यौवन को पाते ही वह दो बनना चाहता है और फिर दो में से चार.....। बस, एकता का भंग हो गया और चिन्ताओं ने उसे घेर लिया । जीवन की शान्ति धूल में मिल गई । ओह ! एकता में आनन्द.....अनेकता में शोक ।

और इस चिन्तन से नमिराजा के चेहरे पर प्रसन्नता छाने लगी । एकता की भावना ने ही उन्हें शान्ति के महासागर में डुबो दिया ।

कार्तिक पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की भाँति उनके चेहरे पर प्रसन्नता बढ़ने लगी और उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया-``यदि इस वेदना से मैं मुक्त हो

जाऊँ तो प्रातःकाल ही संसार का त्याग कर प्रभुपंथ का पथिक बन जाऊँगा ।''

दृढ़ संकल्प में एक महान् शक्ति होती है और उससे विपत्तियों के सब बादल दूर हो जाते हैं ।

बस, इस संकल्प के बाद नमिराजा की आँखें निद्रा से घिर गईं और उन्होंने अत्यन्त शान्ति का अनुभव किया । सभी वैद्य तो इसी भ्रम में थे कि आखिर हमारी औषधि का प्रयोग सफल हो गया ।

प्रातःकाल के प्रकाश के पूर्व नमिराजा एक स्वप्न में लीन थे । स्वर्ण के मेरुपर्वत पर उन्होंने अपने आपको घूमते हुए देखा । और फिर तो उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया । पूर्व के तीसरे भव में एकता-समता की साधना करने वाले वे एक साधक महात्मा थे । उस जीवन को पूर्ण कर वे देव बने थे । उस देवभव में सैकड़ों तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का महोत्सव इसी मेरुपर्वत पर उन्होंने किया था ।

गत जन्म के इस जातिस्मरण ज्ञान ने उनके विराग के दीप को अधिक प्रज्वलित किया और प्रातः होते ही वे त्याग की यात्रा पर प्रयाण कर गए ।

सारी मिथिला विलाप कर रही थी । नमिराजा के इस संसार-त्याग से मिथिलावासियों के चेहरों पर गाढ़ उदासीनता नजर आ रही थी ।

चारों ओर से क्रन्दन की आवाज सुनाई दे रही थी । किन्तु नमिराजा अपने संकल्प पर दृढ़ थे । वीरों का संकल्प पत्थर की लकीर होता है । वे उस क्रन्दन से पीछे हटने वाले नहीं थे ।

ब्राह्मण के वेष में इन्द्र महाराजा ने आकर उनकी परीक्षा ली । नाना प्रकार की समस्याएँ प्रस्तुत कीं, परन्तु नमिराजा के उत्तर को सुनकर इन्द्र महाराजा भी चकित रह गए ।

इस प्रकार एकत्व भावना की चिनगारी में से विराग के रागी बनकर अन्त में नमि राजर्षि वीतराग बन गए ।

चतुर्थभावनाष्टकम्-गीतम्

विनय चिन्तय वस्तुतत्त्वं,
जगति निजमिह कस्य किम् ।
भवति मतिरिति यस्य हृदये,
दुरितमुदयति तस्य किम् ।।विनय० 50।।

अर्थ :- हे विनय ! तू वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन कर । इस जगत् में वास्तव में अपना क्या है ? इस प्रकार की बुद्धि जिसके हृदय में उत्पन्न होती है, क्या उसे किसी प्रकार के दु:ख का उदय हो सकता है ? ।।50।।

विवेचन

जगत् का वास्तविक दर्शन करो

पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. एकत्व भावना के गेयाष्टक में अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! तू जरा विचार कर, इस संसार में तेरा क्या है ?

इस एक वाक्य के चिन्तन में तो सोचने की नई दिशा मिल जाती है । वास्तव में, इस दुनिया में जितने भी पाप हैं अथवा हो रहे हैं, उन सबका मूल सांसारिक वस्तुओं पर रही हुई ममत्व-स्वामित्व की भावना ही है । इस ममत्व के कारण ही जीवात्मा इस संसार में चारों ओर भाग-दौड़ करता है और इष्ट विषय की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के पापकर्म-दुष्कर्म आदि भी करता है । वह सांसारिक व्यक्तियों व वस्तुओं में **'अपनेपन-पराएपन'** की कल्पना कर लेता है ।

इस ममत्व की बुद्धि से जीवात्मा विशाल क्षेत्र का मालिक बनने का प्रयत्न करता है । धन के ढेर खड़े कर देता है । परन्तु जब आयुष्य समाप्त हो जाता है, तब सब यहीं का यहीं रह जाता है और जीवात्मा को अकेला ही जाना पड़ता है । जरा, कवि की भावपूर्ण पंक्तियों का गान कर लें-

तू चेत मुसाफिर ! चेत जरा,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ।
इस जग में नहीं कोई तेरा है ।
जो है सो सभी अनेरा है ।।

.....ए काया नश्वर तेरी है,
एक दिन वो राख की ढेरी है,
जहाँ मोह का खूब अंधेरा है,
क्यों मानत मेरा-मेरा है ।।1।।

जरा, गहराई से सोचेंगे तो पता चलेगा कि इस संसार में अपना कोई नहीं है । छह खण्ड का अधिपति-चक्रवर्ती भी मृत्यु के समय एक फूटी कौड़ी भी साथ में नहीं ले जा सकता है ।

सिकन्दर ने अपने जीवन में धन के ढेर लगा दिये थे, किन्तु मृत्यु समय वह अपने साथ क्या ले गया ?

सोने के ढेर करने वाला मोहम्मद गजनवी जीवन के अन्तिम दिनों में पागल हो गया था और कुत्ते की मौत मरा था ।

'इस संसार में मेरा कोई नहीं है' इस सत्य को जीवन में पचा लिया जाय तो व्यक्ति अनेक पापों से बच सकता है । दुनिया में अधिकांशतः पाप क्षणिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए ही होते हैं । परन्तु इस सत्य को जान लेंगे तो इस प्रकार के अनर्थदंड के पापों से जीवात्मा आसानी से बच सकेगा ।

एक उत्पद्यते तनुमा-
नेक एव विपद्यते ।
एक एव हि कर्म चिनुते,
स एकक: फलमश्नुते ।।विनय० 51।।

अर्थ :- (इस संसार में) जीवात्मा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है, वह अकेला ही कर्मों का संग्रह करता है और वह अकेला ही उनके फल को भोगता है ।।51।।

विवेचन

सुख-दुःख का कर्त्ता व भोक्ता आत्मा ही है

इस संसार में जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जाएगा । हाँ, व्यर्थ के सम्बन्धों की कल्पना कर आज तक इस जीवात्मा ने जो शोक के आँसू बहाए हैं, उनको इकट्ठा किया जाय तो उसके आगे लवण-समुद्र भी एक छोटा तालाब सा प्रतीत होगा । जीवात्मा ने अपनी मृत्यु से जिन स्वजनों को रुलाया है, उनके आँसुओं को इकट्ठा किया जाय तो उसके आगे स्वयंभूरमण समुद्र भी नगण्य सा प्रतीत होगा ।

कुछ भी हो, स्वयं रोए अथवा दूसरों को रुलाए, फिर भी जीवात्मा को परलोक की सफर अकेले ही करनी पड़ती है । एक-दूसरे के प्रेम में पागल होने वाले दुनिया में बहुत मिलेंगे और एक-दूसरे के लिए प्राण देने की बात करने वाले भी मिल जाएंगे और आगे बढ़कर एक की मृत्यु के पीछे अपने जीवन का अन्त भी कर दे तो भी परलोक में वह उसी के साथ रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है । इस जन्म में हजारों व्यक्तियों के साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ने वाले को भी मृत्यु का दुःख अकेले ही सहन करना पड़ता है ।

श्रेणिक महाराजा ने जब अनाथी मुनि को कहा-``मैं तुम्हारा नाथ बनने के लिए तैयार हूँ ।'' तो अनाथी मुनि ने कहा-``तुम स्वयं अनाथ हो अतः मेरे नाथ कैसे बनोगे ? यदि सांसारिक समृद्धि से अपने आपको नाथ मानते हो, तब तो ऐसा `नाथ' मैं भी था । परन्तु वह नाथपना सच्चा नहीं है । कर्म के उदय से आने वाली वेदना को हटाने वाला कौन ?'' अन्त में मुनि ने यही कहा-

'जिनधर्म बिना नरनाथ, नथी कोई मुक्ति नो साथ ।'

जिनेश्वर का धर्म ही आत्मा का सच्चा साथी है और उसी की शरणागति से आत्मा बन्धनमुक्त बनती है ।

जैनदर्शन का यह सनातन सत्य है कि आत्मा ही अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है । आत्मा जिस प्रकार के शुभ अथवा अशुभ कर्म का बंध करती है, उसके अनुसार ही वह शुभ अथवा अशुभ फल को प्राप्त करती है । यदि गत जन्म में पापकर्म किये हैं तो उसकी सजा भी स्वयं को ही भोगनी पड़ती

है । अनेक सतियों के जीवन में भी जो भयंकर आपत्तियाँ आई थीं, उसका भी मुख्य कारण उनका ही कर्म था । यहाँ तक कि तीर्थंकर भगवान पर भी जो भयंकर उपसर्ग होते हैं, उनमें भी उनके ही पूर्वजन्म का कर्म कारण है ।

तीर्थंकर भी कर्म के फल से बच नहीं सकते हैं तो हम जैसों की क्या हैसियत है । अतः **'जैसा बोओगे-वैसा काटोगे'** (As you sow, so shall you reap.) के नियम को समझकर जीवन में दुःख के कारणभूत दुष्कर्म की प्रवृत्ति से दूर रहना ही श्रेय का मार्ग है ।

यस्य यावान् परपरिग्रह-
विविधममतावीवधः
जलधिविनिहितपोतयुक्त्या,
पतति तावदसावधः ।।विनय० 52।।

अर्थ :- विविध प्रकार की ममताओं से भारी बने प्राणी को जितना-जितना अन्य वस्तुओं का परिग्रह होता है, उतना ही वह समुद्र में रहे यान की तरह नीचे जाता है ।।52।।

विवेचन

आत्मा ममता से भारी बनती है

आपको यदि ट्रेन में सफर करना है तो आप 36 किलोग्राम तक वजन का सामान अपने साथ ले जा सकते हैं । इससे अधिक वजन होने पर आपको अधिक चार्ज देना पड़ता है; किन्तु यदि आप वायुयान से यात्रा करना चाहते हैं तो अपने साथ अधिक सामान नहीं रख सकते हैं । वायुयान व जलयान में वजन उठाने की अपनी एक क्षमता होती है । क्षमता से अधिक वजन डालने पर जलयान के डूबने की सम्भावना रहती है ।

ममता से आत्मा भारभूत बनती है । ज्यों-ज्यों आत्मा ममता करती है, त्यों-त्यों उसको ऊँचे उठने में कठिनाई रहती है और वह नीचे गिरती जाती है । स्वर्ग व अपवर्ग तक पहुँचने के लिए आत्मा को निर्मम बनना होगा । आत्मा यदि ममत्व वाली बनेगी तो वह अधोलोक में जाएगी । नरक व निगोद की दुःखभरी यात्रा उसे करनी पड़ेगी ।

संसार में ममत्व के अनेक क्षेत्र हैं । व्यक्ति ज्यों-ज्यों स्व के निकट

पहुँचता है, त्यों-त्यों उसकी ममता बढ़ती जाती है ।

अन्य देश में रहने वाले भारतीय को भारतीय व्यक्ति मिलते ही प्रेम पैदा हो जाएगा । जितना प्रेम उस व्यक्ति से अन्य देश में होगा, उतना प्रेम उसे स्वदेश में नहीं होगा । स्वदेश में भी राजस्थानी को जितना प्रेम राजस्थानी से होगा, उतना प्रेम गुजराती से नहीं होगा ।

राजस्थानी को भी जितना प्रेम अपने गाँव में रहने वाले से होगा, उतना प्रेम अन्य गाँव में रहने वाले से नहीं होगा । फिर एक व्यक्ति को जितना प्रेम अपने मोहल्ले वाले से होगा, उतना प्रेम अन्य मोहल्ले वाले से नहीं होगा । फिर जितना प्रेम पड़ोसी से होगा, उतना प्रेम दूर रहने वाले से नहीं होगा । पड़ोसी से भी अधिक प्रेम स्वजन-कुटुम्ब से होगा । कुटुम्ब में भी अधिक प्रेम पुत्र आदि पर होगा और पुत्र से अधिक प्रेम पत्नी पर होगा और पत्नी से अधिक प्रेम स्व शरीर पर होगा ।

इस प्रकार ममता के अनेक क्षेत्र हैं । **पूज्य उपाध्यायजी म.** फरमाते हैं कि इस प्रकार नाना प्रकार की ममताओं के वशीभूत होकर आत्मा भारी ही बनती है और उस ममता के भार से आत्मा की दुर्गति ही होती है । अतः ममत्व त्याग के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

स्व-स्वभावं मद्यमुदितो,
भुवि विलुप्य विचेष्टते ।
दृश्यतां परभावघटनात्,
पतति विलुठति जृम्भते ।।विनय० 53।।

अर्थ :- शराब के नशे में पागल बना व्यक्ति अपने मूल स्वभाव का त्याग कर पृथ्वी पर आलोटने की व्यर्थ चेष्टा करता है, इसी प्रकार पर-भाव की घटना से जीवात्मा नीचे गिरता है, आलोटता है और जम्भाई लेता है ।।53।।

विवेचन

परभाव रमणता की शराब

शराबी की दशा से आप शायद ही अपरिचित होंगे ? शराब के नशे में व्यक्ति अपना भान खो देता है । वह अपनी गुप्त बात भी प्रकट कर देता

है । माँ के साथ पत्नी जैसा और पत्नी के साथ माँ जैसा व्यवहार भी कर सकता है । शराबी व्यक्ति नशे में व्यर्थ ही बकवास करता रहता है । कीचड़ व धूल में आलोटता है । कुत्ता उसके मुँह में पेशाब कर देता है, फिर भी उस पेशाब को वह अमृत मानकर पी जाता है । मल-मूत्र में उसे किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती है । यह हालत है शराबी की ।

पूज्य उपाध्यायजी म. जो परभाव में लिप्त है, उसकी इस शराबी के साथ तुलना कर रहे हैं । शराबी को जैसे शराब के संग में आनन्द आता है, उसी प्रकार से पुद्गलानन्दी आत्मा को भी पुद्गल के संग में ही आनन्द आता है, परन्तु उसका यह आनन्द पागलपन जैसा ही है ।

सूअर विष्ठा व कीचड़ को ही अपना स्वर्ग समझता है, उसे गन्दगी ही प्रिय है । बस ! इसी प्रकार से भवाभिनन्दी आत्माएँ भी पुद्गल के आनन्द में ही मस्त रहती हैं; परन्तु उनका यह आनन्द क्षणविनश्वर होता है; अन्त में, वे दुःख के गर्त में ही डूबती हैं ।

पुद्गलरसिक आत्मा पौद्गलिक सुख के लिए तनतोड़ प्रयास करती है । अनुकूल विषय की प्राप्ति में फूले नहीं समाती है । क्षणिक सुख में स्वर्ग की कल्पना कर लेती है और उसी में आत्मा का मोक्ष समझती है । Eat, drink and be marry, (खाओ, पीओ और मौज करो;) यही उनके जीवन का सिद्धान्त होता है । परन्तु इन आत्माओं की दशा तो उस शराबी जैसी ही होती है ।

पश्य काञ्चनमितरपुद्गल-
मिलितमश्नति कां दशाम् ।
केवलस्य तु तस्य रूपं,
विदितमेव भवादृशाम् ।।विनय० 54।।

एवमात्मनि कर्मवशतो,
भवति रूपमनेकधा ।
कर्ममलरहिते तु भगवति,
भासते काञ्चनविधा ।।विनय० 55।।

अर्थ :- अन्य पदार्थ के साथ मिलने पर स्वर्ण की क्या हालत होती

है ? उसे देखो, और जब वह स्वच्छ होता है तब उसका रूप कैसा होता है ? इस बात को तो तुम जानते ही हो न ? ।।54।।

अर्थ :- इसी प्रकार आत्मा भी कर्म के वशीभूत होकर नाना प्रकार के रूप धारण करता है और जब वह कर्ममल से रहित होता है, तब शुद्ध कंचन के समान दीप्तिमान होता है ।।55।।

विवेचन

आत्मा का स्वरूप शुद्ध कंचन जैसा है

शुद्ध व स्वच्छ स्वर्ण को देखो, वह भगवान का मुकुट बनकर, प्रभु के मस्तक पर शोभ रहा है अथवा गले का हार बना हुआ है । सभी लोग उसकी कीमत करते हैं, उसकी सुरक्षा करते हैं और उसे पाने के लिए प्रयत्न करते हैं और वही सुवर्ण, जब मिट्टी के संग में रहता है, तब कितना मलिन होता है ? वह पैरों तले रौंदा जाता है । धूल के समान ही उसकी कीमत होती है ।

अशुद्ध और शुद्ध स्वर्ण की दशा के बीच जो अन्तर है; वैसे ही अशुद्ध और शुद्ध आत्मा के बीच अन्तर है ।

आत्मा जब तक कर्ममल से संयुक्त रहती है, तभी तक इस संसारचक्र में परिभ्रमण करती है । जिस प्रकार लेपकृत तुम्बी पानी के तल में पड़ी रहती है और वही जब लेप से मुक्त हो जाती है, तब ऊर्ध्वगामी बनती है । इस नियमानुसार आत्मा जब तक कर्म के संयोग में रहती है, तब तक इस संसार में नाना जन्म-मरण करती रहती है और जब आत्मा कर्म से सर्वथा रहित बन जाती है तब वह अपने मूल सच्चिदानन्द स्वभाव को प्राप्त कर लेती है और एक ही समय में ऊर्ध्वगति कर चौदह राजलोक के अग्रभाग तक पहुँच जाती है । एक बार कर्म-मुक्त हो जाने के बाद पुनः वह शरीर धारण नहीं करती है । मुक्तात्मा को न जन्म की पीड़ा होती है और न ही मरण की । वह निजस्वरूप में मस्त रहती है । चारों ओर कार्माण वर्गणाएँ होते हुए भी रागद्वेष से मुक्त होने के कारण सिद्धात्मा उन्हें ग्रहण नहीं करती है ।

ज्ञानदर्शन-चरणपर्यव-
परिवृतः परमेश्वरः ।
एक एवानुभव-सदने,
स रमतामविनश्वरः ।।विनय० 56।।

अर्थ :- वह आत्मा (परमेश्वर) शाश्वत है और सदा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्यायों से घिरा हुआ है और एक है । ऐसे परम अविनश्वर परमात्मा मेरे अनुभव मन्दिर में रमण करे ।।56।।

विवेचन

हृदय में परमात्मा की स्थापना करो

'उपयोगो लक्षणम्' यह जीव का लक्षण है । आत्मा कभी साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) में रहती है तो कभी निराकारोपयोग (दर्शनोपयोग) में । संसारी अवस्था में, कर्मयुक्त अवस्था में आत्मा का उपयोग अशुद्ध रहता है । अशुद्ध उपयोग के कारण संसारी आत्मा हेय में उपादेय बुद्धि और उपादेय में हेय बुद्धि कर लेती है, फलस्वरूप वह कर्म-बन्धनों से ग्रस्त बनती है और अनेक यातनाएँ भोगती हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण ला देता है और इस आवरण के कारण आत्मा वस्तु के यथावस्थित स्वरूप को जान नहीं पाती है । परन्तु जब आत्मा राग और द्वेष से मुक्त बनकर मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर वीतराग बन जाती है, तब तत्काल ही उस पर से ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण भी सर्वथा हट जाता है और इस आवरण के हटने के साथ ही आत्मा अनन्त ज्ञानमय बन जाती है । ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों (मति ज्ञानावरणीय, श्रुत ज्ञानावरणीय, अवधि ज्ञानावरणीय, मनःपर्यव ज्ञानावरणीय और केवल-ज्ञानावरणीय) के साथ ही आत्मा दर्शनावरणीय की चार प्रकृतियों (चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय) तथा अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियों (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय) का भी क्षय कर

अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य गुण को भी प्राप्त करती है । इस प्रकार चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने से आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और वीतरागता प्राप्त करती है । राग और द्वेष के निवारण से आत्मा जिस परम सुख का अनुभव करती है, वह सुख अतुलनीय होता है । ऐसे परमात्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन के बल से समस्त चराचर जगत् के समस्त भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं ।

वे परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, वीतरागता अर्थात् अक्षय चारित्र की पर्यायों में लीन रहते हैं ।

ऐसे विशुद्ध स्वरूपी जो परमात्मा हैं, उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करना चाहिए । अपने हृदय मन्दिर में ऐसे एक वीतराग परमेश्वर की स्थापना कर उनसे वार्तालाप करो और उन परमात्मा के साथ अपनी आत्मा की एकता सिद्ध करो ।

परमात्मा ने जिस विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया है, उसी विशुद्ध स्वरूप की स्वामिनी अपनी आत्मा भी है । अतः उन परमात्मा को हृदय में स्थापित कर अब हमें अपनी आत्मा के परमात्म स्वरूप को पहचान लेना है । उस पहचान के बाद आत्मा जिस परम आनन्द का अनुभव करती है, वह अलौकिक ही है । अतः परमेश्वर परमात्मा को अपने हृदय मन्दिर में स्थापित करने के लिए तैयार हो जाओ ।

रुचिर-समतामृतरसं क्षण-
मुदितमास्वादय मुदा ।
विनय ! विषयातीत-सुखरस,
रति-रुदश्चतु ते तदा ।।विनय० 57।।

अर्थ :- जिस समता के अमृतरस का स्वाद तुझमें अचानक जाग उठा है, उसका क्षण भर के लिए आस्वादन कर । हे विनय ! विषय से अतीत सुख के रस में तुझे सदा प्रेम हो ।।57।।

विवेचन

आत्मा का सुख-वास्तविक सुख

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने कहा है-

देह मन वचन पुद्गल थकी,
कर्म थी भिन्न तुज रूप रे ।
अक्षय अकलंक छे जीव नुं,
ज्ञान आनन्द स्वरूप रे ।।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कितना सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है । आत्मा न देहस्वरूप है, न मनस्वरूप है, न वचनस्वरूप है और न ही पुद्गलस्वरूप है । आत्मा तो देहातीत है, वचनातीत है । ज्ञान और आनन्द यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है ।

पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. एकत्व भावना का उपसंहार करते हुए अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! एकत्व के भावन से तुझ में जो प्रशमरस रूप अमृतरस पैदा हुआ है, उसका तू क्षण भर के लिए पान कर ले । वाह ! उस शमरस का स्वाद कितना मधुर है । उसके आगे काव्य के नौ रस और भोजन के षट् रस भी नीरस प्रतीत होते हैं । एक घटना याद आ जाती है–

- एक श्रेष्ठिपुत्र ने अपने घर से श्वसुर-गृह की ओर गमन किया । कुछ जंगली रास्ता था । मार्ग भी बड़ा विकट था, किन्तु श्रेष्ठिपुत्र के साथ कोई नहीं था । श्रेष्ठिपुत्र एक जंगल में आ पहुँचा जहाँ तीन दिशाओं में पगडण्डियाँ जा रही थीं । श्रेष्ठिपुत्र विचार में पड़ गया, **'मैं किस ओर जाऊँ ?'** तभी उसे एक ग्वाला दिखाई दिया । उसने ग्वाले से पूछा-`क्या तुम पृथ्वीपुर नगर का रास्ता जानते हो ?' ग्वाले ने कहा-``हाँ, आपको कहाँ जाना है ?''

उसने कहा-``अपने श्वसुर के गृह'' । ``तो मुझे भोजन खिलाओगे ?'' श्रेष्ठिपुत्र ने कहा-``जरूर । बढ़िया से बढ़िया भोजन खिलाऊंगा ।''

``क्या मुझे गुड़ की राब खिलाओगे ?'' श्रेष्ठिपुत्र ने हामी भर दी । वह ग्वाला श्रेष्ठिपुत्र के साथ चल पड़ा । वह उस मार्ग से परिचित था, अतः

श्रेष्ठिपुत्र को उसके श्वसुर-गृह तक पहुँचाने में उसे कोई तकलीफ नहीं हुई ।

श्वसुर-गृह में पहुँचते ही श्वसुर आदि ने अपने जामाता का स्वागत किया । भोजन का समय हो चुका था, अतः तत्काल श्वसुर ने अपने जामाता के स्वागत में विविध पकवान तैयार करवाए । भोजन का समय होते ही जामाता भोजन के लिए बैठा । उस ग्वाले को भी पकवान परोसे गए । श्रेष्ठिपुत्र का साला ज्योंही भोजन का थाल लेकर अन्दर पहुँचा, त्योंही ग्वाले ने आँखें लाल कर अपनी लाठी उठाई और श्रेष्ठिपुत्र से बोला-``मेरे साथ मायाचार.....इसमें गुड़ की राब कहाँ है ?''

श्रेष्ठिपुत्र ने सोचा-``अहो ! इस थाल में घेवर, गुलाबजामुन, मावे की मिठाई आदि कीमती मिष्टान्न हैं और यह गुड़ की राब याद करता है । जरूर, इसने कभी इन मिठाइयों का आस्वादन नहीं किया लगता है, इसीलिए यह बालिश चेष्टा कर रहा है ।'' तत्काल श्रेष्ठिपुत्र ने अवसर देख एक गुलाबजामुन हाथ में लिया और उसके मुँह में डाल दिया ।

गुलाबजामुन का स्वाद आते ही उसने लाठी नीचे रख दी और थाली में पड़े सभी गुलाबजामुन झपाटे से खा गया । फिर श्रेष्ठिपुत्र ने उसको पूछा-``क्या अब राब लेनी है ?''

उसने कहा-``बस करो । उसकी बात छोड़ो ।''

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति तभी तक संसार के क्षणिक सुखों में आनन्द पाना चाहता है, जब तक उसे आत्मा के वास्तविक सुख की अनुभूति नहीं होती है ।

अन्त में, ग्रन्थकार महर्षि अपनी यही मनोकामना करते हैं कि विषयसुख से अतीत आत्मा के सुख में तुझे सदा प्रेम रहे ।

इन्द्रियविषय सुख तो क्षणिक है, क्षणभंगुर है, उसमें आत्मा को वास्तविक तृप्ति का आनन्द नहीं हो सकता है ।

विषयसुख से मुक्त जो आत्मा का सुख है, वही वास्तविक सुख है । उस सुख के आस्वादन में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसका वर्णन शब्दातीत है, वह तो अनुभूति का विषय है ।

हे आत्मन् ! हे विनय ! तू उस सुख के रसास्वादन में डूब जा ।

5 अन्यत्व भावना

परः प्रविष्टः कुरुते विनाशं,
लोकोक्तिरेषा न मृषेति मन्ये ।
निविश्य कर्माणुभिरस्य किं किं,
ज्ञानात्मनो नो समपादि कष्टम् ।।58।।

(उपजाति)

अर्थ :- 'अपने घर में अन्य का प्रवेश विनाश करता है', मैं मानता हूँ कि यह लोकोक्ति गलत नहीं है । ज्ञानस्वरूप आत्मा में कर्म के परमाणुओं का प्रवेश हो जाने से आत्मा ने किन-किन कष्टों को प्राप्त नहीं किया है ? ।।58।।

विवेचन

कर्म आत्मा के लुटेरे हैं

आपके पास एक विशाल बंगला है । बंगले में अनेक कमरे हैं-शयन-गृह, अतिथि-गृह, स्नान-गृह, भोजन-गृह, पूजा-गृह आदि । बंगले में साज-सज्जा की अनेक वस्तुएँ दीवारों पर भी टंगी हुई हैं । मकान में तिजोरी भी है, जिसमें लाखों की सम्पत्ति है । इस प्रकार आधुनिक सुख-साधनों से सुसज्जित आपके घर के द्वार पर एक अज्ञात व्यक्ति आता है । उस व्यक्ति से आप सर्वथा अपरिचित हैं, आपका कोई नाता-रिश्ता भी नहीं है । क्या आप उस व्यक्ति को अपने घर में प्रवेश दे देंगे ?

इसका जवाब आप **'ना'** में ही दोगे । एक अज्ञात व्यक्ति को घर में प्रवेश कराना महान् आपत्ति का कारण बन सकता है । बम्बई जैसे शहरों में लगभग प्रत्येक घर के द्वार पर 'आज्ञा बिना प्रवेश निषेध' (No admission without permission.) का बोर्ड लगा रहता है । अपनी सुरक्षा के लिए व्यक्ति घर का द्वार अन्दर से बन्द ही रखता है । घंटी बजने के बाद परिचित व्यक्ति होने पर ही द्वार खोला जाता है और आगन्तुक व्यक्ति को प्रवेश दिया जाता

है । **'अज्ञात व्यक्ति को घर में घुसा देने में खतरा रहता है ।'** इस लोकोक्ति से सारी दुनिया परिचित है और दुनिया भी इसी प्रकार का व्यवहार करती है ।

बस, यही बात हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटित करनी है । अपनी आत्मा ज्ञान आदि अनन्त गुणरत्नों की भण्डार है । जहाँ कीमती रत्न आदि पदार्थ होते हैं, वहाँ चोरों के आगमन की सम्भावना अधिक रहती है, अतः उनकी सुरक्षा के साधन भी मजबूत चाहिए । लेकिन अफसोस ! हमने अपने आत्मधन की सुरक्षा की कोई परवाह नहीं की और इसका परिणाम क्या हुआ ?

आत्मधन की सुरक्षा के साधनों के न होने से चोरस्वरूप कार्मणवर्गणा के परमाणुओं ने आत्म-गृह में प्रवेश कर लिया और प्रवेश हो जाने के बाद तो उन्होंने तूफान मचाना चालू कर दिया । ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानधन को लूटता है, तो दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को अंध-बधिर आदि अवस्था में डाल देता है । वेदनीय कर्म आकर आत्मा को मरीज की शय्या पर सुला देता है । मोहनीय कर्म आकर आत्मा के क्षमा, नम्रता तथा सन्तोष आदि रत्नों को तहस-नहस कर देता है । आयुष्य कर्म आकर अमर आत्मा को मृत्यु-शय्या पर सुला देता है । नामकर्म आकर आत्मा को नरक-तिर्यंच आदि के आकार प्रदान करता है । गोत्र कर्म आत्मा को ऊँच-नीच स्थान देता है और अन्तराय कर्म आत्मा की शक्ति को ही दबा देता है ।

इन कर्मपरमाणुओं ने आत्म-गृह में घुसकर कैसी खराबी की है ? सर्वतंत्र-स्वतंत्र आत्मा पराधीनता की बेड़ियों से बँधी हुई है । अजर-अमर आत्मा क्षण-क्षण मृत्यु की वेदनाएँ भोग रही है ।

क्या आप अपनी आत्मा की इस दुर्दशा से चिंतित हैं ? तो आज ही इन कर्मशत्रुओं को अपने घर में प्रवेश करने से रोकिए । इन शत्रुओं को रोकने के लिए दृढ़ संकल्प करना पड़ेगा और सतत चौकसी रखनी पड़ेगी ।

खिद्यसे ननु किमन्यकथार्तः,
सर्वदैव ममता-परतन्त्रः ।
चिन्तयस्यनुपमान्कथमात्मन्,
नात्मनो गुणमणीन्न कदापि ।।59।।

(स्वागता)

अर्थ :- ममताधीन बनकर अन्य की उपाधिजन्य कथाओं से तुम व्यर्थ खेद क्यों पाते हो ? और स्वयं के अनुपम गुणरत्नों का कभी विचार भी नहीं करते हो ।।56।।

विवेचन

ममता की पराधीनता

``अरे भाई ! तू इतना खेद क्यों पा रहा है ?''

``क्या कहूँ, उसने मेरे सौ रुपये चुरा लिये ।''

और ``रमेश ! तू क्यों उदासीन है ?''

``आज मेरी कार का एक्सीडेंट हो गया । पूरी कार चकनाचूर हो गई ।''

``ओह सोहन ! तू इतना चिन्तित क्यों दिखाई दे रहा है ?''

``क्या करें, पत्नी नई साड़ी के लिए आग्रह कर रही है, किन्तु जेब खाली है !''

इस प्रकार देखेंगे तो सारी दुनिया चिन्तित, उदास और अप्रसन्न नजर आएगी । सभी समस्याओं से परेशान हैं, उन्हें सुलझाने के लिए सतत प्रयत्नशील भी हैं, परन्तु आश्चर्य है एक समस्या समाप्त होने के पूर्व ही नई समस्या खड़ी हो जाती है और इस प्रकार समस्याओं का कभी अन्त नहीं होता है ।

इस प्रकार चारों ओर समस्याओं से घिरे हुए व्यक्ति को **पूज्य उपाध्यायजी म.** सलाह दे रहे हैं कि तू व्यर्थ ही सांसारिक पदार्थों की ममता कर खेद पा रहा है, जरा विचार तो कर, क्या ये पदार्थ तेरे हैं ? पर की चिन्ता से तुझे क्या फायदा होने वाला है ? उन बाह्य पदार्थों की प्राप्ति तथा संरक्षण की चिन्ता कर तू व्यर्थ ही अपने आपको कमजोर बना रहा है । क्षणिक व तुच्छ पदार्थों के विनाश से तू व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है । कुछ समय के लिए जरा सोच, तू उन पराये पदार्थों की क्यों चिन्ता करता है । परन्तु आश्चर्य है कि अपने खुद के खजाने की ओर तू नजर भी नहीं डाल रहा है ? ओह ! कितने गुणरत्न तेरी आत्मा में भरे हुए हैं ? इतने कीमती रत्नों का स्वामी होने

पर भी तू दीन-हीन बन रहा है ? मुझे तेरी मूर्खता पर हँसी आ रही है । छोड़ दे, इस पागलपन को । देख अपने आत्म-खजाने को । उसकी तू चिन्ता कर, उसे कोई लूट न ले, अतः उसकी देख-रेख कर और बाह्य पदार्थों की चिन्ता छोड़ दे ।

यस्मै त्वं यतसे बिभेषि च यतो, यत्रानिशं मोदसे,
यद्यच्छोचसि यद्यदिच्छसि हृदा, यत्प्राप्य पेप्रीयसे ।
स्निग्धो येषु निजस्वभावममलं निर्लोट्य लालप्यसे,
तत्सर्वं परकीयमेव भगवन्नात्मन्न किञ्चित्तव ।।60।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- जिसके लिए तू निरन्तर प्रयत्न करता है, जिससे तू निरन्तर डरता है, जहाँ निरन्तर खुश होता है, जिन-जिन के लिए शोक करता है, जिन-जिन को हृदय से चाहता है और जिसे प्राप्त कर तू बारम्बार खुश होता है, अपने निर्मल आत्म-स्वभाव की उपेक्षा कर जिन पदार्थों में स्नेह कर जैसा-तैसा बोलता है (याद रख) हे भाग्यवान् आत्मा ! वह सब दूसरों का है, उसमें तेरा कुछ भी नहीं है ।।60।।

विवेचन

तेरा कौन ?

``अरे मोहन ! यह इतनी दौड़धूप किसलिए कर रहे हो ? थोड़ा सा आराम नहीं ?''

``तुम्हें पता नहीं है, अभी तो व्यापार की सीजन चल रही है । अभी मेहनत होगी तो कुछ ही दिनों में मैं लखपति बन जाऊंगा'', मोहन ने रौब से जवाब दिया ।

``अरे दिनेश ! तू इतना भयभीत क्यों है ?''

दिनेश ने उत्तर दिया-``मेरी जेब में 50,000 रुपये हैं, अतः कोई चुरा न ले, इसका सतत भय रहता है ।''

``ओह सोहन ! रोज तो सूखी रोटी खाते हो और आज इस होटल में नाश्ता-पानी ?''

``तुझे पता नहीं है, मुझे दो लाख की `लॉटरी' खुल गई है ।''

``अरे हरि ! इतने रो क्यों रहे हो ?''

``क्या कहूँ ? एकाकी पुत्र को यम ने उठा लिया है ।''

``प्रिय राकेश ! आज इतने खुश कैसे नजर आ रहे हो ?''

``आज तो पुत्र की शादी है, बराबर पाँच लाख का माल.....! आज खुश नहीं रहें तो फिर कब रहेंगे ?''

एक ही व्यक्ति के जीवन में प्रायः ये सब घटनाएँ देखने को मिल सकती हैं । कभी व्यक्ति रोता है, कभी हँसता है, कभी शोक करता है तो कभी मस्ती में पागल सा बन जाता है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. कहते हैं कि तूँ इतनी मेहनत करता है, कभी खुश होता है, कभी नाराज होता है, कभी रोता है, कभी हँसता है; तू इन सब विरोधी परिस्थितियों को भोगता है, परन्तु जरा विचार कर, तेरा यह सब प्रयत्न तो पर के लिए है । इसमें से तुझे अपना कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है । तेरी यह सब मेहनत निष्फल जाने वाली है । आत्मा का जो निर्मल स्वभाव है, उसे पाने के लिए तो तेरा कुछ भी प्रयास नहीं है । उसके लिए तूँ प्रयास कर ।

दुष्टाः कष्टकदर्थनाः कति न ताः सोढास्त्वया संसृतौ,
तिर्यङ्नारकयोनिषु प्रतिहतश्छिन्नो विभिन्नो मुहुः ।
सर्वं तत्परकीयदुर्विलसितं विस्मृत्य तेष्वेव हा,
रज्यन्मुह्यसि मूढ ! तानुपचरन्नात्मन्न किं लज्जसे ।।61।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- इस संसार में महादुष्ट और कष्टकारी किन-किन कदर्थनाओं को तूने सहन नहीं किया है । तिर्यंच और नरकयोनि में बारम्बार मार खाई है, तुझे छेदा गया है, भेदा गया है, यह सब अन्य वस्तुओं का दुर्विलास ही

है । अहो ! खेद है कि उसे भूलकर पुनः अन्य वस्तुओं में राग करता है । हे मूढ़ आत्मन् ! इस प्रकार की चेष्टा करते हुए तुझे लज्जा भी नहीं आती है ।।61।।

विवेचन

पर-भाव में रमणता का परिणाम

चोर के संग से साहूकार भी चोर कहलाता है और उसे भी चोरी की सजा होती है । आत्मा ने पर-पदार्थों का संग किया, उनके साथ दोस्ती की, इसके फलस्वरूप उसे नरक में जाना पड़ा । परमाधामियों ने नरक में इस जीवात्मा का छेदन किया, भेदन किया । तपे हुए तेल में इसे तला । अपना ही मांस उसे खिलाया ।

तिर्यंच योनि में जीवात्मा ने कम यातनाएँ सहन नहीं की हैं । गधे की योनि में उस पर मर्यादा से अधिक भार लादा गया । घोड़े की योनि में उसने चाबुकों की मार खाई । बकरे की योनि में उसे छुरी से काटा गया । चूहे की योनि में वह बिल्ली का शिकार बना ।

दुनिया में ऐसी कोई यातना नहीं है, जो इस जीवात्मा ने सहन नहीं की हो । परन्तु प्रश्न होता है कि इन सब यातनाओं का कारण क्या ? अनन्त सुख की भोक्ता आत्मा की संसार में यह दुर्दशा कि वह एक-एक दाने के लिए घर-घर भटके ।

पूज्य उपाध्यायजी म. उत्तर देते हैं कि इन सब यातनाओं का एकमात्र कारण परकीय वस्तु का विलास ही हैं ।

- संभूति मुनि स्व-साधना में तल्लीन थे । उत्कट तप की साधना कर उन्होंने आत्मानन्द की मस्ती प्राप्त की थी । परन्तु अफसोस ! एक दिन सनत्कुमार चक्रवर्ती की पट्ट स्त्रीरत्न की केशलता का उन्हें स्पर्श हो गया और एक आश्चर्य बन गया । योग के साधक संभूति मुनि भोग के भिखारी बन गये और सोचने लगे-**'अहो ! इस स्त्रीरत्न की केशलता का स्पर्श भी इतना सुहावना, सुकोमल और सुखदायी है तो इसके अंगस्पर्श में कितना आनन्द होगा ?'**

बस, उसी समय उन्होंने उस स्त्रीरत्न की प्राप्ति के लिए योग की

साधना को बेच देने का निर्णय कर लिया और यह निदान कर लिया कि **'मेरी इस तप-साधना का कोई फल हो तो आगामी भव में मुझे स्त्रीरत्न की प्राप्ति हो ।'**

तप के फलस्वरूप संभूति मुनि चक्रवर्ती बन भी गए, परन्तु फिर उसका परिणाम ? कहो-सातवीं नरकभूमि । सातवीं नरक की भयंकर यातनाओं में भी रागान्ध बना ब्रह्मदत्त **'कुरुमती' 'कुरुमती'** चिल्ला रहा है ।

संभूति मुनि एक स्त्रीरत्न के पर-भाव में लिप्त हुए तो उन्हें उसका परिणाम 7वीं नरकभूमि का निवास मिला ।

धन में आसक्त बना मम्मण सेठ । धन आत्मा की सम्पत्ति नहीं है, वह आत्मा से पर है । उसमें मम्मण आसक्त बन गया । उसने अपनी सारी शक्ति का उपयोग उस धन के संरक्षण में किया । मरते दम तक उसका यही प्रयास रहा, परन्तु क्या उस धन ने उसे बचा लिया ?

नहीं । बचाना तो दूर रहा बल्कि सातवीं नरक भूमि में धकेल दिया ।

पर-पुद्गल की आसक्ति से ही जीवात्मा की इस संसार में बुरी हालत हुई है, परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि जीवात्मा पुनः- पुनः उसी पुद्गल की ओर भागता है ।

जैसे सजा पाने के बावजूद भी चोर की नजर पर-धन की ओर ही होती है और व्यभिचारी की नजर परस्त्री की ओर ही होती है, इसी प्रकार पर-भाव के संग से आत्मा ने अत्यन्त दुःख ही पाया है, फिर भी पर-भाव में रमण की उसकी यह आदत छूट नहीं रही है ।

इतना दुःख पाने के बावजूद भी पर-भाव में रमण करते हुए उसे तनिक भी लज्जा नहीं आती है ।

ज्ञानदर्शनचारित्रकेतनां चेतनां विना ।
सर्वमन्यद् विनिश्चित्य यतस्व स्वहिताप्तये ।।62।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- ज्ञान, दर्शन और चारित्र के चिह्न वाली वस्तुओं को छोड़कर अन्य सब वस्तुएँ पर हैं, ऐसा निर्णय कर स्वहित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो ।।62।।

विवेचन

पर-भाव से मुक्त बनने के लिए स्व और पर की भेदरेखा जानना अत्यन्त आवश्यक है । स्वर्ण-चांदी-तांबे आदि के गुणों को अच्छी तरह जाने बिना व्यक्ति स्वर्ण की सत्य-परीक्षा नहीं कर सकता है । मात्र पीलापन देखकर स्वर्ण को खरीदने वाला स्वर्ण के बदले पीतल भी खरीद सकता है । अतः वस्तु की सत्य परीक्षा के लिए उसके दोनों पहलुओं को जानना आवश्यक है ।

अपनी आत्मा को परभाव से मुक्त बनाने के लिए **पूज्य उपाध्यायजी म.** अब आत्मा का लक्षण बतलाते हैं तथा साधक को किन-किन वस्तुओं में प्रवृत्ति करनी चाहिए और किन-किन से उसे निवृत्त होना चाहिए, यह भी प्रस्तुत गाथा में बतला रहे हैं ।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के जनक जो साधन हैं, उनके प्रति प्रशस्त राग रखना चाहिए और उनसे जो अन्य हैं, उन्हें पर समझना चाहिए ।

इस प्रकार स्व और पर का भेद समझकर आत्मसाधक प्रवृत्ति में लीन बनने और आत्मघातक प्रवृत्ति से दूर रहने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

'अन्यत्व भावना' का उद्देश्य भी यही है कि जो स्व स्वरूप से अन्य (पर) है, उसे जानकर उसका त्याग करना चाहिए ।

'नवतत्त्व' में बतलाया गया है कि–

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।

वीरिअं उवओगो य एवं जीवस्स लक्खणं ।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग यही जीवात्मा का लक्षण है, इसके सिवाय अन्य सब वस्तुएँ पर हैं । पर-वस्तु का संग आत्मा के गुणों का घातक है; आत्मा के लिए अहितकर है । अतः उनके संग का त्याग कर स्व स्वरूप (स्व गुणों) की साधना के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

पञ्चम भावनाष्टकम्

(गीतम्)

विनय निभालय निज-भवनं,
विनय निभालय निज-भवनं ।
तनु-धन-सुत-सदन-स्वजनादिषु,
किं निजमिह कुगतेखनम् ? ।।विनय० 63।।

अर्थ :- हे विनय ! तू अपने घर की (अच्छी तरह से) देखभाल कर ले । तेरे शरीर, धन, पुत्र, मकान तथा स्वजन आदि में से कोई भी तुझे दुर्गति में जाने से बचाने वाला नहीं है ।।63।।

विवेचन

दुर्गति से कौन बचाएगा ?

'अन्यत्व भावना' अर्थात् **'मैं'** शरीर, पुत्र, परिवार आदि से भिन्न (अन्य) हूँ । **'मैं'** आत्मा हूँ, **'मैं'** अकेला हूँ और **'मेरा कोई नहीं है'** इत्यादि चिन्तन करना । प्रतिदिन सोने के पूर्व **'संथारा-पोरिसि'** के माध्यम से इस भावना का भावन करना चाहिए ।

एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नामन्नस्स कस्सइ ।

अर्थात् मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ ।

आत्मा और पुद्गल द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं । ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह आत्मा का लक्षण है तथा शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि पुद्गल के लक्षण हैं । इस प्रकार दोनों तत्त्व सर्वथा भिन्न होने पर भी मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जीवात्मा देह आदि में ही आत्मबुद्धि कर लेती है, अर्थात् देह को ही वह आत्मा समझती है । यह अज्ञानी आत्मा की बहिरात्मदशा है । इस अवस्था में आत्मा देह, पुत्र, परिवार आदि पर तीव्र आसक्ति वाली होती है ।

आत्मा के इस अनन्त परिभ्रमण का एकमात्र कारण **'बहिरात्मदशा'** ही है । चरमावर्त में प्रवेश के बाद जीवात्मा में धर्म-प्राप्ति की कुछ योग्यता आती है । सद्गुरु के समागम से **'आत्मा देह से भिन्न है'** इस प्रकार का उसे ज्ञान होता है और धीरे-धीरे आत्मस्वरूप की पहिचान से बहिरात्म दशा का त्याग कर आत्मा **'अन्तरात्मदशा'** प्राप्त करती है ।

अन्तरात्मदशा की प्राप्ति के बाद भी तीव्र राग आदि के उदय से आत्मा पुनः बहिरात्मदशा में भी आ सकती है, अथवा पुनः पतन के अभिमुख भी जा सकती हैं । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

ध्वंस बहुत आसान है, मगर निर्माण कठिन है ।
पतन बहुत आसान है, मगर उत्थान कठिन है ।।

सम्यक्त्व आदि उत्थान का मार्ग है, अतः चढ़ना अत्यन्त कठिन है और चढ़कर पुनः स्थिर रहना और भी अत्यन्त कठिन है । बर्फीली चट्टान पर चढ़ना कठिन है, एक-एक कदम आगे बढ़ाना भी अत्यन्त कठिन है और आगे बढ़ने के बाद उस कदम पर स्थिर रहना भी सरल काम नहीं है । वहाँ पतन की सतत सम्भावना रहती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व की चट्टान पर आरोहण करने में भी अनेक समस्याएँ आती हैं । यह चढ़ाव अत्यन्त ही कठिन है ।

सम्यक्त्व की चट्टान पर चढ़ने के लिए और उस पर स्थिर रहने के लिए प्रतिदिन अन्यत्व आदि भावनाओं से आत्मा को भावित करना चाहिए ।

पूज्य उपाध्यायजी म. ने मुमुक्षु आत्माओं के लिए ही इन भावनाओं की रचना की है ।

अब चलो, अन्यत्व भावना के गेयाष्टक के गीत में लयलीन बनकर उसका रसास्वादन भी कर लें-

पूज्य उपाध्यायजी म. सर्वप्रथम देह, धन, पुत्र, मकान आदि की मूर्च्छात्याग के लिए उनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करते हुए आत्मसम्बोधनपूर्वक कहते हैं कि-

हे विनय ! तू देह, धन, मकान आदि में इतना मूर्च्छित क्यों हो रहा है ? तू कहता है-**'यह देह मेरा है ।'**

इस प्रकार देह में ममत्वबुद्धि कर उसके पीछे पागल बन गया है । उसकी पुष्टि के लिए अनेक प्रकार की हिंसक रासायनिक दवाएँ लेता है । थोड़ी सी बीमारी में **'हाय-हाय'** प्रारम्भ कर देता है । सख्त वेदना में **'मैं मर गया' 'मैं मर गया'**, इस प्रकार के क्रन्दन करता है । इस देह की शोभा के लिए अनेक प्रकार के सौन्दर्य-प्रसाधक हिंसक साधनों का उपयोग करता है ।

किन्तु जरा सोच ! क्या यह देह अन्त में तेरा साथ देने वाला है ? क्या यह देह परलोक में साथ जाएगा ? क्या यह देह दुर्गति में जाने से रोक देगा ?

कदापि नहीं । यह देह तो अन्त में धोखा ही देने वाला है ।

यह देह चौबीस घंटे तुम्हारी सेवा लेता है और तुम्हारे लिए (आत्मा के लिए) कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं है ।

अतः इस देह की ममता को छोड़ दो । जिस धन की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिए इतनी मेहनत कर रहे हो, किन्तु ध्यान रखो, तुम्हारी यह सब मेहनत व्यर्थ जाने वाली है । तुमने धन के लिए खून का पसीना किया, किन्तु वह धन तुम्हारे पीछे आँसू की दो बूंदें भी गिराने वाला नहीं है । इस धन का विश्वास छोड़ दो ।

पुत्र की भी इतनी ममता क्यों करते हो ? इस धरती पर जिस पुत्र को चौबीस घंटे साथ में लेकर घूमते हो अथवा वह तुम्हारे साथ रहता है, किन्तु परलोक की महायात्रा के प्रयाण के समय वह तुम्हारे साथ आने वाला नहीं है, वहाँ तो तुम्हें अकेला ही जाना पड़ेगा । अतः पुत्रादि सन्तान की मूर्च्छा का त्याग कर दो, वे तुम्हें दुर्गति में जाने से रोकने में समर्थ नहीं हैं ।

अपने विशाल बंगले पर भी तू व्यर्थ ही ममता करता है । तेरा यह बंगला तो एक दिन खण्डहर हो जाएगा अथवा तुझे उसे छोड़कर जाना पड़ेगा । वह भी तुझे दुर्गति में जाने से रोक नहीं सकता है ।

स्व जन आदि पर भी तू व्यर्थ ही ममता करता है । उनमें से कोई भी तेरा नहीं है और न ही वे तुझे दुर्गति में जाने से बचा सकते हैं । अतः हे आत्मन् ! तू अपने स्वरूप का विचार कर । परलोक-प्रयाण समय ये सांसारिक सामग्रियाँ तेरा कुछ भी संरक्षण करने में समर्थ नहीं हैं ।

भोजन, धन, पुत्र, पत्नी तथा देह पर सामान्यतः जीवात्मा को क्रमशः अधिक-अधिक प्रेम होता है । परन्तु ज्ञानियों का वचन है कि उन वस्तुओं को अपना मान लेने पर भी उनमें से एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो जीवात्मा को दुर्गति में जाने से रोक सके ।

हे आत्मन् ! यह जीवन तो अल्प समय के लिए है, कुछ समय बाद तो तुझे यहाँ से जाना ही पड़ेगा और परलोक-प्रयाण के साथ ही तेरे ये सम्बन्ध टूट जाएंगे । फिर तू व्यर्थ उनके ममत्व का पोषण क्यों कर रहा है ?

सावधान बन जा ।

जीवन अल्प है ।

येन सहाश्रयसेऽतिविमोहा-
दिदमहमित्यविभेदम् ।
तदपि शरीरं नियतमधीरं,
त्यजति भवन्तं धृतखेदम् ।।विनय० 64।।

अर्थ :- 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार इस शरीर के साथ एकता कर जिसका तूने आश्रय लिया है, वह शरीर तो अत्यन्त अधीर है और कमजोर हो जाने पर वह तुझे छोड़ देता है ।।64।।

विवेचन

देह की ममता तोड़ो

हे विनय ! तू अपनी देह का निरीक्षण कर । ओह ! जो शरीर तेरा नहीं है, उसके साथ तूने एकता सिद्ध कर ली है । याद रख, वह तुझे अन्त में धोखा दिये बिना नहीं रहेगा । यह देह तो आत्मा की शत्रु है । दुनिया में शत्रु को मित्र मानकर चलने वाला हमेशा धोखा ही खाता है ।

इस देह की गुलाम बनी आत्माएँ पतन के गर्त में ही गिरी हैं । दुनिया में अधिकांश हिंसा, झूठ आदि जो पाप हैं, वे सब इस देह के ममत्व के कारण ही हैं ।

महापुरुषों ने ठीक ही कहा है-**''देह के पोषण में आत्मा का शोषण**

है ।'' दशवैकालिक की यह निम्नलिखित पंक्ति हमें सुन्दर बोध देती है- **'देहदुक्खं महाफलं'** ।

समतापूर्वक देह को दिया गया कष्ट महाफल का कारण है ।

राजा ने मुनि की चमड़ी उतारने का आदेश दिया और जल्लाद तत्काल मुनि के पास पहुँच गए । जल्लादों ने मुनि को राजा की आज्ञा सुनाई, तब मुनि अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर बोले–

'ए तो वली सखाइ मलीओ, भाई थकी भलेरो रे ।'

जल्लाद खन्धक मुनि की चमड़ी उतारने के लिए आए हुए हैं और मुनि सोचते हैं-``अहो ! यह तो मेरे लिए कर्म खपाने का स्वर्णिम अवसर आ गया । यह राजा तो मेरे भाई से भी बढ़कर है, जो मेरी चमड़ी उतारने के बहाने मेरी आत्मा के बन्धन ही तोड़ देगा । यह मेरी औदारिक देह के नाश के बहाने मेरी आत्मा के बन्धन रूप कार्मण शरीर का नाश कर रहा है । ओह ! यह राजा मेरा कितना उपकारी है ।''

मुनि उन जल्लादों को भी कहते हैं-

राय सेवक ने तब कहे मुनिवर, कठण फरस मुज काया रे ।
बाधा रखे तुम हाथे थाये, कहो तिम रहीये भाया रे ।।

मुनि कहते हैं ``तप के कारण मेरी काया कृश बनी हुई है, मेरी चमड़ी अत्यन्त कठोर हो गई है, अतः भाई ! तू कहे वैसे मैं खड़ा रहूँ ।''

कितनी निर्ममता रही होगी मुनिराज की स्व देह पर ! तभी तो उन्हें अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और वे आत्मा के शाश्वत सुख के भोक्ता बन गए ।

अतः हे आत्मन् ! यदि तू परम आनन्द का आस्वादन करना चाहता है तो इस देह में आत्मबुद्धि का त्याग कर दे । देह का गुलाम बनने के बजाय इसका मालिक बन जा और इसे आत्म-साधना का साधन बना ले ।

जन्मनि जन्मनि विविध-परिग्रह-
मुपचिनुषे च कुटुम्बम् । तेषु भवन्तं परभवगमने,
नानुसरति कृशमपि सुम्बम् ।।विनय० 65।।

अर्थ :- जन्म-जन्म में तूने विविध परिग्रह और कुटुम्ब का संग्रह किया है । पर-भवगमन के समय उसमें से छोटे से छोटा रुई का टुकड़ा भी तेरे साथ गमन नहीं करता है ।।65।।

विवेचन

परलोक में कुछ भी साथ नहीं चलता है

अपनी आत्मा के भूतकाल की ओर जरा दृष्टिपात करें । उसमें क्या दिखाई दे रहा है ?

अहो ! हर जन्म में मैंने जिस-जिस शरीर को धारण किया है, उन्हें इकट्ठा किया जाय तो सैकड़ों मेरुपर्वत के ढेर हो जायें ।

अहो ! हर जन्म में जो माता-पिता किये हैं, उन्हें इकट्ठा किया जाय तो केवलज्ञानी भी उनकी गिनती नहीं कर पाएंगे, आखिर वे भी अनन्त ही कहेंगे ।

जन्म-जन्मान्तरों में मूर्च्छा से जिस धन का संग्रह किया था, उसका हिसाब लगाया जाय तो एक लाख योजन की ऊँचाई वाला स्वर्ण का मेरुपर्वत भी शर्मिन्दा हो जाय ।

इस जीवात्मा ने प्रत्येक भव में जिन मकानों का निर्माण किया है, उन्हें एक-दूसरे के ऊपर चढ़ाया जाय तो वह भवन एक राजलोक से भी ऊँचा हो जाय ।

आज तक यह जीवात्मा जितनी सन्तानों का बाप बना है, उसका तो वर्णन ही अशक्य है ।

क्षुधा-तृप्ति के लिए आज तक जो भोजन किया है, उसको समाने के लिए राजलोक भी छोटा पड़ता है ।

एक चूहे को भी धन के प्रति कितनी मूर्च्छा होती है, इसका ज्वलन्त उदाहरण कुमारपाल की वनयात्रा है–

- कुमारपाल ने देखा– एक चूहा अपने बिल में से सोना मोहर निकाल कर बाहर ला रहा है । बराबर बीस सोना मोहर थी । चूहा ज्योंही बिल में

गया, कुमारपाल ने कुछ सोना मोहरें उठा लीं । चूहे ने आकर अनुमान किया- सोना मोहर कम कैसे ?

चूहा सोना मोहर के लिए तड़पने लगा और उसने अपने प्राण दे दिये ।

इस प्रकार हर भव में हमने मूर्च्छा से धन का संग्रह किया । किसी भव में धन तो साथ आया नहीं, किन्तु उसकी मूर्च्छा सदा साथ रही और उस मूर्च्छा के परिणामस्वरूप सर्वतंत्र-स्वतंत्र आत्मा को अनन्त बार गर्भावास का कैदी बनना पड़ा ।

आज तक हम अनन्त धन छोड़कर आए हैं, अनन्त परिवार हमें छोड़ने पड़े हैं, परन्तु उनमें से कोई भी महाप्रयाण के समय साथ में नहीं चला है । धन का ढेर तो दूर रहा किन्तु एक तृण भी साथ में नहीं चला है, तो फिर निरर्थक निस्सार धन की इतनी अधिक ममता क्यों ?

त्यज ममता-परिताप-निदानं,
पर-परिचय-परिणामम् ।
भज निःसङ्गतया विशदीकृत-
मनुभवसुख-रसमभिरामम् ।।विनय० 66।।

अर्थ :- ममता और सन्ताप के कारणभूत पर-परिचय के परिणाम (अध्यवसाय) का तू त्याग कर दे और निस्संग बनकर अत्यन्त निर्मल अनुभव सुख का आस्वादन कर ।।66।।

विवेचन

निस्सङ्गता का आनन्द

पूज्य उपाध्यायजी म. जीवात्मा के परिताप और सन्ताप का कारण एवं उसके निदान को बतलाते हुए फरमाते हैं कि संसार की इस अनन्त यात्रा में जीवात्मा ने जो यातनाएँ सहन की हैं.....जो दुःख सहन किया है.....जो परिताप सहन किया है.....उसका एकमात्र कारण पर-पदार्थ का परिचय और उसकी ममता है ।

जिन आत्माओं ने पर-भाव की रमणता का त्याग किया, उनको छह खण्ड का आधिपत्य भी बाँध नहीं सका ।

भरत महाराजा छह खण्ड के अधिपति थे, हजारों रानियों के स्वामी थे किन्तु उनके हृदय में ममत्व भाव नहीं था, अतः पर-भाव रमणता के त्यागस्वरूप आत्म-परिणति के कारण उन्हें आदर्श-भवन (काँच के भवन) में ही केवलज्ञान हो गया और जो ममता से ग्रस्त रहे, उनके पास फूटी कौड़ी न होने पर भी वे सातवें नरक में चले गए । आत्मा के संसार और मोक्ष का एकमात्र आधार उसकी ममता और निर्ममता ही है ।

वास्तव में, ममत्व ही बन्धन है । ममत्व के बंधन के कारण ही आत्मा संसार में भटकी है और उससे मुक्त होने पर सर्वथा मुक्त बनी है ।

अतः हे आत्मन् ! तू बाह्य पदार्थों की इस ममता का त्याग कर दे । तू निस्संग बन जा । तू निर्ग्रन्थ बन जा । तू विरक्त बन जा और इसके साथ ही अत्यन्त निर्मल और मनोहर अनुभव सुख का रसास्वादन कर ।

परमात्मा ने आत्मा के आनन्द स्वरूप का जो वर्णन किया है, उसके श्रवण में भी आनन्द का अनुभव होता है, उसके वर्णन में आनन्द है । जब उसका वर्णन भी आनन्द देने वाला है तो उसके स्वानुभव में कितना आनन्द होगा ? यह तो अनुभवी व्यक्ति ही जान सकते हैं ।

बाह्य भाव से अलिप्त बनकर जब आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, तब आत्मा में से आनन्द के स्त्रोत का बहना प्रारम्भ हो जाता है । उसके रसास्वादन के बाद सांसारिक आनन्द तृण समान प्रतीत होने लगते हैं ।

पथि-पथि विविधपथैः पथिकैः सह,
कुरुते कः प्रतिबन्धम् ?
निज-निजकर्मवशैः स्वजनैः सह,
किं कुरुषे ममताबन्धम् ? ।।विनय० 67।।

अर्थ :- अलग-अलग विभिन्न मार्गों में अनेक पथिक मिलते हैं, परन्तु उनके साथ मैत्री कौन करता है ? प्रत्येक स्वजन अपने-अपने कर्म के पराधीन है, अतः उनके साथ तू व्यर्थ ही ममता क्यों करता है ? ।।67।।

विवेचन

परिवार पंखीमेला है

आपने बस में यात्रा की होगी.....रेल में यात्रा की होगी.....दूर-सुदूर के प्रदेशों में आप गये होंगे.....शायद पैदल-विहार भी किया होगा । इन यात्राओं के बीच आज तक हजारों लोगों को देखा होगा.....अनेक से एक-दो मिनट की बात भी की होगी, परन्तु उनका स्नेह-सम्बन्ध कब तक रहता है ? अल्प समय के लिए ही तो ।

रेल में सैकड़ों लोगों से मिलते हैं, पाँच-पच्चीस से बातचीत भी करते हैं, परन्तु उनका प्रेमसम्बन्ध कब तक ? जब तक आपका या उनका स्टेशन नहीं आता है तभी तक तो । ज्योंही आपका स्टेशन आया, आप नीचे उतर जाते हैं और घर पहुँचते-पहुँचते तो उन सहयात्रियों को भूल भी जाते हैं । उनसे कोई नाता नहीं, कोई रिश्ता नहीं, कोई याद नहीं, कोई फरियाद नहीं । आप उन्हें भूल जाते हैं और वे आपको भूल जाते हैं । फिर क्या पता, इस जीवन में पुनर्मिलन होगा भी या नहीं ।

बस, अपनी आत्मा की इस अनन्त-यात्रा में हमें भी अनेक पथिक मिले हैं और मिल रहे हैं । कोई भाई के रूप में है तो कोई बहिन के रूप में, कोई माता के रूप में है तो कोई पिता के रूप में । परन्तु आखिर तो सब पथिक हैं ।

जैसे मार्ग में किसी पथिक का चेहरा ही देखते हैं तो किसी से दो मिनट बात भी करते हैं और किसी के साथ नाश्ता भी कर लेते हैं ।

बस, इस संसार में भी अनेक का हम मात्र चेहरा ही देख पाते हैं और अनेक के साथ चार दिन-बीस दिन रहते भी हैं, परन्तु आखिर तो हम पथिक हैं । विश्रामगृह में कब तक ठहर सकते हैं । कुछ समय बाद तो उसे छोड़ना ही पड़ता है । बस, इसी प्रकार से यह जीवन भी विश्रामगृह की भाँति है । यहाँ स्वजन कुटुम्ब आदि का जो मेला है, वे सब अलग-अलग मार्ग के पथिक हैं । अतः अल्प समय के लिए ही सबका मिलन होता है, फिर तो सब अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़ेंगे ही ।

स्व-स्व कर्म के अनुसार स्वजन-कुटुम्ब का यह पंखीमेला है । यह पंखीमेला तो प्रातःकाल होते ही बिखर जाने वाला है ।

अतः हे आत्मन् ! तू व्यर्थ ही स्वजन-कुटुम्ब में राग क्यों कर रहा है ? उनके राग से तुझे कुछ भी फायदा होने वाला नहीं है । व्यर्थ में तू राग कर अपनी आत्मा को ही बन्धनग्रस्त बना रहा है ।

ममता के इस बन्धन को तू छोड़ दे और मुक्त पंखी की भाँति स्वतंत्र बन जा ।

प्रणयविहीने दधदभिष्वङ्गं,
सहते बहुसन्तापम् ।
त्वयि निःप्रणये पुद्गलनिचये,
वहसि मुधा ममतातापम् ।।विनय० 68।।

अर्थ :- जिसे अपने प्रति प्रेम नहीं है, उससे प्रेम करने में अनेक सन्ताप सहन करने पड़ते हैं । इन पुद्गलों के समूह को तेरे प्रति कोई प्रेम नहीं है । तू व्यर्थ ही ममता की गर्मी वहन कर रहा है ।।68।।

विवेचन

मैत्री समान से होती है

पतंगा अग्नि से प्रेम करना चाहता है, उसका आलिंगन करना चाहता है, उसके हृदय में अग्नि के प्रति अपार स्नेह है, परन्तु वह प्रेम एकांगी है, अग्नि के हृदय में उसके प्रति कोई प्रेम नहीं है । अतः अग्नि और पतंगे का प्रेम कैसे टिक सकता है ? पतंगा ज्योंही अग्नि का संग करता है, त्योंही अग्नि उसे जलाकर भस्मीभूत कर देती है ।

जैसे दोनों हाथों से ताली बजती है, उसी प्रकार प्रेम भी तभी टिकता है, जब वह दोनों ओर से होता है । एकांगी प्रेम अल्पजीवी और अस्थिर होता है ।

इसी प्रकार तू पौद्गलिक पदार्थ से प्रेम करता है । तू धन से प्रेम करता है, मकान से प्रेम करता है, मोटर से प्रेम करता है । परन्तु क्या तूने कभी यह सोचा है कि तेरी यह प्रीति एकपक्षीय है अतः यह प्रेम टिकने वाला ही नहीं है । तू धन से प्रेम करता है किन्तु धन तुझसे प्रेम नहीं करता है, तू बंगले को

चाहता है किन्तु बंगला तुझे नहीं चाहता है । अतः एकपक्षीय प्रीति कैसे टिक सकती है !

प्रेम वही दृढ़ बनता है, जहाँ दोनों की प्रकृति एक हो । परन्तु जरा विचार कर, तूं तो आत्मा है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र तेरा स्वभाव है और तू भिन्न स्वभाव वाले पुद्गल से प्रेम करता है । पुद्गल का स्वभाव तो सड़न-गलन का है ।

तू अविनश्वर है, वह नश्वर है ।

तू शाश्वत है, वह क्षणिक है ।

तू सुख का महासागर है और उसे सुख से लेना-देना नहीं है ।

तू चेतन है और वह अचेतन है ।

अतः जो तेरा नहीं है और तुझसे सर्वथा भिन्न है, उसके (पुद्गल के) साथ व्यर्थ ही ममता कर अपने आपको परेशान करता है ।

त्यज संयोगं नियत-वियोगं,
कुरु निर्मल-मवधानम् ।
नहि विदधानः कथमपि तृप्यसि,
मृगतृष्णाघनरसपानम् ।।विनय० 69।।

अर्थ :- जिनका अन्त में अवश्य वियोग होने वाला है उन संयोगों का तुम त्याग कर दो और निर्मल भाव करो । मृग-तृष्णा के जल का कितना ही पान किया जाय, उससे कभी तृप्ति होने वाली नहीं है ।।69।।

विवेचन

संयोग में राग दुःख का कारण है

महापुरुषों के इस कथन को याद करो-

'संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुःखपरम्परा ।'

संसार में जीवात्मा ने संयोग (सम्बन्ध) के कारण ही दुःख की परम्परा प्राप्त की है ।

पंचसूत्र में कहा है-

'संजोगो वियोगकारणम् ।'

संयोग वियोग का कारण है । परन्तु जीवात्मा ने इस सत्य को स्वीकार नहीं किया, बल्कि इस संसार में जो-जो संयोग मिले, उन्हें शाश्वत मानकर उनके राग में आसक्त बन गया ।

धन का संयोग हुआ, उससे राग किया, उसमें आसक्त बन गया ।

पुत्र-परिवार आदि मिले, उसमें आसक्त बना ।

इसके साथ ही आश्चर्य तो यह है कि जीवात्मा धन के अभाव को सहन कर लेगा, किन्तु उसकी प्राप्ति के बाद उसके वियोग को सहन करने में समर्थ नहीं होता है । धन के अभाव में कठिनाई से भी जीवन निर्वाह चला लेगा किन्तु करोड़पति बनने के बाद रोडपति (भिखारी) बनना उसे स्वीकार नहीं है । इस प्रकार प्रत्येक संयोग की आसक्ति के कारण जीवात्मा ने भयंकर पापकर्मों का ही (सृजन) किया है ।

अतः हे आत्मन् ! जिनका अवश्य ही वियोग होने वाला है, उनका पहले से ही त्याग कर दे और अपने आत्मस्वरूप के साथ एकाग्रता धारण कर ले । मृगतृष्णा के जल का कितना ही पान किया जाय, उससे तृप्ति होने वाली नहीं है ।

ग्रीष्म ऋतु में जब हवा गर्म हो जाती है तब रेगिस्तान में दूर से ऐसा प्रतीत होता है मानों पानी का प्रवाह बह रहा हो । परन्तु वह तो मृगमरीचिका ही है । वह एकमात्र भ्रम ही है । वहाँ जाने से जल की एक बूंद भी मिलने वाली नहीं है । बेचारा मृग ! उस मृगतृष्णा में जल की कल्पना कर भागता है, दौड़ता है; परन्तु अन्त में उसे निराश ही होना पड़ता है ।

यदि तू निराशा नहीं चाहता है तो संयोग-सम्बन्ध की ममता का त्याग कर निर्ममत्व भाव को धारण कर ।

भज जिनपतिमसहाय-सहायं,
शिवगति-सुगमोपायम् ।
पिब गदशमनं परिहृतवमनं,
शान्तसुधारसमनपायम् ।।विनय० 70।।

अर्थ :- असहाय की सहायता करने वाले जिनेश्वरदेव को तुम भजो, यही मुक्ति-प्राप्ति का सरल उपाय है। शान्तसुधारस का तूँ पान कर, जो रोग का शामक है, वमन को दूर करने वाला है और अविनाशी है ।।70।।

विवेचन

शिवगति का उपाय

परमेष्ठि-भगवन्तों की शरणागति का स्वीकार मुक्ति-प्राप्ति का सुगम उपाय है। जिनेश्वर परमात्मा करुणा के महासागर हैं। वे सतत करुणा की वर्षा कर रहे हैं। जो भव्यात्मा जिनेश्वर परमात्मा की शरणागति स्वीकार कर लेती है, वह सनाथ बन जाती है और जिन्होंने जिनेश्वरदेव की शरणागति स्वीकार नहीं की है, वह छह खण्ड की अधिपति चक्रवर्ती होते हुए भी अनाथ ही है। अनाथ में से सनाथ बनने का एकमात्र उपाय है-परमेष्ठिभगवन्तों की शरणागति का स्वीकार।

परमेष्ठि-शरणागति के बाद आत्मा निर्भय बन जाती है।

परमेष्ठि-शरणागति के साथ-साथ तूँ **शान्तसुधारस** का अमीपान कर।

इस **शान्तसुधारस** (अमृत रस) के तीन गुण हैं-(1) इससे समस्त व्याधियों का उपशमन हो जाता है। रोग के उपशमन से आत्मा शान्त बनती है और आरोग्य का अनुभव करती है।

(2) यह अमृतरस वमन को दूर करने वाला है। इन्द्रियों के विकार वमनस्वरूप हैं, **शान्त अमृतरस** के पान से इन्द्रियों के विकार दूर हो जाते हैं।

(3) यह शांत रस पीड़ारहित है। इसके पान में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं रहती है। इस सुधारस के पान के बाद आत्मा अमर बन जाती है, विनाश के भय से वह सर्वथा मुक्त बन जाती है।

यह **शान्तसुधारस** तो अमृतरस का पान है।

भोजन करने पर क्षुधा की तृप्ति होती है। पानी पीने पर तृषा शान्त होती है, औषधि का सेवन करने पर रोग नष्ट होता है, इसी प्रकार जो आत्मा इस **शान्तसुधारस** का पान करती है, वह अमृतस्वरूप बन जाती है। जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त बनकर परम पद प्राप्त कर लेती है। परमपद की प्राप्ति के बाद आत्मा अमर बन जाती है, फिर उसे न जन्म की पीड़ा रहती है और न ही मरण की। आत्मा शाश्वतकाल तक परमानन्द का अनुभव करती है।

6 अशुचि भावना

सच्छिद्रो मदिराघटः परिगलत्तल्लेशसंगाशुचिः,
शुच्यामृद्य मृदा बहिः स बहुशो, धौतोऽपि गङ्गोदकैः ।
नाधत्ते शुचितां यथा तनुभृतां कायो निकायो महा-
बीभत्साास्थिपुरीषमूत्ररजसां नायं तथा शुद्ध्यति ।।71।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- छोटे-छोटे छिद्रों से युक्त शराब के घड़े में से धीरे-धीरे शराब की बूंदें बाहर निकल कर घड़े के बाह्य भाग को भी अपवित्र कर देती हैं । उस बाह्य भाग में सुन्दर मिट्टी का मर्दन किया जाय अथवा गंगा के पवित्र जल से उसे बारम्बार धोया जाय, फिर भी वह पवित्र नहीं बनता है, उसी प्रकार अति बीभत्स हड्डी, मल-मूत्र तथा रक्त के ढेर समान यह मानवदेह भी मात्र स्नानादि से पवित्र नहीं बनता है ।।71।।

विवेचन

अशुचि से भरा शरीर

दुनियाँ में एक शौचवादी धर्म है जो मात्र शरीर-शुद्धि पर अत्यधिक भार देता है । वह शरीर की शुद्धि से ही मुक्ति पाना चाहता है । परन्तु इस प्रकार के शौचवाद से कभी कर्म-मुक्ति सम्भव नहीं है ।

'प्रशमरति' ग्रन्थ में एक शौचवादी ब्राह्मण की बात आती है, जो इस प्रकार है-

- किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त ही शौचवादी था । थोड़ी सी भी अशुद्धि होने पर वह स्नान कर शरीर की शुद्धि करता था ।

एक बार वह अपने घर से निकला । मार्ग में एक हरिजन झाड़ू निकाल रहा था । झाड़ू से उड़ी कुछ धूल उस ब्राह्मण पर आ गई । झिझककर वह ब्राह्मण बोला-**'तेरी इस धूल ने मुझे अपवित्र बना दिया ।'**

हरिजन ने कहा-``वाह ! इस धूल से आप अपवित्र हो गए ? तब तो इस मार्ग पर बहुत से अपवित्र लोग भी चलते हैं, अतः उन सबसे स्पर्श पाई हुई धूल पर आपके चलने से आप भी अपवित्र हो जाओगे ?'' शौचवादी ब्राह्मण ने सोचा- ``बात तो इसकी सत्य है, इस प्रकार यहाँ रहने से तो मैं अपवित्र हो जाऊंगा, अतः मुझे ऐसे स्थान पर चले जाना चाहिए, जहाँ कोई मनुष्य ही नहीं रहता हो ।''

उसने अपने परिवारजनों से बात कही । सभी ने कहा- ``इस प्रकार की पवित्रता का आग्रह मत रखो, ऐसी पवित्रता कहीं भी सम्भव नहीं है ।''

लेकिन हठाग्रही उस ब्राह्मण ने किसी की बात नहीं सुनी और उसने एक दिन नाविक को कहा-``क्या तुम ऐसे टापू से परिचित हो, जहाँ कोई मनुष्य नहीं रहता हो ?''

उसने कहा-``हाँ, एक टापू मेरे ख्याल में है ।''

वह ब्राह्मण नाव में बैठ गया और एकान्त टापू पर जा पहुँचा । उस टापू पर अन्य कोई मनुष्य नहीं था, वहाँ एकमात्र गन्ने की फसल थी ।

टापू के पास की किसी नदी में वह स्नान कर लेता और अपने आपको पवित्र मानता । भूख के समय वह गन्ना चूसकर खा लेता । धीरे-धीरे समय बीतने लगा । मात्र गन्ने के रस के कारण धीरे-धीरे उसे कंटाला आने लगा ।

एक दिन अपनी नाव के टूट जाने से एक यात्री उस टापू पर आ पहुँचा । वह अन्य किसी यान की इन्तजारी में था । टापू पर अन्य फल न होने से वह भी गन्ना ही चूसता । गन्ने के रस का पाचन न होने से उसे दस्त लगने लगी । वह अलग-अलग स्थानों में जाकर मल करने लगा ।

शौचवादी ब्राह्मण गन्ने के स्वाद से कंटाल गया था, वह किसी अन्य फल की तलाश में था । आखिर वह दूसरे यात्री के मल-विसर्जन के स्थान पर आ गया और उसकी दस्त के शुष्क मल को ही अन्य फल समझकर खाने लग गया । कुछ दिन बीते । एक दिन अचानक उस यात्री से उसकी भेंट हो गई ।

शौचवादी ब्राह्मण ने पूछा-``तुम क्या खाते हो ?''

उसने कहा-``मात्र गन्ने का रस ।''

``क्या गन्ने के फल नहीं खाते हो ?''

`नहीं । गन्ने के फल कहाँ होते हैं ?' उस यात्री ने कहा ।

शौचवादी ब्राह्मण ने कहा-``चलो, मैं दिखाता हूँ ।'' और वह उसे शुष्क दस्त दिखाने लगा । यह देखते ही उस यात्री को हँसी आ गई । उसने कहा-``पागल हो क्या ? ये कोई गन्ने के फल हैं ? यह तो मेरा मल है ।''

सुनते ही शौचवादी ब्राह्मण हाल बेहाल हो गया-``अहो ! अपवित्रता से बचने के लिए तो घर छोड़कर यहाँ आया और यहाँ आकर यह पाशविक चेष्टा कर दी ।''

वह ब्राह्मण अपने आपको धिक्कारने लगा ।

जैनशासन में भी शौचधर्म बतलाया गया है, परन्तु उसमें अभ्यन्तर-शौच की प्रधानता है, बाह्य शौच गौण है । मात्र यदि बाह्य शौच-शारीरिक शुद्धि से ही मुक्ति हो जाती तो सदा जल में वास करने वाले मत्स्य कभी के मुक्त बन जाते । परन्तु मात्र देह-शुद्धि से कभी मुक्ति नहीं होती है, मुक्ति के लिए तो मनःशुद्धि की आवश्यकता रहती है ।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

हंस का रंग देखो तो `व्हाइट' है,
बगुले का रंग भी तो `व्हाइट' है ।
परन्तु दोनों में अन्तर देखो,
तो `डे' एण्ड `नाइट' है ।

जो मनःशुद्धि को गौण कर तन-शुद्धि पर ही बल देते हैं, उनके लिए किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

मन मैला तन ऊजला, बगुला जैसा रंग ।
इससे तो कौआ भला, तन मन एक ही रंग ।।

शरीर तो अशुचि का घर है, उसकी शुद्धि कभी सम्भव नहीं है । **पूज्य उपाध्यायजी महाराज** एक रूपक के द्वारा हमें यह बात समझाते हैं ।

एक अधपका मिट्टी का घड़ा है और उसमें शराब भरी हुई है । धीरे-धीरे वह शराब उस घड़े में से रिसने व बहनें लगती है । चारों ओर उस शराब

की दुर्गन्ध फैलती है । उस शराब की दुर्गन्ध को रोकने के लिए कोई व्यक्ति पवित्र नदी गंगा की मिट्टी से उसका लेप कर दे अथवा पवित्र गंगाजल से उसे बारम्बार धो दे, तो भी वह घड़ा दुर्गन्ध को रोक नहीं सकता है ।

बस, यही हालत इस शरीर की है । इसको कितनी ही बार नहलाया जाय, परन्तु यह अपनी दुर्गन्ध का त्याग नहीं करता है । अस्थि, मज्जा, मांस तथा रक्त आदि दुर्गन्धित पदार्थों से यह शरीर भरा हुआ है, अतः जल-स्नान से इसे पवित्र करने की बाद हास्यास्पद ही है ।

स्नायं स्नायं पुनरपि पुनः स्नान्ति शुद्धाभिरद्भि-
र्वारं वारं बत मल-तनुं चन्दनैरर्चयन्ते ।
मूढात्मानो वयमपमलाः प्रीतिमित्याश्रयन्ते,
नो शुद्ध्यन्ते कथमवकरः शक्यते शोद्धुमेवम् ।।72।।

(मन्दाक्रान्ता)

अर्थ :- मूढ़ प्राणी बारम्बार स्नान करके मल से युक्त इस शरीर को शुद्ध जल से साफ करता है, उसके बाद उस पर चन्दन का लेप करता है और उसके बाद **'हम मल से मुक्त बन गए'** इस प्रकार प्रीति का आश्रय करता है । किन्तु वह कभी शुद्ध नहीं होता है, क्या कचरे के ढेर को किसी प्रकार से शुद्ध किया जा सकता है ? ।।72।।

विवेचन

शरीर मल का घर है

इस शरीर की शुद्धि के लिए व्यक्ति कितने प्रयत्न करता है । पहले विविध तेलों से मालिश करता-करवाता है, फिर गर्म जल से स्नान करता है, फिर सुगन्धित साबुन लगाता है, पुनः ठण्डे-गर्म जल से स्नान करता है । स्नान के बाद शरीर को पोंछकर उस पर चन्दन के तेल का विलेपन करता है, शरीर पर इत्र आदि लगाता है । सिर पर सुगन्धित तेल लगाता है । नयी-नयी डिजाइन के कीमती वस्त्र पहनता है और इस प्रकार तैयार होकर दर्पण में अपना मुँह देखकर खुश होता है और मन में अहंकार करता है-``वाह ! मैं कितना सुन्दर हूँ, मेरा चेहरा कितना चमक रहा है ।''

परन्तु **उपाध्यायजी म.** कहते हैं कि शरीर को सौन्दर्य-प्रसाधनों से चमक-दमक वाला करने में कोई फायदा नहीं है ।

वे तो कहते हैं कि `क्या उकरड़े को कभी साफ किया जा सकता है ?' प्रत्येक गाँव में, गाँव के बाहर उकरड़ा होता है, जहाँ सभी कचरा डालते हैं ।

क्या उस उकरड़े को साफ किया जा सकता है ? नहीं । उसे ऊपर-ऊपर से ज्यों-ज्यों साफ करते हैं, त्यों-त्यों उसकी दबी हुई गन्दगी ही बाहर निकलती है । उस उकरड़े पर सुगन्धित पदार्थ डालना, केवल मूर्खता ही है ।

बस, यह शरीर भी उकरड़े की भाँति ही है, इसे साफ करने की चेष्टा करना केवल मूर्खता ही है ।

कर्पूरादिभिरर्चितोऽपि लशुनो नो गाहते सौरभं,
नाजन्मोऽपकृतोऽपि हन्त पिशुनः सौजन्यमालम्बते ।
देहोऽप्येष तथा जहाति न नृणां स्वाभाविकीं विस्रतां,
नाभ्यक्तोऽपि विभूषितोऽपि बहुधा पुष्टोऽपि विश्वस्यते ।।73।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- कर्पूर आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित करने पर भी लहसुन कभी सुगंध को ग्रहण नहीं करता है । जीवन पर्यन्त नीच व्यक्ति पर कितना ही उपकार किया जाय तो भी उसमें सज्जनता नहीं आती है, इसी प्रकार मनुष्य का देह भी अपनी स्वाभाविक दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता है । इस देह की कितनी ही सेवा की जाय, इस देह को कितने ही आभूषणों से विभूषित किया जाय, इस देह को कितना ही पुष्ट किया जाय, फिर भी इस पर विश्वास नहीं रखा जा सकता है ।।73।।

विवेचन

शरीर अपना स्वभाव छोड़ने वाला नहीं है

लहसुन को कर्पूर आदि सुगन्धित पदार्थों के बीच रखा जाय तो भी उसकी दुर्गन्ध सुगन्ध में बदलती नहीं है और उसकी दुर्गन्ध प्रगट हुए बिना रहेगी नहीं ।

जिस प्रकार लहसुन अपनी दुर्गन्ध का त्याग नहीं करता है, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति भी कभी अपनी दुष्ट प्रकृति का त्याग नहीं करता है ।

एक महात्मा नदी किनारे जा रहे थे । अचानक उन्होंने जल में गिरे हुए एक बिच्छू को देखा । महात्मा को दया आ गई, उन्होंने उस बिच्छू को अपनी हथेली में उठा लिया । किन्तु उस बिच्छू ने तत्काल ही महात्मा की हथेली में डंक मारा, जिससे हथेली हिली और वह उछलकर पुनः जल में जा गिरा ।

महात्मा को दया आई, **'बेचारा ! जल में मर जायेगा ।'** अतः पुनः उसे जल से बाहर निकाला ।

किन्तु बिच्छू ने अपनी दुष्टता नहीं छोड़ी, दूसरी बार भी उसने महात्मा के हाथ में डंक मार दिया । हथेली के हिलने से वह पुनः जल में जा गिरा ।

परोपकारपरायण महात्मा जब पुनः उसे बचाने की कोशिश करने लगे तब पास में खड़े एक व्यक्ति ने कहा- ``महात्माजी ! आप व्यर्थ ही बालिश चेष्टा क्यों कर रहे हैं ? आप तो इसे बचा रहे हैं और यह.....।''

महात्मा ने कहा-``भाई ! यदि यह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, तो मैं अपने स्वभाव का त्याग क्यों करूँ ?''

कहने का सार यह है कि सज्जन व्यक्ति कितना ही परोपकार करे, किन्तु दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता का प्रदर्शन किए बिना नहीं रहेगा ।

दुष्ट मित्र जैसी ही इस शरीर की हालत है । इसे कितना भी नहलाया जाय, इसकी कितनी ही सेवा की जाय, तो भी अन्त में तो यह धोखा ही देने वाला है ।

बात याद आ जाती है एक श्रेष्ठिपुत्र की । उस श्रेष्ठिपुत्र के तीन मित्र थे । एक मित्र हमेशा साथ रहता था । उसके साथ वह अनेक बार भोजन करता था । अनेक प्रकार की बातें करता था ।

दूसरे मित्र से कभी-कभी मिलना होता था, बहुत कम बार उसके साथ खाने का काम पड़ता था ।

तीसरे मित्र के साथ क्वचित् ही मिलने का काम पड़ता था और उसके मिलने पर मात्र **'नमस्कार'** आदि की औपचारिक क्रियाएँ होती थीं ।

एक दिन उस श्रेष्ठिपुत्र ने उन तीनों मित्रों की परीक्षा करनी चाही कि इनमें से सच्चा मित्र कौनसा है ?

श्रेष्ठिपुत्र ने राजा के अतिप्रिय पोपट को पकड़कर अपने घर में छिपा दिया और वह भागा, अपने रोजींदा मित्र के घर ।

मित्र को जाकर बोला-``मैं राजा का अपराधी हूँ । मैंने राजा के प्रिय पोपट को मार डाला है, अतः राजा मुझे पकड़ लेगा, तुम मुझे अपने घर में संरक्षण दो ।''

मित्र ने सोचा-``अहो ! इसने तो राजा का अपराध किया है, राज्य के अपराधी को आश्रय देना तो पाप है, इससे तो मैं भी फँस जाऊँगा'' इत्यादि सोचकर बोला-``अहो ! तूने राजा का अपराध किया है, अतः तू तो डूबेगा ही और मुझे भी डुबोना चाहता है अतः तू यहाँ से जल्दी चला जा.....।''

मित्र की यह बात सुनकर श्रेष्ठिपुत्र भौंचक्का रह गया । फिर वह भागा अपने उस मित्र के घर, जिससे वह माह में 1-2 बार ही मिलता था और साथ खाता-पीता था । उस मित्र के पास जाकर उसने सब बात कही । मित्र ने नाश्ता आदि कराया और फिर उसे कहा-``यहाँ रहने में आपत्ति है, अतः यहाँ से दूर भाग जाओ ।'' यह बात सुनकर श्रेष्ठिपुत्र निराश हो गया, वह गया अपने तीसरे मित्र के घर ।

श्रेष्ठिपुत्र के आते ही इस तीसरे मित्र ने स्वागत किया, सत्कार किया और उसके बाद आगमन का कारण पूछा । श्रेष्ठिपुत्र ने राज-अपराध की बात कही । तब उस मित्र ने कहा-``चिन्ता मत करो, आपको यहीं छिपकर रहना है । मेरे होते हुए आपका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता है । आप बेफिक्र रहिए ।''

इस मित्र का इस प्रकार का आश्वासन सुनते ही श्रेष्ठिपुत्र के आनन्द का पार न रहा, उसने निर्णय किया-``वास्तव में, यही सच्चा मित्र है ।''

इस कथानक के अनुसार आत्मा श्रेष्ठिपुत्र है । देह चौबीस घंटे साथ रहने वाला रोजींदा मित्र है । स्वजन-परिवार कदाचित् के मित्र हैं और धर्म क्वचित् मिलने वाला मित्र है ।

इन मित्रों की परीक्षा करेंगे तो पता चलेगा कि हमेशा साथ रहने वाला देह आत्मा को धोखा ही देने वाला है। आत्मा के पाप की सजा भोगने के समय यह देह धोखा दे देता है ।

कभी-कभी साथ में रहने वाले स्वजन-परिवार आदि भी आपत्ति के समय आत्मा को रक्षण देने वाले नहीं हैं ।

आत्मा को रक्षण देने वाला एकमात्र धर्म ही है। धर्म ही आत्मा को मुक्तिपर्यन्त सहयोग देता है ।

ग्रन्थकार महर्षि यही फरमाते हैं कि इस देह की कितनी ही मालिश करो, इसकी विभूषा करो, इसे पुष्ट करो परन्तु इससे आत्मा को कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है, बल्कि यह देह विश्वास का भी पात्र नहीं है। इसका विश्वास करने जैसा नहीं है, इसके भरोसे रहने वाला भी हमेशा नुकसान ही उठाता है ।

यदीय संसर्गमवाप्य सद्यो भवेच्छुचीनाम शुचित्वमुच्चैः ।
अमेध्ययोनेर्वपुषोऽस्य शौच-संकल्पमोहोऽयमहो महीयान् ।।74।।

(उपेन्द्रवज्रा)

अर्थ :- जिसके संसर्ग को प्राप्त करके पवित्र वस्तु भी शीघ्र ही अत्यन्त अपवित्र हो जाती है तथा जो शरीर अपवित्र वस्तुओं की उत्पत्ति का केन्द्र है, ऐसे शरीर की पवित्रता की कल्पना करना महाअज्ञान ही है ।।74।।

विवेचन

शरीर की प्रकृति

इस देह की दशा ही कुछ और है ।

हम इस देह को विशुद्ध करने के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु इस देह का स्वभाव ही बड़ा विचित्र है, जो भी इसके सम्पर्क में आता है उसे यह बिगाड़ देता है, अत्यन्त दुर्गन्धमय बना देता है ।

दुनिया में जितने कारखाने हैं, वे कच्चे माल को पक्का माल बनाते हैं। कपड़े की मिल देखिए-रुई के धागों को वह कितने आकर्षक कपड़े के रूप में बदल देती है ?

परन्तु यह शरीर तो विपरीत स्वभाव वाला कारखाना है, यह तो पक्के माल को गंदगी के रूप में बदल देता है ।

सुगन्धित इत्र इसके सम्पर्क में आया तो उसे यह पसीने की गन्दगी में बदल देता है ।

स्वादिष्ट आम व मिष्टान्न इसके सम्पर्क में आए तो उसे वह विष्ठा के रूप में बदल देता है ।

सुन्दर व कीमती रेशमी वस्त्रों से इस शरीर को आच्छादित किया, किन्तु उन्हें भी कुछ ही दिनों में बिगाड़ देता है ।

हलवाई की दुकान पर अत्यन्त आकर्षक लगने वाले मिष्टान्न की इस शरीर के सम्पर्क में आने के बाद क्या हालत होती है ? इससे कोई अपरिचित नहीं है ।

स्वादिष्ट गुलाबजामुन मुँह में डाले और तत्क्षण उल्टी हो गई । क्या हालत होगी, उन गुलाबजामुनों की ? क्या अन्य कोई उस ओर देखने की भी चेष्टा करेगा ? नहीं, कदापि नहीं ।

मल्लिकुमारी का रूप अत्यन्त सुन्दर था । अनेक राजकुमार उससे विवाह करना चाहते थे । वे उसके रूप में मोहित बने हुए थे । आत्म-स्वरूप की ज्ञाता मल्लिकुमारी ने सोचा, इन राजकुमारों को इस देह की वास्तविकता का ज्ञान कराना चाहिए । यह सोचकर उसने स्ववर्ण समान सोने की एक पुतली बनवाई, जो अन्दर से खोखली थी । उस पुतली के सिर पर ढक्कन था, प्रतिदिन मल्लिकुमारी उस पुतली में भोजन का एक-एक कवल डालने लगी । कुछ महीनों के बाद जब वे छह राजकुमार मल्लिकुमारी के भवन में आए, तब मल्लिकुमारी ने अपनी वह प्रतिमा भी पास में मंगा ली और उसका ढक्कन खोल दिया । ढक्कन हटाते ही उसमें से भयंकर बदबू आने लगी । राजकुमारों का दम घुटने लगा, वे रुमाल से अपना नाक दबाने लगे ।

मल्लिकुमारी ने कहा-``राजकुमारो ! तुम मेरे देह में आकर्षित बने हो, परन्तु मेरे देह की वास्तविकता को तुमने पहचाना है ?, देखो, पास में यह मेरी प्रतिमा, जिसमें मैंने प्रतिदिन भोजन का एक ही कवल डाला है, फिर भी उसकी यह दुर्गन्ध । तो इस शरीर में तो मैं अनेक बार भोजन डालती हूँ । फिर यह सुगन्धित कैसे रह सकता है ?''

मल्लिकुमारी की इस बोधजनक बात को सुनकर सभी राजकुमार प्रभावित हो गए और उन्होंने अपनी आसक्ति का त्याग कर दिया ।

जो स्वयं अशुचि स्वरूप है, उसकी शुद्धि कैसे हो सकती है ? अतः बाह्य शौचधर्म की बात करना केवल मूर्खता ही होगी ।

इत्यवेत्य शुचिवादमतथ्यं, पथ्यमेव जगदेकपवित्रं ।
शोधनं सकलदोषमलानां, धर्ममेव हृदये निदधीथाः ।।75।।

(स्वागता)

अर्थ :- इस प्रकार **'शुचिवाद'** को अतथ्य समझकर सकल दोषों की शुद्धि करने वाले जगत् में एकमात्र पवित्र धर्म को हृदय में धारण करो ।।75।।

विवेचन

शुद्ध धर्म का सेवन ही श्रेयस्कर है

इस प्रकार इस देह की शौचवाद की अवास्तविकता को समझकर एकमात्र धर्म का आश्रय करना ही श्रेयस्कर है । आत्मा के दोष स्वरूप मैल को दूर करने के लिए धर्म साबुन के समान है । सम्पूर्ण जगत् में इस धर्म के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है । यही पथ्य है और यही तथ्य है ।

रोग के निवारण के लिए पथ्य का सेवन और अपथ्य का त्याग अनिवार्य है । दोनों की उपेक्षा से रोग का निवारण शक्य नहीं है । अपथ्य का त्याग किया जाय और पथ्य का सेवन न किया जाय अथवा पथ्य का त्याग किया जाय और अपथ्य का त्याग न किया जाय तो रोग का निवारण शक्य नहीं है ।

आत्मा पर भी कर्म का रोग लगा हुआ है । उस कर्मरोग के निवारण के लिए अपथ्यभूत अधर्म का त्याग और पथ्यभूत धर्म का सेवन अनिवार्य है । यह धर्म मोक्षमार्ग के लिए पथ्यभूत है, अतः इसका सेवन अत्यन्त ही अनिवार्य है ।

आत्मा के शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए यह धर्म ही तथ्य स्वरूप है ।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि मात्र बाह्य शौचस्वरूप जो **'शुचिवाद'** है, उसका त्याग कर आत्मा की अभ्यन्तर शुद्धि लाने वाले शुद्ध धर्म का आसेवन ही वास्तविक कल्याण का मार्ग है । अतः उसी का सेवन करना चाहिए ।

षष्ठभावनाष्टकम्-गीतम्

भावय रे वपुरिदमतिमलिनं,
विनय विबोधय मानसनलिनम्,
पावनमनुचिन्तय विभुमेकं,
परम महोदयमुदितविवेकम् ।।भावय रे०.....।।76।।

अर्थ :- हे विनय ! तू इस प्रकार की भावना कर कि यह शरीर अत्यन्त मलिन है । अपने मनोमय कमल को विकसित कर जहाँ एक प्रकाशवान, विवेकवान और महापवित्र आत्मा है, उसका बारम्बार चिन्तन कर ।।76।।

विवेचन

मलिन देह में पावन आत्मा

जीवात्मा जब तक इस संसार में भटकती है, तब तक उसे प्रत्येक जन्म में देह धारण करना पड़ता है । तैजस और कार्मण शरीर तो अनादि काल से जीवात्मा से लगे हुए ही हैं । परन्तु भव-धारण के लिए जीवात्मा को औदारिक या वैक्रियिक शरीर भी धारण करना पड़ता है । देव और नारक के भव में आत्मा तैजस-कार्मण के साथ वैक्रिय शरीर धारण करती है और मनुष्यतिर्यंच के भव में तैजस कार्मण के साथ औदारिक शरीर धारण करती है ।

इस प्रकार हर जन्म में किसी-न-किसी देह के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध रहता ही है । देह के बिना जीवन अशक्य है ।

ज्ञानियों ने मानव-देह को मुक्ति का साधन बतलाया है । अनुत्तरवासी देवों को भी मुक्ति पाने के लिए स्त्री-गर्भ में आना ही पड़ता है और गर्भावास आदि की पीड़ा भी भोगनी पड़ती है । परन्तु अफसोस ! मोक्ष के साधनभूत मानव-देह की प्राप्ति के बाद भी मोहाधीन आत्मा उस देह के राग में अत्यन्त आसक्त बन जाती है और मोक्ष के साधनभूत देह को ही अपना साध्य बना लेती है । फिर चौबीस घंटे उसी की सेवा.....उसी की शुश्रूषा ।

देह में आसक्त भव्यात्माओं की सुषुप्त अन्तश्चेतना की जागृति के लिए **पूज्य उपाध्यायजी म.** आत्म-सम्बोधनपूर्वक प्रेरणा देते हुए फरमाते हैं कि-

यह शरीर मल से व्याप्त है । मल से ही इस शरीर का सर्जन हुआ है । मल से ही इस शरीर की वृद्धि हुई है ।

जैसे तालाब में चारों ओर कीचड़ होता है, किन्तु उसके बीच भी खिले हुए कमल होते हैं जो कीचड़ से सर्वथा अलिप्त होते हैं । इसी प्रकार इस देह रूप तालाब में मल रूप कीचड़ के बीच अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश के पुंज स्वरूप चेतन द्रव्य है ।

तालाब के पास जाकर कोई कीचड़ की मांग नहीं करता है, बल्कि खिले हुए कमल ही देखता और ग्रहण करता है ।

इसी प्रकार इस देह में भी हमें कमल स्वरूप चैतन्य की ओर ही दृष्टि डालने की है, उसी के स्वरूप की हमें भावना करना है ।

दम्पतिरेतोरुधिरविवर्ते,
किं शुभमिह मलकश्मलगर्ते ।
भृशमपिपिहितं स्रवति विरूपं,
को बहु मनुतेऽवस्करकूपम् ।।भावय रे०.....।।77।।

अर्थ :- दम्पति के वीर्य और रक्त के कचरे के ढेर से जो बना हुआ है, उस देह में अच्छा क्या हो सकता है ? उसको बारम्बार ढक देने पर भी उसमें से बीभत्स पदार्थ बहते रहते हैं । इस कचरे के कूप की कौन प्रशंसा करे ? ।।77।।

विवेचन

शरीर गन्दगी का कूप है

कई गाँवों में कचरा डालने के लिए बड़े-बड़े गड्ढे अथवा कुए होते हैं । शहरों में भी सड़क के किनारे कचरा पेटी देखने को मिलती है । उस कचरा पेटी में क्या होता है ? एकमात्र कचरा ही न ?

बस, यह शरीर भी कचरे का ही ढेर है । इसकी उत्पत्ति भी रज, वीर्य

और रक्त जैसे दुर्गन्धित पदार्थों से ही हुई है । गर्भावास अर्थात् मल की कोठरी में ही इसका सृजन हुआ है । वहाँ न कोई सुगन्धित पदार्थ थे और न कोई सुख-सुविधा ।

मल से सृजत यह देह भी मल से ही भरा हुई है । इस देह में मल है, मूत्र है, हाड़ है, मांस है, श्लेष्मा है, कफ है, वात है, पित्त है, इत्यादि मल से ही यह शरीर भरा हुआ है ।

कितने ही सुन्दर व कीमती वस्त्रों से इस शरीर को ढका जाय, इसे कितने ही कीमती आभूषणों से सजाया जाय, फिर भी इस शरीर में से गन्दगी का बहना बन्द नहीं होता है । इस शरीर में से समय-समय पर बीभत्स पदार्थों का निर्गमन चालू ही रहता है ।

जरा सोचें ! इस प्रकार मल से आवृत इस शरीर के साथ कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रीति धारण करेगा ?

भजति सचन्द्रं शुचिताम्बूलं,
कर्तुं मुखमारुतमनुकूलम् ।
तिष्ठति सुरभि कियन्तं कालं,
मुखमसुगन्धि जुगुप्सितलालम् ।।भावय रे०.....।।78।।

अर्थ :- मुख में से अनुकूल पवन निकालने के लिए मनुष्य कर्पूरादि सुगन्धित पदार्थों से युक्त पान (तांबूल) खाता है । किन्तु मुख स्वयं ही घृणित लार से भरा हुआ है, उसकी यह सुगन्ध कब तक रहती है ? ।।78।।

विवेचन

शरीर में सुगन्ध रह नहीं पाती है

गन्दगी से भरपूर इस शरीर को सुगन्धित व आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य कितनी मेहनत करता है ?

मुख में से सुगन्धित पवन निकले, इसके लिए व्यक्ति इलायची आदि से मिश्रित पान खाता है । इलायची, लोंग, सुपारी आदि बारम्बार चबाता रहता है ।

पान खाकर वह कहीं थूकता है, परन्तु जिस शरीर में ही गन्दगी भरी

हुई है, तो मुँह से सुगन्धित वायु की आशा करना व्यर्थ ही है । मुँह के नीचे तो तुच्छ लार रही हुई है ।

उस लार में अत्यन्त दुर्गन्ध होती है । वह थूक अथवा लार किसी पर गिर जाय तो तत्काल झगड़ा होने की सम्भावना रहती है ।

शरीर की यही वास्तविक स्थिति है, तो फिर इससे प्रेम व राग करना मूर्खता ही है । देखो तो सही, शरीर का सौन्दर्य भी कब तक ? इस पर लगाये पदार्थों की चमक-दमक कितने समय तक रहती है ?

मात्र थोड़े समय के लिए । तो फिर प्रश्न होता है ऐसे शरीर में आसक्ति क्यों ?

असुरभिगन्धवहोऽन्तरचारी,
आवरितुं शक्यो न विकारी ।
वपुरुपजिघ्रसि वारं-वारं,
हसति बुधस्तव शौचाचारम् ।।भावय रे०.....।।79।।

अर्थ :- शरीर में व्याप्त दुर्गन्धित और विकारी पवन को रोका नहीं जा सकता है, ऐसे शरीर को तू बारम्बार सूंघता है । विद्वज्जन तेरे इस **'शौचाचार'** पर हास्य करते हैं ।।79।।

विवेचन

शरीर कभी स्वच्छ नहीं हो सकता

इस शरीर में जो भी पवन जाता है, वह इस शरीर के सम्पर्क में आते ही दुर्गन्धित बन जाता है । मलयाचल से आने वाला पवन भी इस देह में प्रवेश के साथ दुर्गन्ध में परिवर्तित हो जाता है ।

नाक फूल की खुशबू ग्रहण करता है, किन्तु उस खुशबू को ग्रहण करने के बाद भी इस नाक में से कैसा पवन बाहर निकलता है !

दुनिया के समस्त सुगन्धित पदार्थों को दुर्गन्धित बनाने वाला यह शरीर है ।

शहर में जितनी भी गन्दगी है, उन सबका जनक यह मानव-शरीर है ।

ओह ! फिर भी आश्चर्य कि ऐसे गन्दे देह को आकर्षक बनाने के लिए मनुष्य नाना सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग करता रहता है और फिर इस देह को बारम्बार सूंघता है, चाटता है ।

क्या इस मलिन देह को पास में रखकर शौचधर्म का पालन हो सकता है ? तू जल से भले ही बाहर की गन्दगी को साफ कर दे, परन्तु अन्दर की गन्दगी थोड़े ही साफ होने वाली है ।

द्वादश-नव रन्ध्राणि निकामं,
गलदशुचीनि न यान्ति विरामम् ।
यत्र वपुषि तत्कलयसि पूतं,
मन्ये तव नूतनमाकूतम् ।।भावय रे०.....।।80।।

अर्थ :- स्त्री-शरीर के बारह और पुरुष-शरीर के नौ द्वारों में से सतत अपवित्रता बह रही है, जो कभी रुकती नहीं है, ऐसे शरीर में तू पवित्रता की कल्पना करता है, यह तेरा कैसा नवीन तर्क है ? ।।80।।

विवेचन

बीभत्स देह

इस देहधारी पुरुष के नौ अंगों में से सतत बीभत्स पदार्थ बाहर निकलते रहते हैं ।

दोनों कानों में से मैल, दोनों आँखों में से पानी व मैल, दोनों नासिका-छिद्रों में से श्लेष्मा, मुँह में से लार तथा मल-मूत्र के विसर्जनद्वारों में से मल-मूत्र ।

इस प्रकार इस शरीर के सभी द्वारों से सतत गन्दगी ही बहती रहती है ।

कुछ समय के लिए कदाचित् गन्दगी का बहना रुक सकता है, किन्तु पूर्ण विराम तो सम्भव नहीं है ।

स्त्री-शरीर के बारह द्वारों में से सतत गन्दगी बहती है ।

इस प्रकार गन्दगी से भरपूर इस शरीर में पवित्रता की कल्पना एकमात्र कुतर्क ही है ।

अशितमुपस्कर-संस्कृतमन्नं,
जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम् ।
पुंसवनं धैनवमपि लीढं,
भवति विगर्हितमति जनमीढम् ।।भावय रे०.....।।81।।

अर्थ :- देह मसाले आदि से संस्कारित अन्न को खाकर, दुनिया में केवल घृणा पैदा करता है । गाय का मधुर दूध भी मूत्र रूप में बदलकर निन्दा का पात्र बनता है ।।81।।

विवेचन

शरीर-संसर्ग से भोजन की दुर्दशा

इस शरीर की पुष्टता के लिए व्यक्ति नाना प्रकार के भोजन करता है । रसना की तृप्ति के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार की भोजन-सामग्रियाँ बनाता है । अनेक प्रकार के मिष्टान्न, अनेक प्रकार के नमकीन, अनेक प्रकार की साग-सब्जियाँ आदि से भरपूर भोजन करता है । किन्तु गले से नीचे उतारने के बाद उस भोजन की क्या हालत होती है ? वह सुगन्धित भोजन दुर्गन्ध में बदल जाता है । कुछ ही घंटों के बाद ताजा भोजन विष्ठा में बदल जाता है । **'कोकाकोला'** आदि स्वादिष्ट पेय भी कुछ समय बाद मूत्र में बदल जाते हैं और चारों ओर गन्दगी ही फैलाते हैं । इस प्रकार यह मानव-देह ही विश्व की समस्त गन्दगी का सर्जक है ।

केवलमलमय-पुद्गलनिचये,
अशुचीकृत-शुचि-भोजनसिचये ।
वपुषि विचिन्तय परमिह सारं,
शिवसाधन-सामर्थ्यमुदारम् ।।भावय रे०.....।।82।।

अर्थ :- यह तो केवल मल के परमाणुओं का ढेर है, पवित्र भोजन और वस्त्रों को भी अपवित्र करने वाला है, फिर भी इसमें मोक्ष-प्राप्ति का सामर्थ्य है, यही इसका सार है ।।82।।

विवेचन

देह में प्रतिष्ठित आत्मा

इस सम्पूर्ण चौदह राजलोक में पुद्गल द्रव्य व्याप्त है । पुद्गल द्रव्य के चार भेद हैं-स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । परमाणु पुद्गल का एक अविभाज्य अंश है, जिसके पुनः दो टुकड़े नहीं किए जा सकते हैं । इस चौदह राजलोक में स्वतंत्र एक-एक पुद्गल परमाणु भी अनन्त की संख्या में हैं ।

जब एकसे दो पुद्गल परस्पर मिल जाते हैं, तो वह दो परमाणु की एक वर्गणा कहलाती है । इस प्रकार इस चौदह राजलोक में दो-दो परमाणुओं के संयोग वाली वर्गणाएँ भी अनन्त पुद्गल समूहों की भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ हैं ।

ये पुद्गल परिवर्तनशील हैं । इनके रूप-रस-गन्ध आदि भी बदलते रहते हैं । इन पुद्गल समुदायों की मुख्य आठ वर्गणाएँ हैं-

(1) औदारिक (2) वैक्रिय (3) आहारक (4) तैजस (5) भाषा (6) श्वासोच्छ्वास (7) मन और (8) कार्मण ।

औदारिक शरीर की रचना के लिए औदारिक वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं । वैक्रिय शरीर की रचना के लिए वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं ।

पुद्गल का अर्थ है-पुद्=इकट्ठा होना और गल अर्थात् बिखर जाना ।

अपना शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों का बना हुआ है । अपने शरीर में से प्रतिसमय असंख्य, अनन्त पुद्गल बाहर निकलते हैं और अन्य असंख्य पुद्गल प्रवेश करते हैं ।

इस प्रकार यह शरीर परमाणुओं का पुंज मात्र ही है । यह परमाणुपुंज कभी भी बिखर सकता है ।

यह शरीर अपने सम्पर्क में आने वाले वस्त्र, पात्र तथा भोजन आदि को भी अपवित्र करने वाला है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. इस बीभत्स शरीर में भी एक आशा की किरण देख रहे हैं, वे कहते हैं कि इस औदारिक शरीर में तो आत्मा को शाश्वत शिव-सुख प्रदान करने का सामर्थ्य भी है । आज तक जितनी भी अनन्त आत्माएँ

मोक्ष में गई हैं, वे इसी देह को प्राप्त कर गई हैं, अतः हमें भी इस देह की प्राप्ति हुई है, जो हमारे लिए स्वर्ण अवसर समान है, अतः इस मानव-देह के द्वारा मुक्ति की साधना कर लेने की है और इसके लिए प्रतिदिन यह सोचना चाहिए कि **'इस देह के द्वारा आज मैंने कौनसा सुकृत किया है ? इस देह से मैंने कितना परोपकार किया है ?'**

'पर-हित में इस देह का कितना उपयोग किया है ?'

इस प्रकार सोचकर निरन्तर आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

येन विराजितमिदमति-पुण्यं,
तच्चिन्तय चेतन नैपुण्यम् ।
विशदागममधिगम्य निपानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम् ।।भावय रे०.....।।83।।

अर्थ :- हे चेतन ! तू ऐसी निपुणता का चिन्तन कर, जिससे इसे महान् पुण्य के रूप में बिराजमान किया जा सके । विस्तृत आगम रूप जलाशय को जानकर **शान्त सुधारस** का पान कर ।।83।।

विवेचन

आगम का अमृतपान करो

अति बीभत्स ऐसे मानव-देह को अति पुण्यशाली भी बनाया जा सकता है । यदि इस देह के द्वारा सम्पूर्ण अहिंसा का पालन किया जाय, इस देह के द्वारा संयम और तप का आचरण किया जाय, तो यह देह भी तीर्थ स्वरूप बन जाती है और देवों के लिए भी वन्दनीय-पूजनीय बन जाती है ।

त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर परमात्मा भी इसी मानव-देह के द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं । चारों निकाय के सभी देव उनकी पूजा-अर्चना आदि करते हैं । तीर्थंकर परमात्मा के जन्म समय कोटि देवताओं का आगमन होता है और उनके निर्वाण महोत्सव के लिए भी करोड़ों देवता आते हैं, यह सब प्रभाव उनके तीर्थंकरत्व (आर्हंत्य) का ही है और उस तीर्थंकरत्व की प्राप्ति भी मानव-शरीर से ही होती है ।

अतः हे आत्मन् ! मानव-देह अत्यन्त बीभत्स होते हुए भी मुक्ति का साधन होने से अत्यन्त ही दुर्लभ है । इस मानवदेह से देवों को दुर्लभ ऐसे विरतिधर्म की साधना हो सकती है और इस विरति धर्म की साधना से मानव अपने समस्त बन्धनों से मुक्त बन सकता है ।

अतः हे आत्मन् ! महापवित्र आगम रूप जो जलाशय है, उस जलाशय में से **शांत सुधारस** का तू पान कर । इस शान्त सुधारस का पान करने से अनादि से अतृप्त तेरी तृषा शान्त हो जाएगी ।

जिस नाव से समुद्र तरा जाय, वही वास्तव में नाव है । समुद्र में ही डुबो दे, वह वास्तव में नाव ही नहीं है । इसी प्रकार उसी का मानव-जीवन (मानव-देह की प्राप्ति) सार्थक है, जो इस देह को प्राप्त कर इसे मोक्षसाधक धर्म का साधन बना देता है । यदि इस मानव-देह से मोक्ष की साधना न की जाय, तो यह मानव-देह, आत्मा का भयंकर अधःपतन करा सकता है । जो अपने देह को मोक्ष का साधक बना देता है, उसका वह देह भी पवित्र बन जाता है ।

अतः हे चेतन ! ऐसा निपुण चिन्तन कर कि जिसके द्वारा तू अपनी आत्मा को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सके ।

हे आत्मन् ! जरा विचार कर, जिनेश्वर का आगम तो अमृत-रस का जलाशय है, उस जलाशय में शान्त रस का पान कर अपनी आत्मा को तृप्त कर ।

7 आस्रव भावना

यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भिः
प्रपूर्येत सद्यः पयोभिस्तटाकः ।
तथैवास्रवैः कर्मभिः सम्भृतोऽङ्गी,
भवेद् व्याकुलश्चञ्चलः पङ्किलश्च ।।84।।

(भुजंगप्रयातम्)

अर्थ :- जिस प्रकार चारों ओर से आते हुए झरनों के जल से तालाब शीघ्र ही भर जाता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी आस्रवद्वारों से आने वाले कर्मों से भर जाता है और फिर आकुलव्याकुल, चंचल और मलिन बनता है ।।84।।

विवेचन

आस्रवद्वारों से आत्मा में कर्म का आगमन

इस विस्तृत चौदह राजलोक रूप संसार में सर्वत्र कार्मण वर्गणाएँ उपलब्ध हैं । ये कार्मण वर्गणाएँ पुद्गल स्वरूप हैं । जब आत्मा राग और द्वेष के अधीन होकर कर्म-पुद्गलों को आमन्त्रण देती है, तब ये कर्म-वर्गणाएँ आत्मा के पास पहुँच जाती हैं और क्षीर-नीर की भाँति आत्मा के साथ घुल-मिल जाती हैं और आत्मा कर्म के अधीन बन जाती है ।

आत्मा में कर्म के आगमन के द्वारों को आस्रव कहते हैं ।

इसे अनेक रूपकों के द्वारा समझ सकते हैं ।

(1) एक विशाल तालाब है । उसकी चारों दिशाओं में जल के आगमन के मार्ग बने हुए हैं और सभी द्वार खुले हैं । अचानक जोरों की वर्षा होती है और पानी अपने स्वभाव के अनुसार निम्न भाग की ओर बढ़ता है, अतः थोड़े ही समय में चारों ओर से उस तालाब में पानी आने लगता है और कुछ ही घंटों में वह तालाब भर जाता है । बस, इसी प्रकार से जीवात्मा भी एक तालाब है । इसमें कर्म-परमाणुओं के आगमन के लिए आस्रव के द्वार बने हुए

हैं, अतः जब जीवात्मा राग-द्वेष के अधीन बनता है, तब चारों ओर से आत्मा में कर्म-परमाणुओं का आगमन प्रारम्भ हो जाता है और आत्मा कर्मों से युक्त हो जाता है ।

(2) यह संसार सागर तुल्य है, इसमें जीवात्मा रूपी नाव है । जब नाव में छिद्र पड़ जाते हैं तब चारों ओर से पानी आने लगता है, इसी प्रकार जब जीवात्मा राग-द्वेष के परिणाम द्वारा आस्रव के द्वार खोल देता है तब उसमें चारों ओर से कर्म-परमाणुओं का आगमन प्रारम्भ हो जाता है ।

राग और द्वेष के परिणाम द्वारा जब जीवात्मा अपने शत्रु-भूत कर्मों को स्वगृह में प्रवेश करा देता है, तब उसके फलस्वरूप उसे नाना प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

आत्मा के संसार-परिभ्रमण का मूल कर्म है और कर्म का मूल आस्रवद्वार हैं ।

आस्रव के कुल 42 भेद हैं । इनमें से किसी एक भी प्रवृत्ति का आश्रय करते ही जीवात्मा में कर्मों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है । फिर ज्योंही ये कर्म उदय में आते हैं तब आत्मा आकुल-व्याकुल बन जाती है और कर्म के उदय के फलस्वरूप ही आत्मा को जन्म की पीड़ाएँ, मृत्यु की पीड़ाएँ, रोग-शोक-भय आदि के दुःख भोगने पड़ते हैं ।

यावत् किञ्चिदिवानुभूय तरसा कर्मेह निर्जीर्यते,
तावच्चास्रवशत्रवोऽनुसमयं सिञ्चन्ति भूयोऽपि तत् ।
हा कष्टं कथमास्रवप्रतिभटाः शक्या निरोद्धुं मया,
संसारादतिभीषणान्मम हहा मुक्तिः कथं भाविनी ।।85।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- जब तक कुछ कर्मों को भोगकर जल्दी ही उनकी निर्जरा कर देते हैं, तब तक तो आस्रव रूप शत्रु प्रति-समय अन्य कर्मों को लाकर पुनः सिंचन कर देता है । हा ! खेद है मैं उन आस्रव शत्रुओं का निरोध कैसे करूँ ? इस भीषण संसार से मैं कैसे मुक्त बनूँ ? ।।85।।

विवेचन

आस्त्रवों के निरोध में कठिनाई

अपनी आत्मा प्रति-समय आठों कर्मों की कुछ अंश में निर्जरा करती है। अज्ञान आदि के द्वारा आत्मा उदयावलिका में आए हुए ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करती है। अंधत्व आदि के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का कुछ अंश में क्षय करती है। सुख-दुःख के संवेदन द्वारा शाता-अशाता वेदनीय कर्म का क्षय करती है। इस प्रकार आत्मा प्रति-समय कर्मों का क्षय करती है। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि आत्मा अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा प्रति-समय सात या आठ कर्मों का बन्ध भी करती रहती है।

प्रति-समय कर्म का क्षय अति अल्प होता है, जबकि कर्म के आगमन और उसके बन्ध का परिमाण अत्यधिक है।

एक मकान में से आप कचरा साफ करना चाहते हैं और बाहर अत्यन्त तूफान चल रहा है। आपने दरवाजे-खिड़कियाँ आदि खुली ही रखी हैं, तो क्या आप मकान को साफ कर सकोगे ? नहीं। कदापि नहीं। आप थोड़ा सा कचरा साफ करोगे तब तक तो ढेर सा कचरा अन्दर आ जाएगा।

शत्रुओं का आगमन अधिक संख्या में हो और उनमें से बहुत थोड़े ही परास्त हो रहे हों, तो स्थिति भयजनक हो जाती है।

आस्त्रवद्वारों के खुले होने से सतत कर्मों का आगमन चालू रहता है और उनका प्रबल प्रतिकार नहीं हो पाता है। अतः समस्या है कि आस्त्रवों के प्रतिकार बिना इस भीषण संसार से आत्मा की मुक्ति कैसे होगी ?

मिथ्यात्वाविरति-कषाययोग संज्ञा-
श्चत्वारः सुकृतिभिरास्त्रवाः प्रदिष्टाः ।
कर्माणि प्रतिसमयं स्फुटैरमीभि-
र्बध्नन्तो भ्रमवशतो भ्रमन्ति जीवाः ।।86।।

(प्रहर्षणी)

अर्थ :- महापुरुषों ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को चार

आस्त्रव कहा है । इन आस्त्रवों के द्वारा प्रति समय कर्मों को बाँधते हुए जीव भ्रमवश संसार में भटकते हैं ।।86।।

विवेचन

कर्म-बंध के चार हेतु

प्रस्तुत गाथा में कर्मबंध के मुख्य चार हेतु बताए जा रहे हैं-(1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) कषाय और (4) योग ।

इन चारों के सेवन से आत्मा प्रतिसमय कर्म का बंध करती है । अपनी आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश हैं और प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कार्मण-वर्गणाएँ लगी हुई हैं और प्रत्येक कर्म में आत्मा को भयंकर सजा देने की ताकत रही हुई है ।

(1) **मिथ्यात्व :-** मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा अथवा दृष्टि । तत्त्व में अतत्त्व-बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि मिथ्यात्व का रूप है । वीतराग को देव न मानना और रागादि से कलुषित आत्माओं को देव मानना ।

जो निर्ग्रंथ गुरु हैं, उन्हें गुरु नहीं मानना और जो उन्मार्ग के उपदेशक हैं, उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार करना ।

जिनेश्वर देव के द्वारा कथित दयामय धर्म को अस्वीकार करना और अज्ञानी द्वारा निर्दिष्ट हिंसामय प्रवृत्ति को धर्म मानना ।

सारांश रूप में जिनेश्वर द्वारा कथित वचन में सन्देह करना ।

इस मिथ्यात्व के 5 भेद हैं-

1. **आभिग्रहिक मिथ्यात्व :-** मिथ्या धर्म पर दुराग्रह करना, आत्मा को एकान्त नित्य अथवा अनित्यादि स्वीकार करना, इत्यादि ।
2. **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :-** सभी धर्मों को समान समझना । तत्त्व-अतत्त्व के सन्दर्भ में विवेक का अभाव होना ।
3. **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :-** सर्वज्ञ के बहुत से वचनों पर विश्वास करना, किन्तु 1-2 बात पर विश्वास नहीं करना और अपनी बात का दुराग्रह करना ।
4. **सांशयिक मिथ्यात्व :-** सर्वज्ञ के वचन में शंकाशील बनना अर्थात् जिनेश्वर ने जिस वस्तु का निरूपण किया है, उसमें शंकाएँ पैदा करना ।

5. **अनाभोगिक मिथ्यात्व :-** तत्त्व-अतत्त्व के अध्यवसाय का सर्वथा अभाव । एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में मन के अभाव के कारण **'तत्त्व क्या है ?'** इस प्रकार का विचार ही नहीं होता है ।

मिथ्यात्व की उपस्थिति में 9½ पूर्व का ज्ञान भी अज्ञान और चारित्र भी कायकष्ट कहलाता है । मिथ्यादृष्टि आत्मा करोड़ों वर्षों के तप आदि से जितने कर्मों की निर्जरा करती है, उससे भी अधिक कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि आत्मा एक नवकारसी के पच्चक्खाण से कर लेती है ।

मिथ्यात्व सर्व पापों का सरदार है । अतः जब तक इसकी उपस्थिति है, तब तक आत्मा में कर्मों का आस्रव अत्यधिक परिमाण में होता है ।

(2) **अविरति :-** अविरति अर्थात् पाप के त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव । जबतक इच्छापूर्वक रुचि के साथ पाप-त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की जाती है, तब तक पाप न करते हुए भी पाप का बंध होता है ।

1. जैसे किसी से आपने मकान भाड़े पर ले लिया, अब उस मकान का आप उपयोग करें या न करें, तो भी उसका भाड़ा आपको चुकाना पड़ता है ।
2. किसी से रुपये उधार लिये । अब उन रुपयों का आप उपयोग करें या न करें, समय होते ही आपको ब्याज देना पड़ता है ।
3. बिजलीघर से आपने अपने घर में बिजली ली है । अतः आपको प्रतिमास न्यूनतम चार्ज देना ही पड़ता है । यदि आप नहीं देना चाहते हैं तो आपको कनेक्शन कटवाना चाहिए ।

इसी प्रकार यदि आप कर्मों का बंधन नहीं चाहते हैं तो पाप-त्याग की प्रतिज्ञा के द्वारा पापों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए, अन्यथा उनका आगमन सतत जारी रहता है ।

एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं में अविरति का तीव्र उदय होने से कर्मों का आस्रव चालू ही रहता है ।

अविरति के त्याग की प्रतिज्ञा का बहुत बड़ा फल है ।

सर्वविरति के स्वीकार से एक भिखारी भी त्रिलोक-पूज्य बन जाता है । पूर्व भव में एक दिन की दीक्षा के पालन से भिखारी का जीव संप्रति महाराजा बन गया था ।

(3) **कषाय :-** कष अर्थात् संसार । आय अर्थात् वृद्धि । जिसके सेवन से आत्मा के संसार की अभिवृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं । कषाय के सेवन से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है ।

अल्पकालीन कषाय का भी परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है । क्रोध कषाय के आवेश के कारण कंडरिक को 7वीं नरक-भूमि में जाना पड़ा । लोभ के वश पड़कर मम्मण सेठ मरकर 7वीं नरक भूमि में गया ।

कषाय के मुख्य चार भेद हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ ।

इनके सेवन से आत्मा कर्मों का बंध करती है ।

(4) **योग :-** मन, वचन और काया को योग कहते हैं । मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से आत्मा कर्म का बंध करती है । शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म (पुण्य) का बंध और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म (पाप) का बंध होता है ।

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग की प्रवृत्ति से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है और आत्मा इस भीषण संसार में भटकती है ।

इन्द्रियाव्रत-कषाय-योगजाः,
पञ्च-पञ्च-चतुरन्वितास्त्रयः ।
पञ्चविंशतिरसत्क्रिया इति,
नेत्र-वेद-परिसंख्ययाप्यमी ।।87।।

(रथोद्धता)

अर्थ :- इन्द्रिय, अव्रत, कषाय और योग में से इनकी उत्पत्ति होती है और इनकी संख्या क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन हैं तथा पच्चीस असत् क्रियाओं के साथ इनकी (आस्रवों की) बयालीस संख्या होती है ।।87।।

विवेचन

आस्रव के 42 भेद

आस्रव के कुल 42 भेद हैं-

5 इन्द्रियों की असत् प्रवृत्ति,

5 अव्रत,

4 कषाय,

3 योग,

25 असत् क्रियाएँ ।

पाँच इन्द्रियों की असत् प्रवृत्ति

मनुष्य-योनि में जीवात्मा को पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति होती है । विवेकवान आत्मा इन पाँचों इन्द्रियों को धर्म में जोड़ती है और अपनी आत्मा का कल्याण करती है । वह आत्मा कानों से जिनेश्वर की वाणी का श्रवण करती है; आँखों से शास्त्रों का वाचन, देव-गुरु के दर्शन और जीव-दया का पालन करती है । जिनेश्वर की भक्ति में उपयोगी सुगन्धित पदार्थों की परीक्षा में अपने नाक का उपयोग करती है । जीभ के द्वारा वह प्रभु की स्तुति करती है और शरीर का उपयोग अन्य की सेवा शुश्रूषा में करती है, जबकि इन्हीं पाँचों इन्द्रियों को प्राप्त कर मोहाधीन आत्मा पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों को पाने के लिए दौड़-धूप करती है, अनुकूल विषय मिलने पर राग करती है और प्रतिकूल विषय मिलने पर द्वेष करती है । वह कानों से रेडियो के गीत आदि का श्रवण करती है । आँखों से रूपवती स्त्रियों के रूप को देखती है । इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों को वह भौतिक शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में जोड़ती है और इसके फलस्वरूप उस आत्मा में आस्रव का द्वार खुला ही रहता है और अनन्त कार्मण-वर्गणाएँ आकर उस आत्मा पर चोट लगाती हैं ।

पाँचों इन्द्रियों के कुल 23 विषय हैं । उन विषयों की प्राप्ति-अप्राप्ति में राग-द्वेष करने से आत्मा में कर्म का आस्रव होता है ।

(5) **अव्रत :-** 1. हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से हिंसा में प्रवृत्त होना **'प्राणातिपात'** नामक अव्रत है ।

2. झूठ के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से झूठ में प्रवृत्त होना **'मृषावाद'** नामक अव्रत है ।

3. चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से चोरी में प्रवृत्त होना **'अदत्तादान'** नामक अव्रत है ।

4. मैथुन के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से मैथुन की प्रवृत्ति में संलग्न होना **'अब्रह्म'** नामक अव्रत है ।

5. परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से परिग्रह में प्रवृत्त होना **'परिग्रह'** नामक अव्रत है ।

इन अव्रतों के सेवन से भी आत्मा में आस्त्रव के द्वार खुले रहते हैं और आत्मा कर्म का बंध करती है ।

चार कषाय :-

1. **क्रोध :-** क्रोध अर्थात् गुस्सा करना, आवेश में आ जाना । किसी गलत बात को सहन न कर बुरा-भला कहना ।

2. **मान :-** प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्तु का अभिमान करना, गर्व करना, झूठी बड़ाई हाँकना, किसी को नीचा दिखाना, इत्यादि ।

3. **माया :-** धन आदि के लोभ में आकर किसी के साथ माया-कपट-प्रपंच आदि करना, मूल बात को छिपाकर अन्य बात कहना, इत्यादि ।

4. **लोभ :-** अर्थात् प्राप्त सामग्री में असन्तोष । अधिकाधिक पाने की लालसा और उसके लिए तीव्र प्रयास ।

इन चारों कषायों के आसेवन से आत्मा नवीन-नवीन कर्मों का उपार्जन करती है ।

तीन योग :-

1. **मन योग :-** मन में किसी का अशुभ चिन्तन करना । किसी के विनाश आदि का विचार करना । मन में अशुभ विचार करने से अशुभ-कर्मों का आस्त्रव होता है और मन को मैत्री आदि भावों से भावित करने पर शुभ कर्मों का आस्त्रव होता है ।

2. **वचन योग :-** वाणी से किसी को बुरा-भला कहना, किसी को अपशब्द कहना । वचन की शुभाशुभ प्रवृत्ति से शुभाशुभ कर्मों का आस्त्रव होता है ।

3. **काय योग :-** काया से किसी को कष्ट देना । काया से किसी का अहित करने से अशुभ कर्मों का आस्त्रव होता है ।

25 असत् क्रियाएँ :-

1. **कायिकी क्रिया :-** कामवासना आदि दुष्ट भावों के लिए काया से प्रवृत्ति करना, कायिकी क्रिया कहलाती है । इसके दो भेद हैं-

(i) **सावद्य अनुपरत क्रिया :-** मिथ्यादृष्टि तथा अविरत-सम्यग्दृष्टि जीवों की काया से होने वाली चेष्टाओं को सावद्य अनुपरत क्रिया कहते हैं ।

(ii) **दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया :-** अशुभयोग वाले जीवों की इष्ट वस्तु में राग व अनिष्ट वस्तु में द्वेष की क्रिया दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया कहलाती है ।

2. **आधिकरणकी क्रिया :-** हिंसा के साधनभूत तलवार, बंदूक आदि को तैयार करना, करवाना अथवा उपयोग करना, इत्यादि क्रिया ।

3. **प्राद्वेषिकी :-** क्रोधादि से उत्पन्न द्वेष-पूर्वक की गई क्रिया अथवा जिस क्रिया में क्रोध की बहुलता हो वह प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है ।

4. **पारितापनिकी क्रिया :-** ताड़ना-तर्जना आदि द्वारा किसी को हैरान-परेशान करने की क्रिया को पारितापनिकी क्रिया कहते हैं ।

5. **प्राणातिपातिकी क्रिया :-** किसी भी जीव के प्राणों का नाश करने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी क्रिया है ।

6. **आरम्भिकी क्रिया :-** छह काय के जीवों के वधस्वरूप आरम्भ-समारम्भ की क्रिया को आरम्भिकी क्रिया कहते हैं ।

7. **पारिग्रहिकी क्रिया :-** धन-धान्य आदि का परिग्रह करना, उन पर मूर्च्छा करना, इत्यादि पारिग्रहिकी क्रिया है ।

8. **माया प्रत्ययिकी क्रिया :-** छल-कपट आदि द्वारा किसी को ठगने की प्रवृत्ति को माया-प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं ।

9. **मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया :-** मिथ्यादर्शन द्वारा प्ररूपित प्रवृत्ति करना । सर्वज्ञकथित हेय पदार्थ को उपादेय व उपादेय को हेय मानना-इत्यादि मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया है ।

10. **अप्रत्याख्यानिकी क्रिया :-** अविरति के तीव्र उदय से किसी प्रकार के पाप-त्याग की प्रतिज्ञा न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया है ।

11. **द्रष्टिकी क्रिया :-** जीव-अजीव पदार्थ के किसी पर्याय-विशेष को राग दृष्टि से देखना, द्रष्टिकी क्रिया है ।

12. **स्पृष्टिकी क्रिया :-** रागपूर्वक स्त्री, पुत्र आदि के शरीर का स्पर्श करना, स्पृष्टिकी क्रिया कहलाती है ।

13. **प्रातित्यकी क्रिया :-** जीव-अजीव के निमित्त से जो राग-द्वेष के परिणाम पैदा होते हैं, उसे प्रातित्यकी क्रिया कहते हैं ।

14. **सामंतोपनिपातिकी क्रिया :-** चारों ओर से आने वाले लोगों को राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली वस्तु बताकर स्वयं को राग-द्वेष होना । जैसे-बाजार में बेचने के लिए सजीव-गाय आदि अथवा निर्जीव-मोटर आदि लाकर रखना, जिसे देख कोई प्रशंसादि से रागादि करे और कोई क्षति निकाल कर द्वेष करे और उन लोगों के राग-द्वेष से स्वयं को राग-द्वेष हो, उसे सामंतोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं ।

15. **नैसृष्टिकी क्रिया :-** निसर्जन करना-फेंकना । कुए में से जल निकालना, धनुष्य में से बाण निकालना इत्यादि नैसृष्टिकी क्रिया कहलाती है ।

16. **स्वहस्तिकी क्रिया :-** अपने हाथों से जीवों का घात करना, स्व-हस्तिकी क्रिया है ।

17. **आज्ञापनिकी क्रिया :-** जीवों को (प्रभु आज्ञा विरुद्ध) हुक्म करने को आज्ञापनिकी क्रिया कहलाती है ।

18. **विदारणिकी क्रिया :-** जीवों का विदारण करना, विदारणिकी क्रिया कहलाती है ।

19. **अनाभोगिकी क्रिया :-** चित्त के उपयोग रहित वस्तु को लेने-रखने से अनाभोगिकी क्रिया होती है ।

20. **अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया :-** स्व-पर हित की आकांक्षा से रहित क्रिया करना । जैसे-पर स्त्री गमन, इत्यादि परलोक विरुद्ध आचरण करना ।

21. **प्रायोगिकी क्रिया :-** मन, वचन और काया के योगों से अशुभ व्यापार करना, उसे प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं ।

22. **सामुदानिकी क्रिया :-** जिस क्रिया से समुदाय रूप में आठों कर्मों का बन्ध हो, अथवा समुदाय में जिस कर्म का बन्ध हो, उसे सामुदायिकी क्रिया कहते हैं ।

23. **प्रैमिकी क्रिया :-** जीव-अजीव पदार्थों में प्रेम करने से तथा अन्य जीवों को प्रेम पैदा हो, ऐसे वचन बोलने को प्रैमिकी क्रिया कहते हैं ।

24. **द्वैषिकी क्रिया :-** द्वेष को पैदा करने वाली क्रिया को द्वैषिकी क्रिया कहते हैं ।

25. **ऐर्यापथिकी क्रिया :-** गमनागमन करने से होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी क्रिया कहलाती है ।

इस प्रकार आस्त्रव के ये कुल 42 भेद हैं ।

इत्यास्त्रवाणामधिगम्य तत्त्वं,
निश्चित्य सत्त्वं श्रुतिसन्निधानात् ।
एषां निरोधे विगलद्विरोधे,
सर्वात्मना द्राग् यतितव्यमात्मन् ।।88।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ :- इस प्रकार आस्त्रवों के तत्त्व को जानकर तथा आगम अभ्यास से तत्त्व का निर्णय कर हे आत्मन् ! इनके विरोध रहित निरोध के लिए तुझे शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए ।।88।।

विवेचन

आस्त्रवद्वारों को बन्द करो

प्रस्तुत गाथा में **पूज्य उपाध्यायजी म.** जागृति का सन्देश देते हुए फरमा रहे हैं कि हे आत्मन् ! तू जागृत बन, प्रमाद को त्याग । तूने अब अपने शत्रुओं को पहचान लिया है । भय तभी तक है, जब तक शत्रु-मित्र का भेद ख्याल में नहीं आता है । शत्रु-मित्र के भेद को समझ लेने के बाद तो उनके साथ कैसे व्यवहार करना, यह अपने हाथ में है । शत्रु की पहिचान के बाद तो उससे संरक्षण पाने की व्यवस्था की जा सकती है । अतः हे आत्मन् ! शास्त्र के श्रवण द्वारा तुझे शत्रु रूप आस्त्रव तत्त्व का बोध हो गया है ।

हे मानव !
तेरा छोटा सा जीवन है,
जिसमें
अल्प तेरा यौवन है ।
गँवा मत दे यौवन को,
मौज और शौक में,
फिर,
पश्चाताप से आँसू बहाएगा,
जब दुःख के बादल
तेरे सिर पर आ पड़ेंगे ।
चेत जा,
समय थोड़ा है ।
भर दे जीवन को,
त्याग और वैराग्य से ।
जिससे,
प्राप्त होगी तुझको
समता और शान्ति ।।

सप्तमभावनाष्टकम्

परिहरणीया रे, सुकृतिभिरास्त्रवा,
हृदि समतामवधाय ।
प्रभवन्त्येते रे, भृशमुच्छृङ्खला,
विभु गुण-विभव-वधाय ।।89।।

अर्थ :- हृदय में समता धारण कर सज्जन पुरुषों को आस्त्रव का त्याग कर देना चाहिए । अत्यन्त उच्छृंखल बने हुए ये (आस्त्रव) आत्मा के गुण-वैभव का घात करने में समर्थ हैं ।।89।।

विवेचन

आस्त्रवों का त्याग करो

जो आत्मा स्व-पर का हित करे, वह आत्मा सज्जन कहलाती है और जो आत्मा स्व-पर का अहित करे, वह दुर्जन कहलाती है । दुर्जन आत्मा सदा दूसरे का नुकसान हो, ऐसी ही प्रवृत्ति करती है । अतः दुर्जन को उपदेश देना, सर्प को दूध पिलाने के समान है । दूध पौष्टिक और लाभकारी पदार्थ है, किन्तु सर्प को दूध पिलाना तो उसकी विषवृद्धि के लिए ही होता है । इसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति को धर्म का उपदेश देना, उसके कोपादि के लिए ही होता है ।

- बचपन में एक कथा पढ़ी थी-एक बार भयंकर सर्दी में पेड़ पर एक बन्दर काँप रहा था । उसे इस प्रकार काँपते हुए देखकर एक **'सुगरी'** नामक पक्षी ने कहा-``तू इस प्रकार क्यों काँप रहा है ? अपने निवास के लिए तुमने घोंसला क्यों नहीं बनाया ? अभी भी तू सर्दी-गर्मी से रक्षण चाहता है तो अपने रहने के लिए घोंसला बना ले ।''

यह सुनते ही बन्दर गुस्से में आ गया । `अरे ! यह एक छोटा सा पक्षी, मुझे उपदेश दे रहा है ।' ऐसा सोचकर उसने उस पक्षी के घोंसले को ही बिखेर दिया । इस प्रकार **'सुगरी'** पक्षी की हित-सलाह उसी के विनाश के लिए कारण बन गई ।

जिस प्रकार कच्चे घड़े में भरा गया पानी, घड़े का नाश करता है, उसी प्रकार अपात्र-अयोग्य व्यक्ति को दिया गया उपदेश उपदेशक का भी विनाश करता है ।

इसी कारण तीर्थंकर परमात्मा भी मुक्तिगामी भव्यात्माओं को सम्बोधित करके ही धर्म का उपदेश करते हैं, क्योंकि अभव्य और दुर्भव्य आत्माओं को उपदेश देना अनर्थ के लिए ही होता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थकार महर्षि ने भी भव्यात्माओं के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की है, अतः वे सज्जन पुरुषों को सलाह देते हुए कहते हैं कि हे सज्जन पुरुषो ! हृदय में समता भाव को धारण कर इन दुष्ट आस्रवों की संगति का त्याग कर दो । ये आस्रव अत्यन्त ही उच्छृंखल वृत्ति वाले हैं । इनको आश्रय देने के साथ ही ये आत्मा के गुण-वैभव पर लूट चलाने वाले हैं । ये आस्रव तो वास्तव में लुटेरे हैं, जो आत्मा के गुण-वैभव को लूटते हैं । इनको आश्रय देना अत्यन्त ही खतरनाक है । स्वाति नक्षत्र के जल की बूंद, जो सीप के संग से मोती बन सकती थी, बेचारी ! सर्प की संगति में आकर विष के रूप में बदल जाती है ।

बस, इसी प्रकार जो आत्मा इन आस्रवों के संग में फँस जाती है, उसकी भी भयंकर दुर्दशा होती है । उसका आत्मधन लूट लिया जाता है और वह दरिद्र-कंगाल बन जाती है ।

अतः सज्जनों का यह कर्त्तव्य है कि वे इन शत्रुभूत आस्रवों को तनिक भी आश्रय न दें ।

कुगुरु-नियुक्ता रे, कुमति-परिप्लुताः,
शिवपुरपथमपहाय ।
प्रयतन्तेऽमी रे, क्रियया दुष्ट्या,
प्रत्युत शिव-विरहाय ।।90।।

अर्थ :- कुगुरु से प्रेरित अथवा कुमति से भरे हुए प्राणी मोक्षमार्ग का त्याग कर दुष्ट क्रिया के द्वारा उल्टे मोक्ष के विरह के लिए ही प्रयत्नशील होते हैं ।।90।।

विवेचन

कुगुरु का संग अहितकर है

इस दुनिया में सम्यग्दृष्टि आत्माएँ अत्यल्प संख्या में हैं और मिथ्यादृष्टि आत्माएँ सर्वाधिक संख्या में हैं । इस प्रकार चारों ओर मिथ्यादृष्टि आत्माओं का साम्राज्य है । सर्वत्र कुगुरु का साम्राज्य छाया हुआ है । कुगुरु सदैव धर्म के नाम पर अधर्म का ही पोषण करते हैं । मोक्ष के नाम पर अपना ही स्वार्थ सिद्ध करते हैं ।

ऐसे कुगुरुओं के संग से सम्यग्दर्शन गुण भी दूषित हो जाता है और आत्मा में मिथ्यात्व दोष पुष्ट बनता है ।

सद्गुरुओं के संग से दूर रहकर तथा शास्त्रमति का त्याग कर जो आत्माएँ स्वमति की कल्पनानुसार ही आराधना करना चाहती हैं, वे आत्माएँ आराधना के नाम पर विराधना ही करती हैं ।

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार दुनिया में स्वैच्छिक मति के अनुसार चलने वाले बहुत हैं ।

अदृष्ट पदार्थों के विषय में शास्त्रमति को त्याग कर जो आत्माएँ स्वमति से नई-नई कल्पनाएँ कर लेती हैं, वे आत्माएँ सन्मार्ग से च्युत होकर उन्मार्ग की ओर ही आगे बढ़ती हैं ।

सद्गुरु के आश्रय में ही सम्यग्दर्शन आदि गुणों का रक्षण सम्भव है । सद्गुरु का त्याग करने से सम्यग्दर्शन गुण टिक नहीं पाता है ।

जमाली ने ज्योंही भगवान महावीर के आश्रय का त्याग किया और स्वमति कल्पना का आश्रय लिया, त्योंही मिथ्यात्व से वे ग्रसित बन गए ।

श्रीगुप्त आचार्य के शिष्य रोहगुप्त मुनि ने स्वमति कल्पना से विवाद किया, अतः वे सम्यग्दर्शन से च्युत हो गए ।

सम्यग्दर्शन रत्न समान है । उसकी सुरक्षा सद्गुरु रूप पेटी और शास्त्रमति रूप चाबी से ही हो सकती है ।

एक-एक नय का आश्रय करने वाले और अन्य नयों की उपेक्षा करने

वाले अन्य सभी दर्शनकार मिथ्यादृष्टि ही कहलाते हैं । उनके आश्रय व संग से भी सम्यग्दर्शन गुण मलिन बनता है ।

सार यही है कि जो आत्माएँ सद्गुरु का त्याग कर कुगुरु का आश्रय करती हैं, वे मोक्ष-मार्ग से दूर हो जाती हैं और मोक्ष के नाम पर की जाने वाली क्रियाओं से भी वे मोक्ष से दूर हो जाती हैं ।

अविरतचित्ता रे, विषय-वशीकृता,
विषहन्ते विततानि ।
इह परलोके रे, कर्म-विपाकजान्य-
विरल-दुःख-शतानि ।।91।।

अर्थ :- विरति से रहित चित्त वाले, विषय के वशीभूत बने हुए प्राणी कर्म के विपाक से जन्य अति भयंकर सैकड़ों दुःखों को इस लोक और परलोक में निरन्तर सहन करते हैं ।।91।।

विवेचन

अविरति आत्मा को भटकाती है

जैन शासन में **'विरति'** धर्म का अत्यधिक महत्त्व है । पाप नहीं करते हुए भी जब तक पाप-त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की जाती है, तब तक पाप का बन्ध सतत चालू रहता है ।

इच्छापूर्वक एक छोटे से पाप के त्याग की भी बहुत बड़ी महिमा है ।

- एक भयंकर शराबी था । शराब के बिना उसका जीना दुष्कर था । दिन-रात शराब के नशे में रहता था । उसे प्रतिदिन हर तीन घंटे बाद शराब पीने को चाहिए ।

एक दिन उसे एक महात्मा का संग हो गया । महात्मा ने धर्मोपदेश दिया और उसे कुछ नियम लेने के लिए कहा ।

शराबी ने कहा-``गुरुदेव ! आपकी बात बिल्कुल सत्य है । किन्तु शराब के बिना मेरा जीना दुष्कर है, अतः शराब तो मुझे पीनी ही पड़ती है । मैं क्या नियम ले सकता हूँ ?''

गुरुदेव ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा-``महानुभाव ! शराब के बिना तेरा जीना दुष्कर है, किन्तु फिर भी एक नियम तो अवश्य ले सकते हो ।''

उसने कहा-``गुरुदेव ! वह कौन सा नियम ?''

गुरुदेव ने कहा-``वह है-गंठसी का नियम । जब तक कपड़े में गाँठ लगी हो, तब तक कुछ खाना-पीना नहीं ।'' (नियम की स्पष्टता करते हुए उसे समझाया गया कि खा-पी लेने के बाद कपड़े में एक गाँठ लगा लेना और जब पुनः खाना-पीना पड़े तो गाँठ खोल लेना अर्थात् जब तक कपड़े में गाँठ लगी रहे तब तक न पीना और न ही कुछ खाना ।)

शराबी ने यह नियम स्वीकार कर लिया और उस नियम का बराबर पालन करने लगा ।

एक दिन उस नियम में परीक्षा की घड़ी आ गई । शराबी उस दिन रेशमी वस्त्र पहने हुए था । शराब पीकर उसने रेशमी वस्त्र में एक छोटी सी गाँठ लगा ली । दो-तीन घंटे के बाद शराब पीने की इच्छा हुई, वह गाँठ खोलने लगा..... किन्तु गाँठ खुली नहीं.....बहुत प्रयत्न किया.....सभी प्रयत्न बेकार गये । किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग था । शराब न पीने के कारण उसकी हालत खराब हो रही थी.....परन्तु उसके चेहरे पर नियम-पालन की दृढ़ता दिखाई दे रही थी । किसी ने शराब पीने का आग्रह भी किया, किन्तु बिना गाँठ खुले, उसने शराब पीने से इन्कार कर दिया ।

कुछ समय के बाद उसकी मृत्यु हो गई और वह मरकर व्यन्तर देव बन गया ।

• वंकचूल ने अपने जीवन में मात्र चार ही नियम लिये थे, किन्तु उन चार नियमों के फलस्वरूप वह वंकचूल बारहवें देवलोक का देव बन गया ।

विरति धर्म की बहुत महिमा है । अविरति के कारण इस जीवात्मा की भयंकर दुर्दशा हुई है ।

अविरति के कारण आत्मा प्रतिक्षण अनन्त कर्म परमाणुओं का बन्ध करती है, जिसके फलस्वरूप वह नरक और तिर्यंच गति के अनेक प्रकार के भयंकर कष्टों को सहन करती है ।

करि-झष-मधुपा रे, शलभ-मृगादयो,
विषय-विनोद-रसेन ।
हन्त लभन्ते रे, विविधा वेदना,
बत परिणति-विरसेन ।।92।।

अर्थ :- हाथी, मछली, भ्रमर, पतंगा तथा हिरण आदि विषयविलास के प्रेम के कारण अहा ! खेद है, बेचारे ! विविध वेदनाओं को प्राप्त करते हैं । वास्तव में, विषय की परिणति विरस (दुःखदायी) है ।।92।।

विवेचन

विषय की परिणति नीरस है

क्या आप जानते हैं ?-

स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत बने हाथी की क्या दशा होती है ? रसनेन्द्रिय की गुलाम बनी मछली कैसे बेहाल होती है ? घ्राणेन्द्रिय के गुलाम भ्रमर की कैसी भयंकर हालत होती है ? चक्षुरिन्द्रिय के गुलाम बने पतंगे की क्या हालत होती है ? और श्रोत्रेन्द्रिय के गुलाम हिरण की कैसी दुर्दशा होती है ?

बेचारा हाथी ! जीवन पर्यन्त का कैदी बन जाता है । बेचारी मछली ! मृत्यु के मुख में चली जाती है । बेचारा भ्रमर ! कमल की कैद में ही समाप्त हो जाता है । पतंगा तो तत्काल मृत्यु की भेंट हो जाता है और हिरण भी मृत्यु का शिकार बन जाता है ।

एक-एक इन्द्रिय के एक-एक विषय की पराधीनता का भी यह भयंकर परिणाम है, तो जो मनुष्य अपनी पाँचों इन्द्रियों का गुलाम बनेगा, उसकी क्या हालत होगी ?

स्पर्श के सुख में आसक्त बने संभूतिमुनि चक्रवर्ती तो बन गए, किन्तु उसके परिणामस्वरूप 7वीं नरक-भूमि की भयंकर यातनाएँ उन्हें भोगनी पड़ीं ।

रसना के गुलाम बने कंडरीक मुनि की क्या हालत हुई ? उन्हें भी 7वीं नरक भूमि का टिकिट मिल गया ।

सीता के रूप के भ्रमर बने रावण की हालत से कौन अपरिचित है ? बेचारा ! चौथी नरक-भूमि का पथिक बन गया ।

सावधान ! इन्द्रियों के विषय देखने में जितने सुन्दर हैं, उतने ही उनके परिणाम अतिभयंकर हैं । इन्द्रियों का आकर्षण बड़ा सुहावना है, किन्तु उनके चंगुल में फँस जाने के बाद भयंकर सजा ही भोगनी पड़ती है । इन्द्रियाँ तो ठग हैं, जो बोलने में मधुर हैं, दिखने में सुन्दर हैं, किन्तु उनके आकर्षण में फँसने के बाद उनके जाल से बच निकलना अत्यन्त दुष्कर है ।

ठीक ही कहा है-

आपात-मात्र-मधुरैर्विषयैर्विषसन्निभैः ।
आत्मा मूर्च्छित एवाऽऽस्ते, स्वहिताय न चेतति ।।

विषय क्षणमात्र ही सुख को देने वाले हैं । उनकी मनोहरता व उनका सौन्दर्य क्षणजीवी ही है । ये विष के समान हैं । इन विषयों में मूर्च्छित आत्मा स्वहित के विवेक को खो देती है ।

उदित-कषाया रे, विषय-वशीकृता,
यान्ति महानरकेषु ।
परिवर्तन्ते रे, नियतमनन्तशो,
जन्म-जरा-मरणेषु ।।93।।

अर्थ :- कषायों के उदय वाले और विषय के वशीभूत बने प्राणी भयंकर नरक में जाते हैं और निरन्तर जन्म, जरा और मरण के चक्र में अनन्त बार चक्कर लगाते रहते हैं ।।93।।

विवेचन

विषय-कषाय से ही भव-भ्रमण

महापुरुषों ने कहा है कि कषायों का उदय अति भयंकर होता है । क्रोध के आवेश में आत्मा विवेकभ्रष्ट हो जाती है । उसके सोचने-समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है । आवेश में वह नहीं बोलने की बात बोल जाती है । आवेश में बोले गए शब्द तीर से भी अत्यन्त तीखे होते हैं । तीर का घाव तो

औषधोपचार से दूर हो जाता है किन्तु वचन का घाव जीवन पर्यन्त बना रहता है ।

'प्रशमरति' में वाचक **उमास्वातिजी म.** ने कहा है कि ``क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का नाश होता है, माया से विश्वास का घात होता है तथा लोभ से सर्वगुणों का नाश होता है ।''

विषय और कषाय-राग और द्वेष स्वरूप हैं । वे आत्मा को भयंकर नरक में ले जाते हैं ।

विषय के अनुराग और कषाय के आवेश से आत्मा इस भीषण संसार में अनन्त बार जन्म, जरा और मरण की वेदना सहन करती है । नरक की भयंकर यातनाओं का कारण भी विषय-कषाय की पराधीनता-परवशता ही है । अज्ञानी/मोहाधीन आत्मा इन्द्रियों के सानुकूल विषयों को पाकर तुरन्त मोहित हो जाती है, परन्तु उसके परिणाम का विचार नहीं कर पाती है, जिसके फलस्वरूप आत्मा को अनन्त बार जन्म-मरण करना पड़ता है ।

आत्मा के भव-भ्रमण का कोई मूल कारण है तो विषय और कषाय ही है । मूल के बिना वृक्ष का अस्तित्व टिक नहीं सकता, उसी प्रकार विषय-कषाय के बिना आत्मा का संसार भी टिक नहीं सकता है । मूल के कमजोर होते ही वृक्ष धराशायी बन जाता है, उसी प्रकार विषय-कषाय की वृत्ति-प्रवृत्ति क्षीण होते ही आत्मा के भव-भ्रमण का अन्त आ जाता है । इस अमूल्य मानव जीवन के प्रत्येक पल का उपयोग विषय-कषाय के जाल को तोड़ने के लिए ही होना चाहिए ।

मनसा वाचा रे, वपुषा चञ्चला,
दुर्जय-दुरित-भरेण ।
उपलिप्यन्ते रे, तत आस्त्रवजये,
यततां कृतमपरेण ।।94।।

अर्थ :- मन, वचन और काया की चंचलता से प्राणी दुर्जय ऐसे पाप के भार से लिप्त हो जाता है, अतः आस्त्रव-जय के लिए प्रयत्न करो । अन्य सब प्रयत्न बेकार हैं ।।94।।

विवेचन

आस्त्रव जय के लिए प्रयत्न करो

मानव-जीवन में अत्यन्त ही दुर्लभता से सचेतन (जागृत) मन की प्राप्ति हुई है। चतुर्गति रूप संसार में देव का वैक्रिय देह अधिक महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ नहीं है, किन्तु मानव के औदारिक देह की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि मुक्ति की साधना का एकमात्र सामर्थ्य मानव-देह में ही है। शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान इत्यादि का एकमात्र एकाधिकार मानव को ही है। देव के पास तेजस्वी रूप है, बलवती काया है, दीर्घ आयुष्य है, विशाल वैभव-सुख है। बाह्य भौतिक वैभव से देवता समृद्ध होते हुए भी उनमें मोक्ष की साधना का वह सामर्थ्य नहीं है, जो मानव के पास है।

मानव का देह भले ही गन्दगी का ढेर है, फिर भी मोक्ष की साधना का सामर्थ्य मानव में ही है।

मोक्ष की साधना तभी हो सकती है, जब मन-वचन और काया पर अंकुश रखा जाय, किन्तु यदि इन पर किसी प्रकार का अंकुश न रखा जाय तो ये ही मन-वचन आदि मानव को 7वीं नरक-भूमि की अतल गहराई में डाल देते हैं। सर्प, सिंह अपने जीवन में भयंकर हिंसा करने के बावजूद भी तीसरे-चौथे नरक तक ही जाते हैं, किन्तु मानव बाह्य हिंसा न करते हुए भी मन में रौद्रध्यान आदि करे तो वह मरकर 7वीं नरक-भूमि में भी जा सकता है।

मानव यदि मन पर अंकुश न रखे तो यह चंचल मन मानव को अधोगति में ले जा सकता है।

मन को वश में करना अत्यन्त ही कठिन काम है। योगियों को भी मन का वशीकरण अत्यन्त कठिन है। तभी तो **पूज्य आनन्दघनजी म.** ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा है-

मनडुं किम ही न बाजे हो कुंथु जिन, मनडुं किम ही न बाजे।
जिम-जिम जतन करी ने राखुं, तिम-तिम अलगो भाजे हो ।।

कुंथु जिन.....

आगे जाकर उन्होंने यही कहा है-

'मन साध्यु तेणे सघलु साध्युं, एह बात नवि खोटी ।

इस प्रकार मन के वशीकरण की साधना अत्यन्त ही कठिन है ।

अतः दुर्लभता से प्राप्त मानव-जीवन का पुरुषार्थ मन-वचन और काया के योगों के वशीकरण के लिए ही होना चाहिए ।

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि मन, वचन और काया की चंचलता से आत्मा में आस्रव के द्वार खुल जाते हैं और आत्मा कर्म के कीचड़ में फँस जाती है । अतः प्रयत्न करके आस्रवजय के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए ।

शुद्धा योगा रे, यदपि यतात्मनां,
स्रवन्ते शुभकर्माणि ।
काञ्चन-निगडांस्तान्यपि जानीयात्,
हत-निर्वृति-शर्माणि ।।95।।

अर्थ :- यद्यपि संयमी आत्माएँ शुद्ध योगों के द्वारा शुभकर्मों का आस्रव करती हैं, उनको भी स्वर्ण की बेड़ियाँ समझो, क्योंकि वे भी मोक्षसुख में प्रतिबन्धक हैं ।।95।।

विवेचन

शुभ कर्म से शुभ आस्रव

मन-वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म का आस्रव होता है । मुक्ति की अभिलाषी आत्मा तो कर्म से मुक्त बनना चाहती है, अतः कर्म-मुक्ति के लिए कर्मों की निर्जरा आवश्यक है, निर्जरा से कर्मों का क्षय होता है और कर्म-क्षय से आत्मा मुक्त बनती है ।

शुभ कर्म के उदय से आत्मा को शुभ फल की प्राप्ति होती है । कर्म के बन्ध के बाद उसका फल उन्हें भोगना ही पड़ता है ।

बेड़ी तो आखिर बेड़ी है, भले ही लोहे के बदले सोने की हो । इसी प्रकार शुभ कर्म भी आखिर तो कर्म हैं और कर्म होने के नाते आत्मा के लिए बन्धन रूप ही हैं ।

इसीलिए तो साधु भगवन्तों के लिए निर्जरा की प्रधानता है, अतः उनके लिए द्रव्यदान, द्रव्य-पूजा आदि का निषेध है ।

अष्टक प्रकरण में **आचार्य श्री हरिभद्र सूरिजी म.** ने कहा है कि-

दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम् ।
विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ।।

दुःखी प्राणियों पर अनुकम्पा, वैराग्य, विधिपूर्वक देव गुरु का पूजन, विशुद्धशीलवृत्ति आदि पुण्यानुबन्धी पुण्य को देने वाले हैं ।

संयमी साधु भगवन्तों के लिए एकान्त-गोचरी (भोजन) का जो विधान है, उसके पीछे भी यही उद्देश्य है । उन्होंने कहा है कि-

पुण्यादिपरिहाराय, मतं प्रच्छन्न-भोजनम् ।

अर्थात् पुण्य के परिहार के लिए ही संयमी के लिए एकान्त भोजन का नियम है ।

अतः शुभ आस्रव तत्त्व के बोध के साथ-साथ शुभ आस्रव तत्त्व के स्वरूप को भी जान लेना चाहिए, ताकि अपनी-अपनी भूमिकानुसार इनका सेवन अथवा त्याग किया जा सके ।

मोदस्वैवं रे, सास्रव-पाप्मनां,
रोधे धियमाधाय ।
शान्त-सुधारस-पानमनारतं,
विनय विधाय विधाय ।।96।।

अर्थ :- हे विनय ! आस्रव सहित पापात्मा के विरोध में अपनी बुद्धि को लगा और **शान्त सुधारस** का पान करके आनन्द प्राप्त कर ।।96।।

विवेचन

शान्तरस का पान करो

अन्तिम गाथा में **पूज्य उपाध्यायजी म.** अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे विनय ! हे आत्मन् ! आस्रव तत्त्व के स्वरूप को समझकर उसके निरोध में प्रयत्नशील बन ।

एक छोटा सा बालक आग में हाथ डालने की चेष्टा तभी तक करता है, जब तक उसे यह पता नहीं चलता कि यह आग मुझे जलाने वाली है। आग की भयंकरता का अनुभव हो जाने के बाद अथवा उसे जान लेने के बाद वह बालक भी पुनः आग में हाथ डालने की चेष्टा नहीं करता है।

परन्तु हम तो समझदार हैं, विवेकी हैं, अपने हिताहित को सोचने का हम में सामर्थ्य है; फिर भी मोह के वशीभूत होकर यह आत्मा शत्रुभूत आस्रव के संग में डूब जाती है। अज्ञानी है यह आत्मा। नादान है। इसीलिए बड़े ही प्रेम से सम्बोधित करते हुए **उपाध्यायजी म.** कहते हैं कि आस्रव के कड़वे फलों का तुमने बहुत बार अनुभव कर लिया है। अतः अब सावधान बन जाओ और उनके निरोध के लिए प्रयत्नशील बनो।

शत्रु से संरक्षण कर लेने के बाद मनुष्य कितना सुखी बनता है। बस, इन आस्रवों का त्याग कर तू बारम्बार शान्त-अमृतरस का पान कर, पान कर। इस अमृतरस के आस्वादन से तुझे परम आनन्द की अनुभूति होगी।

आस्रव से मुक्त होने के बाद आत्मा स्वभाव दशा में आ जाती है। सागर जब अपनी स्वाभाविक दशा में होता है, तब कितना शान्त और गम्भीर होता है, किसी प्रकार का कोलाहल नहीं।

आत्मा की स्वभाव दशा में भी परम आनन्द का अनुभव होता है।

पूज्य विनयविजयजी म. यही शुभेच्छा और शुभकामना व्यक्त करते हैं कि हे आत्मन् ! तू बारम्बार इस शान्तरस का अमीपान कर। यही परमानन्द-मुक्ति का बीज है।

8 संवर भावना

येन येन य इहास्त्रवरोधः,
सम्भवेन्नियतमौपयिकेन ।
आद्रियस्व विनयोद्यतचेता-
स्तत्तदान्तरदृशा परिभाव्य ।।97।।

(स्वागता)

अर्थ :- हे विनय ! जिन-जिन नियत उपायों के द्वारा आस्त्रवों का रोध हो सकता हो, अन्तर्दृष्टि से उनका विचार कर, उद्यत चित्त वाला बनकर उनका आदर कर (उनका उपयोग कर) ।।97।।

विवेचन

संवर का स्वरूप

वाचकवर्य **पूज्य उमास्वातिजी म.** ने **'तत्त्वार्थ सूत्र'** में कहा है- **'आस्त्रवनिरोधः संवरः'** आस्त्रव का निरोध करना संवर कहलाता है । आस्त्रव अर्थात् आत्मा में कर्म के आगमन के द्वार । उन द्वारों को जिससे रोका जाता है, उन्हें संवर कहते हैं ।

नाव में छिद्र पड़ गये हों और उनमें से नाव में जल प्रवेश करता हो तो नाव को बचाने के लिए सर्वप्रथम छिद्रों को बंद करना अनिवार्य है । इसी प्रकार जीवात्मा में भी जिन-जिन मार्गों से कर्मों का आगमन होता हो, उन मार्गों को रोकना अत्यन्त अनिवार्य है ।

'नवतत्त्व' में संवर तत्त्व के 57 भेद बताये गए हैं । उनके स्वरूप को भी समझ लेना अनिवार्य है-

5 समिति,

3 गुप्ति,

10 यतिधर्म,

12 भावना,

22 परीषह और 5 चारित्र ।

(1) पाँच समिति

समिति अर्थात् सम्यग् व उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति । इसके 5 भेद हैं-

1. **ईर्या समिति :-** साढ़े तीन हाथ भूमि पर दृष्टि डालते हुए यतनापूर्वक चलना और किसी प्रकार के जीव की हिंसा न हो जाय, इसकी सावधानी रखना, इसे ईर्या समिति कहते हैं ।
2. **भाषा समिति :-** हित, मित, सत्य, प्रिय वचन उपयोग (सावधानी) पूर्वक बोलने को भाषा समिति कहते हैं ।
3. **ऐषणा समिति :-** शास्त्र में निर्दिष्ट विधि के अनुसार गोचरी के 42 दोषों के त्यागपूर्वक आहार ग्रहण करने को ऐषणा समिति कहते हैं ।
4. **आदानभंडमत्तनिक्षेपणा समिति :-** किसी भी वस्तु को उठाते या रखते समय उपयोग रखना कि किसी जीव की हिंसा न हो जाय, उसे आदानभंडमत्तनिक्षेपणा समिति कहते हैं ।
5. **पारिष्ठापनिका समिति :-** मल-मूत्र आदि का निर्जीव भूमि में उपयोगपूर्वक विसर्जन करने को पारिष्ठापनिका समिति कहते हैं ।

(2) तीन गुप्ति

1. **मनोगुप्ति :-** मन की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करना और शुभ में प्रवृत्ति करना मनोगुप्ति है । समिति में सम्यग् आचरण की मुख्यता है और गुप्ति में अप्रशस्त के निरोध की मुख्यता है ।

मनोगुप्ति के तीन प्रकार हैं-

(अ) **अकुशल निवृत्ति :-** आर्त्त और रौद्रध्यान के विचारों का त्याग करना **'अकुशल निवृत्ति'** मनोगुप्ति है ।

(आ) **कुशल प्रवृत्ति :-** धर्मध्यान और शुक्लध्यान में मन का प्रवर्तन करना कुशल प्रवृत्ति मनोगुप्ति है ।

(इ) **योगनिरोध :-** मन की कुशल-अकुशल सर्व प्रवृत्ति का निरोध करना योगनिरोध मनोगुप्ति है, जो चौदहवें गुणस्थानक में होती है ।

2. **वचन गुप्ति :-** सावद्य वचन का त्याग कर, अनिवार्य परिस्थिति में ही हितकारी व निरवद्य वचन बोलना वचनगुप्ति कहलाती है ।

इसके भी दो प्रकार हैं-

(अ) **मौनावलंबिनी वचनगुप्ति :-** शिरकम्पन, हस्तचालन तथा संकेत आदि का त्याग करना मौनावलंबिनी वचनगुप्ति है ।

(आ) **वाग्नियमिनी वचनगुप्ति :-** वाचना आदि के विशेष प्रसंग पर यतनापूर्वक बोलना वाग् नियमिनी वचनगुप्ति कहलाती है ।

3. **कायगुप्ति :-** काया द्वारा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ में प्रवृत्ति कायगुप्ति है ।

इसके दो भेद हैं-

(अ) **चेष्टा निवृत्ति रूप कायगुप्ति :-** उपसर्ग आदि के प्रसंग में भी काया को चलित न करना, चेष्टा निवृत्ति रूप कायगुप्ति कहलाती है ।

(आ) **सूत्र चेष्टा नियमिनी कायगुप्ति :-** शास्त्र में विहित मार्गानुसार गमनागमन आदि की प्रवृत्ति करना ।

(3) बावीस परीषह

1. **क्षुधा परीषह :-** बयालीस दोष से रहित भिक्षा न मिलने पर भूख सहन करने को क्षुधा परीषह कहते हैं ।

2. **तृषा परीषह :-** जोरदार प्यास लगने पर भी दोषयुक्त पानी नहीं पीना और तृषा को सहन करना उसे तृषा परीषह कहते हैं ।

3. **शीत परीषह :-** अत्यधिक सर्दी पड़ने पर भी उसे इच्छापूर्वक सहन करना, किन्तु अग्नि आदि की इच्छा न करना ।

4. **उष्ण परीषह :-** भयंकर गर्मी पड़ने पर भी उसे सहन करना, किन्तु उससे बचने के लिए दोषित शीतोपचार का सेवन नहीं करना ।

5. **दंश परीषह :-** मच्छर, मक्खी आदि के दंश को इच्छापूर्वक सहन करना, दंश परीषह कहलाता है ।

6. **अचेलक परीषह :-** जीर्ण-शीर्ण वस्त्र होने पर भी अच्छे वस्त्रों की इच्छा न करना और हल्के और फटे पुराने वस्त्रों में दीनता न करना ।

7. **अरति परीषह :-** संयम मार्ग में विचरण करते हुए प्रतिकूल संयोग मिलने पर भी किसी प्रकार की अरति-अरुचि नहीं रखना अरति-परीषह है ।

8. **स्त्री परीषह :-** विषयसेवन की प्रार्थना करने पर भी किसी स्त्री के अधीन न बनना स्त्री-परीषह कहलाता है ।

9. **चर्या परीषह :-** रागादि से आसक्त बनकर किसी एक स्थान पर नहीं रहना और निरन्तर बिहार आदि के कष्टों को सहन करना चर्या परीषह है ।

10. **नैषिधिकी परीषह :-** श्मशान आदि एकान्त स्थान में स्थिर आसनपूर्वक कायोत्सर्ग में रहना ।

11. **शय्या परीषह :-** सोने की शय्या प्रतिकूल हो, ऊँची-नीची हो, फिर भी मन में किसी प्रकार का रोष न करना और कष्ट को सहन करना **'शय्या परीषह'** है ।

12. **आक्रोश परीषह :-** कोई गुस्सा करे तो भी गुस्सा न करना और उसे सहन करना **'आक्रोश परीषह'** है ।

13. **वध परीषह :-** कोई मारपीट करे तो भी उसे सहन करना वध परीषह है ।

14. **याचना परीषह :-** भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर याचना करते समय मन में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होना, याचना परीषह है ।

15. **अलाभ परीषह :-** गोचरी आदि के लिए भ्रमण करते हुए भी यदि इष्ट वस्तु न मिले तो भी उसे सहन करना । किन्तु गृहस्थ पर रोष नहीं करना ।

16. **रोग परीषह :-** संयमग्रहण के बाद शरीर में किसी प्रकार की बीमारी आ जाय तो भी किसी प्रकार की हाय-हाय किये बिना उसे समतापूर्वक सहन करना रोग परीषह है ।

17. **तृणस्पर्श परीषह :-** शय्या अथवा आसन पर घास आदि के तिनके हों तो उनसे होने वाली वेदना को सहन करना तृणस्पर्श परीषह कहलाता है ।

18. **मल परीषह :-** शरीर पर मैल बढ़ गया हो, फिर भी स्नान की इच्छा न कर उसे सहन करना मल परीषह है ।

19. **सत्कार परीषह :-** नगरजनों की ओर से भव्य स्वागत किया जाय, फिर भी उसमें राग न करना ।

20. **प्रज्ञा परीषह :-** असाधारण बुद्धि की प्राप्ति होने पर भी उसका अभिमान न करना, ज्ञान का अजीर्ण-अभिमान न होने देना ।

21. **अज्ञान परीषह :-** ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान न चढ़े तो भी खेद नहीं करना और ज्ञान-प्राप्ति के लिए यथाशक्य प्रयत्न करना ।

22. **सम्यक्त्व परीषह :-** सम्यक्त्व से चलित करने के लिए कोई कितना ही उपसर्ग करे, फिर भी सम्यक्त्व से चलित नहीं होना ।

(4) दस यति धर्म

1. **क्षमा :-** क्रोध के प्रसंग में भी क्रोध नहीं करना; चित्त को शान्त और स्थिर रखना । इस क्षमा के 5 भेद हैं-

(क) **उपकार क्षमा :-** किसी ने अपने पर उपकार किया हो, वह व्यक्ति अपने पर गुस्सा करे और हम यह सोचकर कि `यदि मैं गुस्सा करूंगा तो यह व्यक्ति मुझ पर उपकार नहीं करेगा' उसके गुस्से को सहन करना उपकार क्षमा कहलाती है ।

(ख) **अपकार क्षमा :-** किसी ने अपने पर गुस्सा किया हो और यह सोचकर उस गुस्से को सहन कर ले कि **'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो मुझे मारपीट आदि सहन करनी पड़ेगी अतः मौन रहना ही उचित है'**-अपकार क्षमा है ।

(ग) **विपाक क्षमा :- 'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो इससे मुझे कर्मबंध हो जाएगा.....मुझे बुरे परिणाम भोगने पड़ेंगे'**, ऐसा सोचकर दूसरे के गुस्से को सहन करना विपाक क्षमा कहलाती है ।

(घ) **वचन क्षमा :- 'भगवान ने गुस्सा करने का निषेध किया है'** इस प्रकार भगवद् वचन को याद कर क्षमा धारण करना वचन क्षमा है ।

(ङ) **धर्म क्षमा :- 'क्षमा तो मेरी आत्मा का धर्म है'** इस प्रकार क्षमा को आत्मस्वभाव मानकर दूसरे के गुस्से को सहन करना धर्म क्षमा है ।

इन पाँच प्रकार की क्षमा में चौथी क्षमा श्रेष्ठ तथा पाँचवीं सर्वश्रेष्ठ है ।

2. **आर्जव :-** मन में किसी प्रकार की माया धारण नहीं करना और सरलता रखना ।

3. **मार्दव :-** किसी प्रकार का अभिमान नहीं करना और नम्र बनने का प्रयत्न करना । पुण्य के उदय से सुकुल-उत्तम जाति आदि की प्राप्ति हुई हो, फिर भी लेश भी अहंकार नहीं करना ।

4. **मुक्ति :-** मुक्ति अर्थात् लोभजय । प्राप्त वस्तुओं में सन्तोष धारण करना । अनुकूल व अप्राप्त पदार्थों को पाने की लालसा नहीं रखना ।

5. **तप :-** तप अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना । आहार की लालसा, इन्द्रियों के भोग तथा कषाय-जय के लिए यथाशक्य बाह्य व अभ्यन्तर तप का आचरण करना ।

6. **संयम :-** आत्म-गुणों के विकास के लिए चारित्र धर्म की आराधना करना संयम कहलाता है । इसके सत्रह भेद हैं-

पाँच महाव्रतों का पालन

(1) **सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत :-** मन, वचन, काया से हिंसा करनी नहीं, दूसरों से हिंसा करवानी नहीं और हिंसा करते हुए की अनुमोदना करनी नहीं ।

(2) **सर्वथा मृषावाद विरमण महाव्रत :-** मन, वचन और काया से झूठ बोलना नहीं, दूसरे से बुलवाना नहीं और झूठ बोलते हुए की अनुमोदना करनी नहीं ।

(3) **सर्वथा अदत्तादान विरमण महाव्रत :-** मन, वचन और काया से चोरी करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं और चोरी करने वाले की अनुमोदना करनी नहीं ।

(4) **सर्वथा मैथुन विरमण महाव्रत :-** मन, वचन और काया से मैथुन का सेवन करना नहीं, दूसरे से करवाना नहीं और करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

(5) **सर्वथा परिग्रह विरमण महाव्रत :-** मन, वचन और काया से परिग्रह धारण करना नहीं, करवाना नहीं और परिग्रह धारण करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करना ।

पाँच इन्द्रिय निग्रह

(6) **श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह :-** कान से निन्दा, अश्लील गीत आदि के श्रवण का त्याग करना ।

(7) **चक्षुरिन्द्रिय निग्रह :-** आँख से स्त्री के अंगोपांग दर्शन, सिनेमा, नाटक आदि देखने का त्याग करना ।

(8) **घ्राणेन्द्रिय निग्रह :-** सुगन्धित पदार्थ, बगीचे में भ्रमण आदि का त्याग करना ।

(9) **रसनेन्द्रिय निग्रह :-** स्वादिष्ट भोजन आदि की आसक्ति का त्याग करना ।

(10) **स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह :-** मुलायम व कोमल गद्दे तथा स्त्री के स्पर्श आदि का त्याग करना ।

चार कषाय-जय

(11) **क्रोध जय :-** क्रोध के प्रसंग में क्रोध न करना ।

(12) **मान जय :-** किसी वस्तु का अभिमान नहीं करना ।

(13) **माया जय :-** किसी के साथ मायाचार नहीं करना ।

(14) **लोभ जय :-** प्राप्त वस्तु में सन्तोष धारण करना ।

तीन योग

(15) **मन योग :-** मन से अशुभ चिन्तन का त्याग करना और शुभ चिन्तन करना ।

(16) **वचन योग :-** वाणी से असत्य, अप्रिय तथा अहितकर वचन-प्रवृत्ति का त्याग करना और प्रिय व पथ्य वचन बोलना ।

(17) **काय योग :-** काया की अशुभ चेष्टाओं का त्याग करना और शुभ में प्रवृत्ति करना ।

7. **सत्य :-** प्रिय, पथ्य, सत्य और हितकर वचन बोलना ।
8. **शौच धर्म :-** मन को पवित्र व शुद्ध रखना । मानसिक अध्यवसायों की परिणति को शुभ व शुद्ध रखना ।
9. **आकिंचन्य :-** किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखना ।
10. **ब्रह्मचर्य :-** मैथुन का त्याग कर आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य धर्म है ।

(5) बारह भावनाएँ

1. **अनित्य भावना :-** संसार की अनित्यता का विचार करना ।
2. **अशरण भावना :- 'संसार में मेरा कोई शरण्य नहीं है ।'** इस प्रकार की भावना से आत्मा को भावित करना ।
3. **संसार भावना :-** संसार में आत्मा के भवभ्रमण का विचार करना
4. **एकत्व भावना :-** आत्मा के **'एकत्व'** भाव का विचार करना ।
5. **अन्यत्व भावना :-** देहादि से आत्मा की भिन्नता का विचार करना ।
6. **अशुचिभावना :-** शरीर की अपवित्रता तथा मलिनता का विचार करना ।
7. **आस्त्रव भावना :-** आत्मा में कर्मों के आगमन-द्वारों का विचार करना ।
8. **संवर भावना :-** आत्मा में कर्म के आगमन को रोकने का चिन्तन करना ।
9. **निर्जरा भावना :-** कर्म-क्षय के उपायों का चिन्तन करना ।
10. **लोकस्वरूप भावना :-** सचराचर जगत् के स्वरूप का विचार करना ।
11. **धर्म भावना :-** धर्म के स्वरूप का विचार करना ।
12. **बोधिदुर्लभ भावना :-** इस भवसागर में सम्यक्त्व की दुर्लभता का विचार करना ।

(6) पाँच चारित्र

1. **सामायिक चारित्र :-** जिस चारित्र से आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण प्रकट हों, आत्मा में समता-शान्ति पैदा हो, उसे सामायिक चारित्र कहते हैं । यह चारित्र सावद्य-प्रवृत्ति के त्यागस्वरूप है । इसके दो भेद हैं-

(अ) **इतिवर कथित सामायिक :-** जो सामायिक अल्प समय के लिए हो । जैसे-48 मिनट की सामायिक ।

(आ) **यावत्कथित सामायिक :-** जिस सामायिक की प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त हो उसे यावत्कथित सामायिक कहते हैं ।

2. **छेदोपस्थापनीय :-** पूर्व चारित्र का छेद कर पुनः महाव्रतों के आरोपण को छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं ।

3. **परिहारविशुद्धि :-** गच्छ का त्याग कर यथाविधि विशिष्ट तप का आचरण करना, जिससे चारित्र की विशेष शुद्धि हो, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं ।

4. **सूक्ष्म संपराय :-** जहाँ लोभ का सूक्ष्म उदय हो उसे सूक्ष्म संपराय चारित्र कहते हैं ।

5. **यथाख्यात चारित्र :-** जिनेश्वरदेव ने चारित्र का जो स्वरूप कहा है, अर्थात् राग-द्वेष की अवस्था से रहित चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है । इसके दो भेद हैं–

(अ) **उपशांत यथाख्यात चारित्र :-** यह चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है, जहाँ कषायों का सर्वथा उपशमन हो जाता है । इस अवस्था से पतन अवश्य होता है ।

(आ) **क्षायिक यथाख्यात चारित्र :-** जहाँ राग-द्वेष का सर्वथा क्षय हो जाता है, यह चारित्र बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. संवर भावना की प्रस्तावना करते हुए अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि अपनी आत्मा में जिन-जिन द्वारों से कर्मों का आगमन जारी हो, उन द्वारों को बन्द करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

शरीर में जैसा रोग हो, उसके अनुसार उसका उपचार किया जाता है । बस, इसी प्रकार से यदि जीवन में क्रोध की प्रबलता हो तो उसे रोकने के लिए **'क्षमा'** की दवा लेनी चाहिए ।

दुनिया में कई गुप्त रोग प्रचलित हैं, जिनका पता मात्र रोगी को ही होता है, क्योंकि वे रोग बाहर से दिखाई नहीं देते हैं । इसी प्रकार अपनी आत्मा के अंतरंग रोगों को भी हम ही जान सकते हैं । रोग की जानकारी के बाद ही उसका निदान किया जा सकता है । बिना जानकारी के उपचार करना हानिकर भी हो सकता है । इसी प्रकार आस्रव भावना के द्वारा महापुरुषों ने अपनी आत्मा के रोगों की पहचान कराई है, उन रोगों के निराकरण के लिए **'संवर'** का उपाय भी बतलाया है ।

संयमेन विषयाविरतत्वे,
दर्शनेन वितथाभिनिवेशम् ।
ध्यानमार्तमथ रौद्रमजस्रं,
चेतसः स्थिरतया च निरुन्ध्याः ।।98।।

(स्वागता)

अर्थ :- संयम से इन्द्रियविषयों और अविरति को, सम्यक्त्व से मिथ्या आग्रह को तथा चित्त के स्थैर्य से आर्त और रौद्रध्यान को दबा दो ।।98।।

विवेचन

संयम का पालन करो

मानव को प्राप्त इन्द्रियाँ स्वभाव से चंचल हैं और दुष्प्रवृत्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहती हैं, अतः उन विषयों से विरमण के लिए संयम के हथियार का उपयोग करना चाहिए ।

संयम अर्थात् अंकुश ।

जिस प्रकार चंचल हाथी को रोकने के लिए अंकुश काम में लिया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के विषय आदि से मन को रोकने के लिए विरति धर्म का आश्रय करना अत्यन्त आवश्यक है ।

अविरति पर विजय पाने का एकमात्र साधन विरति धर्म की आराधना है ।

विरति अर्थात् पापत्याग की प्रतिज्ञा । पाप-त्याग की प्रतिज्ञा अंगीकार करने से व्यक्ति का मनोबल मजबूत हो जाता है ।

कई व्यक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण करने से डरते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार का भय मनुष्य के मनोबल को कमजोर बनाता है। प्रतिज्ञा ग्रहण करने से तो प्रतिज्ञाभंग के प्रसंग में दृढ़ रहने का बल मिलता है।

भोजन में तीव्र आसक्ति हो तो प्रतिदिन एक-दो विगई के त्याग द्वारा उस आसक्ति पर प्रहार कर सकते हैं।

संयम से दो लाभ हैं-(1) इन्द्रियों के आस्रव का निरोध होता है और (2) अविरति के आस्रवद्वार का भी निरोध हो जाता है।

मिथ्यात्व के आस्रवद्वार को रोकने के लिए सम्यग्दर्शन की साधना करनी चाहिए। शास्त्रों में सम्यक्त्व की प्राप्ति के पाँच लक्षण बताये गए हैं-

(1) **उपशम :-** उपशम अर्थात् क्रोधादि कषायों का उपशमन। सम्यग्दृष्टि आत्मा में कषायों की मन्दता होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय से सम्यक्त्व का घात होता है। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कषायों का उपशमन अवश्य करना चाहिए।

(2) **संवेग :-** संवेग अर्थात् मोक्ष का तीव्र अनुराग। कहा गया है कि-

'सुर नर सुख जे दुःख करी लेखवे, वंछे शिवसुख एक।'

अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में एकमात्र मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए ही तड़फन होती है, वह आत्मा संसार के समस्त सुखों को दुःख रूप ही मानती है। उसे संसार के सुख में कोई रस नहीं होता है।

(3) **भव निर्वेद :-** सम्यग्दृष्टि आत्मा को यह संसार कारावास के समान प्रतीत होता है। उसे इस संसार से तीव्र विरक्ति होती है। वह आत्मा इस भव-बन्धन से सदा मुक्त बनना चाहती है।

(4) **अनुकम्पा :-** सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में दुःखी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा होती है।

(5) **आस्तिक्य :-** सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में जिनेश्वरदेव के वचनों के प्रति तीव्र आस्था होती है। **'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं'** वही सत्य और निःशंक है जो जिनेश्वरदेवों ने कहा है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की साधना द्वारा मिथ्यात्व को दूर करने का प्रयास करना चाहिए ।

मन में आर्त और रौद्र ध्यान करने से भी अशुभ कर्मों का आस्रव होता है । आर्तध्यान के समय आयुष्य का बन्ध हो तो व्यक्ति मरकर तिर्यंच गति में जाता है और रौद्रध्यान से आत्मा नरकगति में जाती है ।

आर्तध्यान के चार भेद हैं :-

(1) **अनिष्ट वियोग :-** जो स्वयं को प्रिय न हो, ऐसे शब्द, रूप, रस आदि का संसर्ग हो गया हो तो उनके वियोग की सतत चिन्ता करना ।

(2) **इष्टसंयोग चिन्ता :-** जो रूप, रसादि अत्यन्त प्रिय हों, उनके संयोग की सदा चिन्ता करना ।

(3) **रोग चिन्ता :-** शरीर में किसी प्रकार का रोग हो गया हो तो उसके निवारण की सतत चिन्ता करना ।

(4) **निदान :-** धर्म के फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक में सांसारिक फल की कामना करना ।

रौद्रध्यान के चार प्रकार :-

(1) **हिंसानुबन्धी :-** अनन्तानुबन्धी क्रोध के उदयपूर्वक किसी को मार डालने आदि का ध्यान (विचार) करना ।

(2) **मृषानुबन्धी :-** विश्वासघात करने वाले, अत्यन्त क्रूरतम झूठ का विचार करना ।

(3) **स्तेयानुबन्धी :-** दूसरे के धन को लूटने का चिन्तन करना ।

(4) **परिग्रह संरक्षणानुबन्धी :-** प्राप्त किये धन के संरक्षण का तीव्र चिन्तन करना ।

शुभ ध्यान में मन को स्थिर कर उपर्युक्त अशुभ ध्यान से मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए ।

क्रोधं क्षान्त्या मार्दवेनाभिमानम्,
हन्या मायामार्जवेनोज्ज्वलेन ।
लोभं वारांराशिरौद्रं निरुंध्या,
संतोषेण प्रांशुना सेतुनेव ।।99।।

(शालिनी)

अर्थ :- क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, निर्मल सरलता से माया को तथा अति उच्च दीवार वाले बाँध (सेतु) सन्तोष से लोभ को दबा दो ।।99।।

विवेचन

कषायों का रोध करो

पूज्य उपाध्यायजी म. इस गाथा में चार भयंकर रोगों की चार दवाएँ बतला रहे हैं । यदि आपको क्रोध का रोग है तो **'क्षमा'** की गोली लो ; आपका रोग दूर हो जाएगा । यदि मान का बुखार चढ़ गया हो तो मार्दव की दवाई लो, आपका मान तुरन्त उतर जाएगा । यदि माया का घाव लग गया है तो पवित्र आर्जव (सरलता) से उस घाव को भर दो और यदि लोभ का सिरदर्द हो तो उसे सन्तोष की गोली से उतार दो ।

क्रोध रोग है तो क्षमा उसका उपचार है ।

जब-जब भी क्रोध आवे, तब इस प्रकार विचार करना चाहिए-

(1) कोई अपने पर गुस्सा करे तब यह विचार करें कि `इसमें दोष किसका है ? यदि मेरी भूल है तो मुझे पुनः गुस्सा करने की क्या जरूरत है ? और यदि मेरी भूल नहीं है तो मुझे गुस्सा करने की क्या जरूरत है ? वह व्यक्ति तो गुस्सा कर स्वयं ही सजा भोग रहा है, व्यर्थ ही मैं गुस्सा कर उसकी भूल का फल क्यों भोगूँ ?'

(2) क्रोध के प्रसंग में यह विचार करें कि `क्रोध तो आत्मा की विभाव दशा है । अतः मैं अपनी आत्मा को स्वभाव दशा से विभाव की ओर क्यों ले जाऊँ ?'

(3) कोई व्यक्ति क्रोध करता है, तब यह विचार करें कि यह तो मात्र आक्रोश कर रहा है, मुझे मार तो नहीं रहा है, कोई लकड़ी से मार भी दे तो विचार करें कि मुझे जीवन से खत्म तो नहीं कर रहा है । कोई मार भी डाले तो विचार करें कि मुझे धर्म से च्युत तो नहीं कर रहा है ।

(4) कोई व्यक्ति अपने पर गुस्सा करे, मारपीट करे तो विचार करें कि इसमें उस व्यक्ति का कोई दोष नहीं है, मेरे ही पूर्वकृत कर्म का दोष है ।

(5) क्रोध के तात्कालिक फल का विचार करें कि क्रोध करने से शुभ ध्यान का

भंग हो जाता है । क्रोध करने से चित्त की प्रसन्नता नष्ट हो जाती है । मुँह लाल हो जाता है और शरीर में अकारण कम्पन पैदा होती है ।

इस प्रकार के चिन्तन द्वारा क्रोध के प्रसंग को निष्फल करने का प्रयास करना चाहिए ।

अभिमान को जीतने का उपाय है-मृदुता-कोमलता और नम्रता । अभिमान को दूर करने का सर्वश्रेष्ठ मंत्र है-पंच परमेष्ठी को नमस्कार और उनकी शरणागति का स्वीकार । परमेष्ठी भगवन्त क्रोधादि कषायों से सर्वथा रहित हैं और सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हैं । ऐसे परमेष्ठी भगवन्तों के नित्य स्मरण, जाप-ध्यान से अपना अभिमान नष्ट होने लगता है ।

अभिमान पतन का कारण है । अभिमान के प्रसंग पर निम्नलिखित दृष्टान्तों का विचार करें-

(1) जाति के अभिमान प्रसंग में हरिकेशी का विचार करें । जातिमद के कारण उनका चाण्डाल कुल में जन्म हुआ ।

(2) कुलमद के कारण मरीचि को एक कोटा-कोटि सागरोपम तक भवभ्रमण करना पड़ा और अनेक भवों में नीच कुल में जन्म लेना पड़ा ।

(3) रूप के अभिमान के साथ ही सनत् कुमार चक्रवर्ती की काया भयंकर रोगों से ग्रस्त हो गई ।

(4) बल के अभिमान के कारण श्रेणिक महाराजा को नरक में जाना पड़ा ।

(5) तप के मद के कारण कुरगडु मुनि को तप में भयंकर अन्तराय पैदा हुआ ।

(6) विद्या के अभिमान के कारण स्थूलभद्र अर्थसहित चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त न कर सके ।

(7) लाभ के मद के कारण सुभौम चक्रवर्ती मरकर सातवीं नरक-भूमि में पैदा हुआ ।

(8) ऐश्वर्यमद से दशार्णभद्र को झुकना पड़ा ।

इस प्रकार अभिमान के फल का विचार कर मान-त्याग के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

माया के निवारण के लिए हृदय में सरलता धारण करनी चाहिए । माया के फल अत्यन्त कटु होते हैं । मायावी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता है । माया के कारण ही मल्लिनाथ भगवान को स्त्री-अवतार प्राप्त हुआ था । अतः माया का त्याग कर सरलता धारण करनी चाहिए ।

लोभ के निवारण के लिए सन्तोष गुण को आत्मसात् करना चाहिए । लोभी व्यक्ति सदैव अतृप्त रहता है । छह खण्ड का राज्य मिलने पर भी सुभौम चक्रवर्ती तृप्त नहीं हुआ । मगध का राज्य मिलने पर भी कोणिक को चक्रवर्ती बनने का मनोरथ हुआ था और इस कारण उसे बेमौत मरना पड़ा ।

स्त्रीसंग के लोभ के कारण रावण को मौत के घाट उतरना पड़ा ।

धन के लोभ में आसक्त मम्मण सेठ सातवीं नरकभूमि को प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार चारों कषायों की भयंकरता का विचार कर उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

गुप्तिभिस्तिसृभिरेवमजय्यान्,
त्रीन् विजित्य तरसाधमयोगान् ।
साधुसंवरपथे प्रयतेथा,
लप्स्यसे हितमनीहितमिद्धम् ।।100।।

(स्वागता)

अर्थ :- अत्यन्त दुर्जेय मन, वचन और काया के योगों को तीन गुप्ति द्वारा जल्दी जीत लो और पवित्र संवर के पथ पर प्रवृत्तिशील बन जाओ, जिससे सनातन मोक्ष-सुख प्राप्त हो जायेगा ।।100।।

विवेचन

तीन गुप्ति का पालन करो

मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति को जीतना अत्यन्त ही कठिन काम है । उनको जीतने का हथियार **'गुप्ति की साधना'** है ।

मनोगुप्ति द्वारा मन को, वचन-गुप्ति द्वारा वचन को और काय-गुप्ति द्वारा काया को जीता जा सकता है ।

मनोगुप्ति को धारण करने से मन के अशुभ विचार रुक जाते हैं और मन को शुभ विचारों में जोड़ा जा सकता है ।

अशुभ ध्यान में जुड़ा मन तो आत्मा का अधःपतन ही कराता है ।

बेचारा **'तन्दुल मत्स्य'**, जिसको सोचने के लिए मन तो मिला, किन्तु अशुभ ध्यान करने के कारण उसे 7वीं नरक-भूमि का वासी बनना पड़ा ।

ठीक ही कहा है-

''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।''

मनुष्य का मन उसके बंध और मोक्ष का कारण है । मनोगुप्ति से वशीभूत मन मोक्ष का और स्वच्छन्द मन कर्मबन्ध का कारण बनता है ।

वचनगुप्ति का पालन करने से मिथ्या वार्तालाप, विकथा तथा निन्दा आदि का त्याग हो जाता है, जिससे आत्मा अनेक अनर्थकारी पापों से बच जाती है ।

कायगुप्ति के पालन से आत्मा, काया की विविध कुचेष्टाओं से बच जाती है । अन्यथा काया से हिंसादि अनेक पापों की प्रवृत्ति हो जाती है ।

मन, वचन और काया के योग अत्यन्त अजेय हैं । गुप्ति के प्रचण्ड हथियार से ही उन्हें जीता जा सकता है ।

एवं रुद्धेष्वमलहृदयैरास्त्रवेष्वाप्तवाक्य-
श्रद्धा-चञ्चत्सितपट-पटुः सुप्रतिष्ठानशाली ।
शुद्धैर्योगैर्जवनपवनैः प्रेरितो जीवपोतः,
स्त्रोतस्तीर्त्वा भवजलनिधेर्याति निर्वाणपुर्याम् ।।101।।

(मन्दाक्रान्ता)

अर्थ :- निर्मल हृदय के द्वारा आस्त्रवों को रोकने पर, आप्त पुरुषों के वाक्यों में श्रद्धा रूपी श्वेत पट्ट से सन्नद्ध, सुप्रतिष्ठित जीव रूपी नाव शुद्ध योग रूप वेगवर्द्धक पवन से प्रेरित होता है और संसार-सागर के जल को पार कर निर्वाणपुरी में पहुँच जाता है ।।101।।

विवेचन

मुक्तिनगर पहुँचने की नाव

इस प्रकार आस्त्रवों का रोध करने के बाद आत्मा रूपी नाव का मोक्ष-नगरी में पहुँचना सरल हो जाता है ।

विशाल सागर में यात्रा करने के लिए सर्वप्रथम सुयोग्य नाव चाहिए । यदि नाव कमजोर हो अथवा छिद्रयुक्त हो तो उसका आगे बढ़ना व लक्ष्य स्थल तक पहुँचना शक्य नहीं है । छिद्रयुक्त नाव में शीघ्र पानी भर जाने की सम्भावना है और पानी से भरी नाव समुद्रतल में ही पहुँचती है । अतः सर्वप्रथम नाव के छिद्रों को बन्द करना अनिवार्य है ।

नाव से यात्रा करने के लिए नाविक पर पूर्ण श्रद्धा भी अनिवार्य है । नाविक पर श्रद्धा रखे बिना व्यक्ति लक्ष्य स्थल तक पहुँच नहीं सकता है ।

नाव से दीर्घयात्रा के लिए अनुकूल पवन भी चाहिए । अनुकूल पवन से नाव जल्दी-जल्दी आगे बढ़ती है ।

इस प्रकार आत्मा रूपी नाव को मोक्ष-नगरी में पहुँचने के लिए सर्वप्रथम आस्त्रवों को रोककर आत्म-नाव को सुदृढ़ बना लें । फिर नाविक स्वरूप तीर्थंकर परमात्मा के प्रति दृढ़ श्रद्धा को धारण करना चाहिए ।

योगों की शुद्धता रूप अनुकूल पवन से जीवात्मा रूप नाव तीव्र गति से मोक्ष-नगरी की ओर आगे बढ़ सकती है ।

अष्टमभावनाष्टकम्

शृणु शिवसुख-साधन-सदुपायम्,
शृणु शिवसुख-साधन-सदुपायम् ।
ज्ञानादिक-पावन-रत्नत्रय-
परमाराधनमनपायम् ।।शृणु० 102।।

अर्थ :- शिवसुख की प्राप्ति के साधनभूत सम्यग् उपायों का श्रवण कर। शिवसुख-प्राप्ति के साधनभूत सम्यग् उपायों का श्रवण कर । यह (उपाय) ज्ञान आदि पवित्र रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप है, जो अपाय रहित है ।।102।।

विवेचन

मुक्ति का उपाय : रत्नत्रयी की साधना

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि हे प्रिय आत्मन् ! मैं तुझे मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बतलाता हूँ, इस उपाय का तू ध्यानपूर्वक श्रवण कर । ग्रन्थकार महर्षि इस बात को पुनःपुनः दोहराते हैं और कहते हैं कि इसको तू ध्यानपूर्वक सुन ।

परम आनन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय रत्नत्रयी की आराधना है । वाचकवर्य **उमास्वातिजी म.** ने **'तत्त्वार्थ सूत्र'** के प्रथम सूत्र में कहा है कि- **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर एक मोक्ष का मार्ग हैं । इन तीनों में से एक की उपेक्षा करने पर मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है । मात्र ज्ञान और चारित्र हों, किन्तु सम्यग्दर्शन न हो तो वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही है और चारित्र भी कायकष्ट ही है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है ।

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान हो, किन्तु सम्यक् चारित्र न हो तो भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है । इसीलिए तो उमास्वातिजी ने **'तत्त्वार्थ सूत्र'** के प्रथम सूत्र में **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि'** पद में बहुवचन और

'मोक्षमार्गः' में एकवचन का प्रयोग किया है । इसका मुख्य कारण यही है कि सम्यग् दर्शनादि तीनों संयुक्त मिलकर ही मोक्ष का मार्ग बनते हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप में प्रत्येक मोक्षमार्ग नहीं है अर्थात् मोक्ष की साधना के लिए इन तीनों की संयुक्त आवश्यकता है । एक की भी उपेक्षा सहनीय नहीं है ।

आज तक अनन्त आत्माएँ रत्नत्रयी की आराधना कर परम पद को प्राप्त हुई हैं । वर्तमान में भी अनेक आत्माएँ रत्नत्रयी की आराधना कर मुक्ति पद को प्राप्त कर रही हैं ।

यह रत्नत्रयी मुक्ति-प्राप्ति का अमोघ उपाय है ।

विषय-विकारमपाकुरु दूरं,
क्रोधं मानं सह मायम् ।
लोभ-रिपुं च विजित्य सहेलं,
भज संयमगुण-मकषायम् ।।शृणु० 103।।

अर्थ :- क्रोध, मान और माया के साथ विषय के विकारों को दूर कर दो और बात-ही-बात में लोभ शत्रु को जीत कर कषायमुक्त संयम गुण को भजो ।।103।।

विवेचन

कषायों पर विजय प्राप्त करो

संयम और संवर का घनिष्ट सम्बन्ध है । जहाँ संयम है, वहाँ संवर रहेगा ही । यह संयम कषायरहित अवस्था है । संयम द्वारा कषायों का उपशमन व क्षय किया जाता है । अतः संवर की साधना के लिए संयम को भजना ही श्रेयस्कर है ।

ग्रन्थकार महर्षि संयम की सेवा का उपाय भी बतला रहे हैं । वे कहते हैं कि `अत्यन्त कटु विपाक को देने वाले इन्द्रिय के विषयों से तू दूर हट जा । उनका लेश भी संग मत कर । उनके लुभावने आकर्षण में मत फँस । इन विषयों का बाह्य आडम्बर ही आकर्षक है, किन्तु इनके चंगुल में फँसने के बाद आत्मा को अत्यन्त भयंकर फल भोगने पड़ते हैं, अतः इनसे सावधान रह ।

इसके साथ क्रोध को दूर कर दे, मान को दूर भगा दे, माया की तो

छाया भी भयंकर है और लोभ तो सर्व दुर्गुणों की जड़ है, उससे तो सौ कोस दूर रहना ही श्रेयस्कर है ।

इस पर विषय और कषायों का जय ही संयम का वास्तविक साधन है । जब तक विषयों का राग और कषायों की आग जीवित रहेगी तब तक संयम की समाधि का आस्वादन नहीं हो सकेगा ।

उपशम-रसमनुशीलय मनसा,
रोष-दहन-जलदप्रायम् ।
कलय विरागं धृत-परभागं,
हृदि विनयं नायं नायम् ।।शृणु० 104।।

अर्थ :- मन से उपशमरस का अनुशीलन करो, जो प्रायः क्रोध रूप आग के लिए बादल के समान है । हृदय में बारम्बार विनय को ला-लाकर श्रेष्ठ धैर्य रूप विरक्ति के स्वरूप को समझ लो ।।104।।

विवेचन

उपशम से क्रोध का नाश करो

क्रोध तो कषायों का राजा है । इससे सभी भयभीत होते हैं ।

ज्ञानियों ने क्रोध को आग की उपमा दी है । आग के संग से आदमी जलने लगता है, इसी प्रकार क्रोध के संग से आत्मा जलने लगती है ।

क्रोध की चिनगारी सर्वप्रथम मन में उठती है, फिर वाणी के द्वारा बाहर निकलती है और मुख की विकरालता के द्वारा प्रगट होती है । क्रोध जब अपना भयंकर रूप ले लेता है, तब इसे जीतना अत्यन्त कठिन हो जाता है । बड़े-बड़े महातपस्वियों को भी इसने परास्त कर दिया है और उनके तप को धूल में मिला दिया है ।

ठीक ही कहा है-

क्रोधे क्रोड पुरव तणुं, संयम फल जाय ।
क्रोध सहित जे तप करे, ते तो लेखे न थाय ।।

वन के दावानल को शान्त करना आसान काम नहीं है, उसे तो मूसलाधार वर्षा ही शान्त कर सकती है ।

यहाँ **पूज्य उपाध्यायजी म.** क्रोध के दावानल को शान्त करने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि तू उपशम रस की वर्षा से क्रोध के दावानल को शान्त कर दे ।

जहाँ उपशम है वहाँ क्रोध जीवित नहीं रह सकता है । क्रोध आग है, जल पानी है । आग उष्ण और जल शीतल होता है । आग और पानी में विजय पानी की ही होती है । इसी प्रकार क्रोध की आग को उपशम के जल से प्रशान्त किया जा सकता है ।

उपशम रस से क्रोधाग्नि को शान्त कर मोक्ष-सुख को लाने वाले वैराग्य को हृदय में धारण करो ।

आसक्ति में दुःख है ।

विरक्ति में आनन्द है ।

आर्तं रौद्रं ध्यानं मार्जय,
दह विकल्प-रचनाऽनायम् ।
यदियमरुद्धा मानसवीथी,
तत्त्वविदः पन्था नाऽयम् ।।शृणु० 105।।

अर्थ :- आर्त और रौद्रध्यान (के कचरे को) साफ कर दो, विकल्प-कल्पना के जाल को जला डालो । क्योंकि अनिरुद्ध मानसिक मार्ग तत्त्वज्ञानियों का मार्ग नहीं है ।।105।।

विवेचन

आर्त व रौद्रध्यान को दूर करो

ओह ! इस मन मन्दिर में आर्त और रौद्रध्यान के कचरे को इकट्ठा क्यों किया है ? क्या गन्दगी में आनन्द हो सकता है ?

हाँ, मैं भूल गया, सूअर और विष्ठा के कीड़ों को गन्दगी में ही आनन्द आता है । परन्तु आप तो मानसरोवर के हंस बनना चाहते हो न ? तो फिर आपको मन की इस गन्दगी को दूर करना ही होगा ।

साफ करो इस गन्दगी को और फिर देखो धर्मध्यान के आनन्द और मस्ती को ।

धर्मध्यान के द्वारा मन के इस अशुभ कचरे को साफ कर दो और फिर अनेक प्रकार के कुविकल्पों के जालों को जलाकर खत्म कर डालो । कुविकल्प तो शान्त मानस को अशान्त बना देते हैं।

मन को अनेक प्रकार की भौतिक वासनाओं की चिन्ता से युक्त रखना यह तत्त्वज्ञानी व्यक्ति के लिए शोभास्पद नहीं है ।

हे आत्मन् ! तू निरर्थक ही नाना प्रकार की चिन्ताएँ कर विकल्पों के जाल बना रहा है । उन संकल्प-विकल्पों में कोई आनन्द नहीं है । कभी आरोग्य की चिन्ता, कभी पुत्र-परिवार की चिन्ता, तो कभी धनादि की चिन्ता । इन चिन्ताओं के चोगों को उतार कर फेंक दे ।

जरा सोच ! तेरा मन कोई कचरा-पेटी नहीं है कि इसमें जैसे-तैसे गन्दे विचारों का कचरा डाल दिया जाय ।

संयम-योगैरवहितमानस-
शुद्ध्या चरितार्थय कायम् ।
नाना-मत-रुचि-गहने भुवने,
निश्चिनु शुद्ध-पथं नायम् ।।शृणु० 106।।

अर्थ :- निर्मल मानसिक शुद्धि के साथ संयम योगों के द्वारा काया को चरितार्थ करो । नाना प्रकार के मत-मतान्तरों की रुचि से अत्यन्त गहन इस संसार में न्यायपूर्वक जो शुद्ध पथ है, उसका निश्चय करो ।।106।।

विवेचन

संयम-साधना द्वारा काया को सफल करो

मानसिक शुद्धिपूर्वक पवित्र संयमयोगों के द्वारा अपनी काया को सफल करो । यह जीवन अत्यन्त ही दुर्लभता से प्राप्त हुआ है । यह मानवदेह तो अत्यन्त ही कीमती है अतः क्षणिक भोगों के द्वारा इस देह-रत्न को समाप्त न करो ।

क्या काग को उड़ाने के लिए बहुमूल्य कीमती रत्न फेंका जाता है ?

बस, इसी प्रकार से क्षणिक भोगों के पीछे इस जीवन को बर्बाद करना मूर्खता ही है। आज तक अनन्त जन्मों में यही मूर्खता करते आए हैं, लेकिन इस जीवन में सावधान बन जाना है। अन्यथा विजय की बाजी अपने हाथों में नहीं रहेगी।

काया की विलासिता को वश करने का एकमात्र उपाय है- संयम की साधना।

चरणसित्तरी और करणसित्तरी की साधना के द्वारा काया का सदुपयोग किया जा सकता है।

चरणसित्तरी :- पाँच महाव्रतों का पालन, क्षमा आदि दस यतिधर्मों का पालन, सत्रह प्रकार के संयम का आसेवन, आचार्य उपाध्याय आदि दस की वैयावच्च, ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ का पालन, रत्नत्रयी की साधना, बारह प्रकार के तप का आचरण और चार कषायों का निग्रह चरणसित्तरी कहलाती है, जिससे चारित्र शुद्ध और निर्मल बनता है।

करणसित्तरी :- चार पिंड विशुद्धि, पाँच समितिपालन, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पाँच इन्द्रियनिरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति और चार अभिग्रह ये करणसित्तरी कहलाते हैं।

इस संसार में चारों ओर नाना प्रकार के मत-मतान्तरों का प्रचलन है। स्वमति-कल्पना से अनेक मत उत्पन्न हो गए हैं और हो रहे हैं अतः उन मतों के चंगुल में फँस न जाय, इसकी अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है। इस दुनिया में कोई एकान्त व्यवहार नय को पकड़े हुए है तो कोई एकान्त निश्चय नय को।

व्यवहार निश्चय उभय स्वरूप प्रभु-पंथ के साधक विरले ही मिलते हैं, अतः इन बाह्य आडम्बरवादी झूठे पंथों से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना होगा। अत्यन्त सावधानीपूर्वक सद्गुरु की पहचान कर उनके चरणों में जीवन समर्पित कर देना ही हितकारी है।

ब्रह्मव्रत-मङ्गीकुरु विमलं,
बिभ्राणं गुण-समवायम् ।
उदितं गुरुवदनादुपदेशं,
संगृहाण शुचिमिव रायम् ।।शृणु० 107।।

अर्थ :- अनेक गुणों के समुदाय रूप निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करो । गुरु के मुख से निकले अत्यन्त पवित्र रत्न के निधान रूप उपदेशों का संग्रह करो ।।107।।

विवेचन

ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करो

हे प्रिय आत्मन् ! अनेक गुणों की आधारशिला स्वरूप ब्रह्मचर्य व्रत को तू अंगीकार कर । इस व्रत की महिमा अपरम्पार है । कहा भी है-

ए व्रत जग मां दीवो मेरे प्यारे ।
ए व्रत जग मां दीवो ।।

विशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन से आत्मा की सुषुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं ।

ब्रह्मचर्य अर्थात् स्त्री-संग तथा विषयवासना आदि का सर्वथा त्याग तथा आत्मस्वभाव में रमण करना ।

ब्रह्मचर्य से आत्मा पवित्र बनती है । दिमाग में अशुभ विचारों का आवागमन रुकता है । शरीर का आरोग्य बढ़ता है । चित्त प्रसन्न और स्थिर बनता है, इत्यादि अनेक लाभों की प्राप्ति ब्रह्मचर्यपालन से होती है ।

हे आत्मन् ! तू ऐसे पवित्र और शुद्ध ब्रह्मचर्य को अपने जीवन में आत्मसात् कर । इसके साथ ही सद्गुरु के मुख से निकलती हुई अमृत-वाणी का निरन्तर पान कर ।

जिनवाणी का प्रतिदिन श्रवण करना चाहिए, इससे जिनेश्वर के मार्ग का सत्य बोध होता है और जीवन में आत्मकल्याण के पंथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है ।

सद्गुरु की वाणी तो अमृत समान है । इस वाणी ने तो अनेक आत्माओं को जीवनदान दिया है ।

संयम-वाङ्मय-कुसुमरसैरिति-
सुरभय निजमध्यवसायम् ।
चेतनमुपलक्षय कृत-लक्षण-
ज्ञान-चरण-गुण-पर्यायम् ।।शृणु० 108।।

अर्थ :- संयम और शास्त्र रूप पुष्पों से अपने अध्यवसायों को सुगंधित करो और ज्ञान-चारित्र रूप गुण और पर्याय वाले चेतन के स्वरूप को बराबर समझ लो ।।108।।

विवेचन

संयम से अपने अध्यवसाय शुद्ध करो

आत्मा अपने अध्यवसाय के अनुसार ही कर्म का बंध अथवा निर्जरा करती है । प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान में ही लीन थे । सूर्य की आतापना भी ले रहे थे, किन्तु अशुभ अध्यवसाय की धारा के कारण 7वीं नरकभूमि में गमन योग्य कर्मदलिकों को उन्होंने इकट्ठा कर लिया था, किन्तु वे पुनः सावधान हो गए और शुभ ध्यान के बल से उन्होंने उन कर्मदलिकों का पुनः क्षय कर दिया ।

चित्त के अध्यवसायों को सुधारने के लिए संयम का पालन और शास्त्रों का स्वाध्याय-वाचन-मनन अत्यन्त अनिवार्य है । शास्त्रों के स्वाध्याय से सत्य का बोध होता है, जिससे चित्त के अध्यवसाय शुभ व शुद्ध बनते हैं ।

संयम व स्वाध्याय रूप पुष्पों की सुगन्ध से अपने अध्यवसायों को सुगन्धित-पवित्र बनाया जा सकता है ।

अध्यवसायों की शुद्धि के बाद अपनी आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिए ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह आत्मा का स्वभाव है । जो सदा साथ में रहते हैं, वे गुण कहलाते हैं । ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं । जो

क्रमभावी होते हैं, वे पर्याय कहलाते हैं। बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्था, मनुष्य, पशु इत्यादि आत्मा की पर्यायें हैं।

वदनमलं कुरु पावनरसनं,
जिनचरितं गायं गायम् ।
सविनय-शान्तसुधारसमेनं,
चिरं नन्द पायं पायम् ।।शृणु० 109।।

अर्थ :- जिनेश्वर के चरित्रों का पुनःपुनः गान करके रसना को पावन करो और वदन को अलंकृत करो। इस शान्त सुधारस का बारम्बार पान कर दीर्घकाल तक आनन्द करो ।।109।।

विवेचन

तीर्थंकर के पवित्र चरित्रों से रसना को पावन करो

अन्त में, **पूज्य उपाध्यायजी म.** शुभकामना व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे प्रिय आत्मन् ! जिनेश्वरदेव के चरित्रों का बारंबार गान व पान करके अपनी रसना को पवित्र कर।

जिनेश्वरदेव के पवित्र चरित्रों का पुनःपुनः पठन-पाठन करने से अपनी सुषुप्त चेतना जागृत होती है। जीवन जीने की नई दिशा मिलती है। तीर्थंकरों के चरित्र-श्रवण से उन आत्माओं की महानता, परोपकारिता, पवित्रता तथा सर्वोत्कृष्टता का बोध होता है। इस संसार में तीर्थंकर आत्माओं की अपनी विशिष्टता होती है। उनका आत्म-द्रव्य विशिष्ट कोटि का होता है। उनके सम्यग्दर्शन को वरबोधि कहते हैं।

तीर्थंकरपद-प्राप्ति के पूर्व के तीसरे भव में उनकी आत्मा में **'सवि जीव करूं शासनरसी'** की सर्वोत्कृष्ट भावना प्रगट होती है। सभी जीवात्माओं के उद्धार की सर्वोत्कृष्ट भावना के फलस्वरूप उनकी आत्मा तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करती है; जिस कर्म के उदय से वे विश्व में सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं। **'तीर्थंकर नामकर्म'** यह सर्वश्रेष्ठ पुण्य-प्रकृति है। तीर्थंकर परमात्मा का च्यवन और जन्म भी कल्याणक कहलाता है। माँ की कुक्षि में

उनके आगमन के साथ ही चौदह राजलोक के समस्त जीवों को क्षणभर के लिए परम शान्ति का अनुभव होता है । नरक के घनघोर अन्धकार में भी प्रकाश की किरण फैल जाती है । तीर्थंकरों के जन्म-कल्याणक के समय नरक व निगोद के जीवों को भी सुख का अनुभव होता है । उनके जन्म के साथ ही सौधर्म का आसन कम्पित होने लगता है और वे आकर प्रभु और प्रभु की माँ को नमस्कार करते हैं और पाँच रूप कर प्रभु को मेरुपर्वत पर ले जाते हैं, जहाँ करोड़ों देवता आकर प्रभु का भव्य जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं । प्रभु को गर्भ में भी तीन ज्ञान होते हैं ।

जन्म के बाद भी उनका सांसारिक जीवन विरक्ति से भरपूर होता है । ज्योंही उनके भोगावली कर्म क्षीण हो जाते हैं, त्योंही वे संसार के बन्धनों का त्याग कर संयम-मार्ग को स्वीकार कर लेते हैं । फिर कठोरतम साधना कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं । स्वयं कृतकृत्य होने पर भी एकमात्र भव्य जीवों के कल्याण के लिए प्रतिदिन दो प्रहर तक धर्मदेशना देते हैं । उनका सम्पूर्ण जीवन परोपकारमय होता है । उनके गुणों का वर्णन करने में सर्वज्ञ केवली भी असमर्थ हैं तो फिर बेचारी इस कलम में तो ताकत ही क्या है ?

ऐसे महान् पवित्र तीर्थंकर भगवन्तों के चरित्र का गान करने से जीवन सफल बन जाता है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. यही कहते हैं कि हे आत्मन् ! उनके चरित्रों का पुनःपुनः पठन कर अपनी रसना को पवित्र करो और **'शान्त सुधारस'** का पुनःपुनः पान कर दीर्घकाल तक आनन्द प्राप्त करो ।

9 निर्जरा भावना

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता,
तद् द्वादशानां तपसां विभेदात् ।
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः,
स्वातन्त्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात् ।।110।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ :- बारह प्रकार के तप के भेद के कारण निर्जरा के भी बारह प्रकार कहे गये हैं। हेतु के भेद से यहाँ कार्य में भेद है, परन्तु स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करें तो निर्जरा एक ही प्रकार की होती है ।।110।।

विवेचन

निर्जरा के 12 भेद

जैनदर्शन में नौ तत्त्वों के अन्तर्गत **'निर्जरा'** को एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में माना गया है। **'निर्जरा'** अर्थात् आत्मा पर लगी हुई कर्म रूपी धूल का झड़ना ।

अनादिकाल से अपनी आत्मा कर्म के सम्बन्ध में है। अपनी आत्मा निरन्तर सात या आठ कर्मों का बंध कर रही है। इसके साथ प्रहरसमय आठों कर्म उदय में भी हैं ।

प्रहरसमय कर्मोदय से क्षीण होने वाले कर्म अल्प संख्या में हैं और बंध अधिक संख्या में हो रहा है। इस कारण अपनी आत्मा पर कर्म का मैल अत्यधिक चढ़ा हुआ है ।

कोई तालाब पानी से भरा हुआ हो, उसमें नवीन पानी के आगमन के द्वार बन्द कर दिये हों तो उस तालाब का पानी वैशाख और ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी से भाप बनकर उड़ने लगता है और धीरे-धीरे एक दिन वह तालाब सूख जाता है ।

बस, इसी प्रकार अपनी आत्मा में भी आस्त्रव-मार्गों के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। संवर द्वारा आस्त्रवों के उन द्वारों को बन्द कर दिया जाता है और निर्जरा द्वारा सत्तागत कर्मदलिकों को जलाकर खत्म कर दिया जाता है।

नदी में आप नाव से यात्रा कर रहे हैं। अचानक नाव में कुछ छिद्र पड़ जाते हैं और नदी का पानी नाव में आने लगता है, आप सर्वप्रथम क्या करोगे ?

जो जल के आगमन के छिद्र हैं, उन्हीं को बन्द करोगे न ?

उन छिद्रों को बन्द करने के साथ अथवा बाद तुरन्त नाव में आए जल को बाहर फेंकने का काम करोगे।

अब इस उदाहरण को आध्यात्मिक दृष्टि से समझ लें।

इस संसार-सागर में अपनी आत्मा नाव समान है। आस्त्रव-द्वार नाव के छिद्र हैं, जिनसे कर्म रूपी पानी आत्मा में प्रवेश करता है, जिससे आत्मा रूपी नाव संकट में गिर जाती है। उस समय संवर के द्वारा कर्म के आगमन के द्वारों को बन्द किया जाता है और निर्जरा के द्वारा आत्मनाव में आए कर्म रूपी पानी को बाहर फेंका जाता है।

आत्मा पर से कर्म का क्षय दो प्रकार से होता है-

(1) उदय से और (2) निर्जरा से।

कर्म के उदय से भी आंशिक कर्मों का क्षय होता है, परन्तु इसके द्वारा आत्मा कर्म से मुक्त नहीं बन सकती है क्योंकि उदय के साथ ही कर्म का बंध भी तो प्रतिसमय चालू है। अतः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय तो एकमात्र निर्जरा से ही सम्भव है।

निर्जरा के दो भेद हैं-

(1) **अकामनिर्जरा :-** कर्म के उदय से जन्य दुःख, पीड़ा आदि को अनिच्छा से सहन करना। इसमें निर्जरा अति अल्प होती है।

(2) **सकामनिर्जरा :-** कर्म के उदय से आए हुए दुःख को इच्छापूर्वक सहन करने से सकामनिर्जरा होती है तथा इच्छापूर्वक नये-नये कष्टों को खड़ा

कर, उन्हें सहन करने से भी सकामनिर्जरा होती है । इसमें थोड़ा कष्ट हो तो भी निर्जरा अधिक होती है ।

इच्छापूर्वक कष्ट सहन करने में अत्यधिक निर्जरा होती है ।

नरक का जीव अनिच्छा से सौ वर्षों तक भयंकर कष्टों को सहन कर जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्मों की निर्जरा इच्छापूर्वक किए गए एक **'नवकारसी'** के तप से हो जाती है ।

दृढ़प्रहारी, चिलातीपुत्र, अर्जुनमाली, रोहिणेय चोर आदि महापापियों का भी तप और संयम से अल्पकालीन कष्ट सहन करने से उद्धार हो गया और हमारा उद्धार नहीं हो पाया; कारण क्या है ?

क्या हमने मरणान्त कष्टों को सहन नहीं किया है ?

क्या हमारे शरीर की चमड़ी नहीं उतारी गई है ?

क्या हमने जीते जी आग की पीड़ा को सहन नहीं किया है ?

कष्ट, उपसर्ग और पीड़ाएँ तो बहुत सहन कीं, फिर भी हम मुक्त न हो पाए । इसका एकमात्र कारण है-**'वह सब दुःख हमने अनिच्छा से सहन किया है, स्वीकार किया है, परन्तु उस दुःख से घृणा ही की है-उस दुःख में रोए हैं ।'** इसीलिए हम मुक्त न बन पाये ।

जैन दर्शन में निर्जरा तत्त्व के बारह भेद बतलाए गये हैं, क्योंकि तप के बारह प्रकार हैं । तप और निर्जरा का अभेद सम्बन्ध है । जहाँ तप है वहाँ निर्जरा होगी ही । तप के द्वारा उदयावलिका में अप्रविष्ट कर्मों को उदय में लाकर क्षय किया जाता है ।

'आत्मा पर से कर्म का झड़ जाना' यही वस्तुतः निर्जरा का स्वरूप है और इसका प्रकार भी एक ही है, फिर भी हेतु के भेद से जैसे कार्य में भेद किया जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के हेतुओं के भेद से निर्जरा के भी बारह भेद किए गए हैं ।

उदाहरण स्वरूप पानी एक होते हुए भी **'यह गिलास का पानी है, यह लोटे का पानी है, यह मटके का पानी है, यह बर्तन का पानी है'**, इत्यादि कहा जाता है । अथवा सब लकड़ियाँ समान होते हुए भी **'यह नीम की लकड़ी है,**

यह बबूल की लकड़ी है, यह बड़ की लकड़ी है', इत्यादि कहा जाता है, इसी प्रकार हेतुओं के भेद से निर्जरा के भी बारह भेद किए गए हैं ।

काष्ठोपलादिरूपाणां, निदानानां विभेदतः ।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि, पृथग्रूपो विवक्ष्यते ।।111।।

(अनुष्टुप्)

निर्जरापि द्वादशधा, तपोभेदैस्तथोदिता ।
कर्मनिर्जरणात्मा तु, सैकरूपैव वस्तुतः ।।112।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- जिस प्रकार अग्नि एक ही प्रकार की होती हुई भी काष्ठ तथा पत्थर आदि हेतुओं के भेद से अलग-अलग भी कही जाती है ।।111।।

अर्थ :- इसी प्रकार तप के बारह प्रकार होने से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही जाती है, लेकिन कर्म-क्षय की दृष्टि से तो निर्जरा एक ही प्रकार की है ।।112।।

विवेचन

निर्जरा का भेदोपचार

आग का स्वरूप एक ही होता है और उसका **'जलाने'** का कार्य भी एक ही होता है, फिर भी हेतुओं के भेद से उस अग्नि में भी भेदोपचार किया जाता है ।

जैसे-काष्ठ को जलाकर पैदा की गई अग्नि काष्ठाग्नि कहलाती है ।

घास को जलाकर पैदा की गई अग्नि तृणाग्नि कहलाती है ।

इसी प्रकार आत्मा पर से कर्म के झड़ने के स्वरूप से तो निर्जरा का एक ही प्रकार है । फिर भी निर्जरा के जनक हेतुओं के भेद से निर्जरा के बारह भेद बताए गए हैं ।

निकाचितानामपि कर्मणां यद्,
गरीयसां भूधरदुर्धराणाम् ।
विभेदने वज्रमिवातितीव्रं,
नमोऽस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय ।।113।।

(उपेन्द्रवज्रा)

अर्थ :- विशाल और दुर्धर पर्वतों को तोड़ने में वज्र अत्यन्त तेजी से काम करता है, इसी प्रकार अत्यन्त निकाचित कर्मों को तोड़ने में भी तप अत्यन्त तीव्रता से काम करता है, ऐसे अद्भुत तप को नमस्कार हो ।।113।।

विवेचन

तप से कर्मनाश

मन, वचन और काया की वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुसार आत्मा कर्म का बंध करती है । कर्म-बंध के साथ ही चार चीजों का निर्णय हो जाता है-

1. **प्रकृति :-** कर्म की मुख्य आठ प्रकृतियाँ हैं, जो आत्मा के ज्ञानादि गुणों को रोकती हैं-

(1) **ज्ञानावरणीय कर्म :-** आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण लाता है ।

(2) **दर्शनावरणीय कर्म :-** आत्मा के दर्शन गुण को रोकता है ।

(3) **वेदनीय कर्म :-** आत्मा को शाता-अशाता देता है ।

(4) **मोहनीय कर्म :-** आत्मा के सम्यक्त्व व चारित्र गुण को रोकता है ।

(5) **आयुष्य कर्म :-** आत्मा की अजरामर अवस्था को रोकता है और एक भव में रहने (जीने) का समय प्रदान करता है ।

(6) **नाम कर्म :-** आत्मा के अरूपिता गुण पर आवरण लाता है और विविध देह, आकार आदि प्रदान करता है ।

(7) **गोत्र कर्म :-** आत्मा के अगुरुलघुता गुण पर आवरण लाता है और आत्मा को ऊँच-नीच जाति में स्थान देता है ।

(8) **अन्तराय कर्म :-** आत्मा के अनन्त वीर्य गुण को रोकता है और आत्मा की दानादि लब्धियों में अन्तराय पैदा करता है ।

कर्मबंध के समय उपर्युक्त मूल प्रकृतियों में से बँधे हुए कर्म का स्वरूप क्या होगा, उसका निर्णय होता है, इसे **प्रकृतिबंध** भी कहते हैं ।

2. **स्थिति :-** कर्मबंध के साथ ही उसकी स्थिति भी तय हो जाती है, अर्थात् यह कर्म अमुक समय तक आत्मा के साथ लगा रहेगा । कर्म की प्रकृति के अनुसार उसकी स्थिति भी भिन्न-भिन्न है ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोटाकोटि सागरोपम है। नाम और गोत्र की 20 कोटाकोटि सागरोपम, मोहनीय की 70 कोटाकोटि सागरोपम और आयुष्य की 33 सागरोपम है।

वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त, नाम और गोत्र की 8 मुहूर्त और शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार कर्मबंध के साथ उसकी स्थिति का निर्णय भी तत्काल हो जाता है।

3. **रस :-** कर्म में शुभाशुभ फल देने की शक्ति का निर्णय **'रस'** से होता है। कर्म के परमाणुओं में यह रस आत्मा के कषायों से उत्पन्न होता है। कषायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार कर्म में फल देने की शक्ति पैदा होती है।

4. **प्रदेश :-** कर्मबंध के साथ ही उसके दलिकों की संख्या का निर्धारण भी हो जाता है।

इस प्रकार कर्मबंध के साथ उपर्युक्त चारों का निर्धारण हो जाता है।

इन कर्मों के बंध के पुनः चार प्रकार हैं-

1. **स्पृष्टबंध :-** जिस कर्म का बंध, मात्र योग से होता है, उसे स्पृष्टबंध कहते हैं। बहुत ही अल्प प्रयास से इन कर्मों का क्षय हो जाता है। सुइयों के ढेर में पड़ी हुई सुइयों के परस्पर स्पर्श समान यह बंध है।

2. **बद्ध कर्मबंध :-** धागे में पिरोई गई सुइयों की भाँति आत्मप्रदेशों के साथ कर्म पुद्गलों का जो बंध होता है, उसे बद्ध कर्मबंध कहते हैं। इस प्रकार के कर्मों का क्षय **'इरियावहिय-प्रतिक्रमण'** आदि से हो जाता है।

3. **निधत्त कर्मबंध :-** जंग लग जाने से परस्पर जुड़ी हुई सुइयों की भाँति जिन कर्मों का आत्मा के साथ गाढ़ बंध होता है, उसे निधत्त कर्मबंध कहते हैं। इस प्रकार के कर्मों का क्षय तप द्वारा होता है।

4. **निकाचित कर्मबंध :-** भट्टी में तीव्र अग्नि से तपाकर..... पिघलाकर तथा हथौड़ों की मार से एकमेक की गई सुइयों के ढेर की भाँति जिन कर्मों का बंध होता है, उन्हें निकाचित कर्मबंध कहते हैं।

निकाचित कर्मों का फल आत्मा को अवश्य भुगतना ही पड़ता है ।

उन कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता है । जिस प्रकार रेशमी डोरी में गाँठ लग जाने के बाद उसे खोलना अत्यन्त दुष्कर होता है, उसी प्रकार निकाचित कर्म के उदय से आए हुए दुःखों को भोगना ही पड़ता है ।

परन्तु उन निकाचित कर्मों को भी नष्ट करने की ताकत है **'सम्यग् तप'** में ।

जिनाज्ञा के पालनपूर्वक जो सम्यग् तप किया जाता है, उसमें प्रचण्ड ताकत पैदा हो जाती है । जिस प्रकार इन्द्र के वज्र में पर्वत को भेद डालने की, उसे चूर-चूर कर देने की ताकत रही हुई है, उसी प्रकार तप में भी सर्व शक्तिमान निकाचित कर्मों को भी जलाकर भस्मीभूत कर देने की ताकत रही हुई है ।

इस अद्भुत तप को हमारा कोटि-कोटि वन्दन हो ।

किमुच्यते सत्तपसः प्रभावः,
कठोरकर्मार्जितकिल्बिषोऽपि ।
दृढप्रहारीव निहत्य पापं,
यतोऽपवर्गं लभतेऽचिरेण ।।114।।

(उपजाति)

अर्थ :- सम्यग् तप के प्रभाव की तो क्या बात करें ? इसके प्रभाव से तो कठोर और भयंकर पाप को करने वाले दृढ़प्रहारी जैसे भी शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं ।।114।।

विवेचन

तप का प्रभाव

अरे ! आप इस तप के अद्भुत माहात्म्य के बारे में मुझसे प्रश्न कर रहे हो ?

ओह ! तप की शक्ति के बारे में आपके हृदय में सन्देह है ?

तो मेरी एक ही सलाह है, जाकर दृढ़प्रहारी की आत्मा को पूछ लो, अथवा उनके अद्भुत चरित्र को पढ़ लो ।

अच्छा ! तो दृढ़प्रहारी की रोमांचक कथा अपने शब्दों में मैं ही सुना दूँ-

• जाति से तो वह ब्राह्मण था, किन्तु कर्म उसके ब्राह्मण के नहीं थे । वह अत्यन्त निष्ठुर-क्रूर और दुष्ट था । दुष्टों की संगति से उसका जीवन बरबादी के तट पर आ पहुँचा था । उसके प्रहार में प्रचण्ड शक्ति थी, एक ही प्रहार में वह मजबूत प्राणी को भी मौत के घाट उतार देता था । इसीलिए उसका नाम प्रसिद्ध हो गया **'दृढ़प्रहारी'** ।

एक दिन कुशस्थल नगरी में महोत्सव का प्रसंग था । घर-घर में कुछ-न-कुछ मिष्टान्न बनाया गया था ।

उस नगरी में एक गरीब ब्राह्मण परिवार भी था । गरीब के घर मिष्टान्न कहाँ से ? लेकिन बालक ने आज मिष्टान्न की जिद कर ली थी, अतः ब्राह्मणी पास-पड़ोस से दूध, चावल तथा शक्कर आदि मांगकर ले आई और उसने खीर बना दी । ब्राह्मण स्नान करने के लिए नदी के तट पर चला गया था ।

दृढ़प्रहारी उस ब्राह्मण के घर में घुसा और क्षीरान्न का पात्र लेकर भागने लगा । बच्चों ने जाकर ब्राह्मण को शिकायत की तो ब्राह्मण कुल्हाड़ी लेकर आया । दृढ़प्रहारी भाग रहा था, बीच में एक गाय आ गई, तो उसने उसके पेट में तलवार भोंककर उसकी हत्या कर दी और समीप में आए ब्राह्मण को भी खत्म कर दिया । पति की हत्या देख गर्भवती ब्राह्मणी रोने-चिल्लाने लगी और उसे गालियाँ देने लगी । क्रोध से अन्धे बने दृढ़प्रहारी ने उस गर्भवती ब्राह्मणी को भी खत्म कर दिया ।

अपने प्राण-प्रिय माता-पिता के मृत शरीर कलेवर को देखकर सभी बालक भयंकर चीत्कार करने लगे ।

बालकों का करुण विलाप सुनकर पत्थर दिल दृढ़प्रहारी का हृदय भी द्रवित हो उठा.....उसका हृदय पिघल गया और उसे अपनी भूल का घोर पश्चाताप होने लगा ।

उसने सोचा-``ब्राह्मण, स्त्री, गाय और गर्भ की हत्या करने वाले मुझे जीने का अधिकार नहीं है ।'' अतः वह आत्महत्या के लिए नगर से निकल पड़ा ।

नगर के बाहर आते ही उसने एक महात्मा को कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े देखा । महात्मा की शान्त-प्रशान्त व गम्भीर मुद्रा ने दृढ़प्रहारी को आकर्षित कर लिया और उसने महात्मा के चरणों में जाकर नमस्कार किया ।

महात्मा ने उसे **'धर्मलाभ'** का महान् आशीर्वाद दिया ।

दृढ़प्रहारी ने कहा-``प्रभो ! मैंने जीवन में भयंकर पाप किये हैं । मैं जीने का.....अधिकारी नहीं हूँ.....अतः आत्महत्या के लिए जा रहा हूँ.....मौत ही मेरे पापों की शुद्धि.....।''

महात्मा ने कहा-``महानुभाव ! धैर्य रखो । धीरज का फल मीठा होता है, आत्महत्या करने से.....देह को समाप्त कर देने से पापों का नाश नहीं होता है । पापमुक्त बनने का एक मात्र उपाय है-सर्वविरति धर्म का स्वीकार ।''

दृढ़प्रहारी ने कहा-``प्रभो ! मुझे पाप से मुक्त बनना चाहिए.....मुझे यही उपाय चाहिए और यह आप ही बता सकोगे ।''

बस, महात्मा ने दृढ़प्रहारी को साधुधर्म का उपदेश दिया । दृढ़प्रहारी ने उसको स्वीकार किया ।

पापात्मा से पुण्यात्मा बने दृढ़प्रहारी ने तत्काल यह प्रतिज्ञा की कि ``जब तक मुझे अपना पाप याद आएगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा ।''

बस, दृढ़प्रहारी मुनि ने ऐसा ही किया । पाप याद तो था ही, अतः प्रतिदिन नगर के बाहर अलग-अलग दिशाओं में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हो जाते ।

नगरजनों ने दृढ़प्रहारी को मुनिवेष में देखा.....लोग धिक्कारने लगे-अहो ! देखो यह ढोंगी ! .....इसने मेरे पुत्र को खत्म किया है । अरे ! यह तो महादुष्ट है, इसने मेरे पिता को मार डाला था । और लोग पत्थर-लकड़ी आदि से मुनि पर प्रहार करने लगे ।

पत्थर व लकड़ी की मार लगने पर भी दृढ़प्रहारी मुनि यही सोचते कि **``हे आत्मन् ! तूने ऐसा ही पाप किया है, इसलिए ऐसा ही फल मिल रहा है । जैसा बीज बोया है, वैसा ही तो फल मिलेगा ।''**

अग्नि के ताप से स्वर्ण की शुद्धि होती है । इसी प्रकार लकड़ी आदि के प्रहार से ये मेरी आत्मा को शुद्ध ही बना रहे हैं । ये तो मेरे उपकारी हैं । अपने पुण्य का व्यय कर मेरे पाप-मल को दूर कर रहे हैं, अतः ये मेरे परम बन्धु हैं । इस प्रकार अत्यन्त समतापूर्वक परीषहों और उपसर्गों को सहन करने से दृढ़प्रहारी मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए ।

इस तप के प्रभाव से दृढ़प्रहारी जैसे हत्यारे भी पाप से सर्वथा मुक्त बनकर अजर-अमर पद को प्राप्त हो गए । ऐसे तप की महिमा का वर्णन करने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई नहीं ।

यथा सुवर्णस्य शुचिस्वरूपं,
दीप्तः कृशानुः प्रकटीकरोति ।
तथात्मनः कर्मरजो निहत्य,
ज्योतिस्तपस्तद् विशदीकरोति ।।115।।

(उपजाति)

अर्थ :- जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि स्वर्ण के शुद्ध स्वरूप को प्रगट करती है, उसी प्रकार तप भी आत्मा के कर्म-मैल का नाश कर, उसके ज्योतिर्मय स्वभाव को फैलाता है ।।115।।

विवेचन

तप से आत्म-विशुद्धि

खान में रहा हुआ स्वर्ण कितना मलिन होता है ? मिट्टी से वह भरा हुआ होता है; किन्तु उसी स्वर्ण को जब आग में तपाया जाता है तब वह शुद्ध होने लगता है और धीरे-धीरे उसकी चमक-दमक बढ़ने लगती है, दुनिया उसका वास्तविक मूल्यांकन करती है, वह देवताओं के मस्तक का मुकुट बनकर सर्व सम्मान प्राप्त करता है ।

स्वर्ण सभी का आदरणीय बना, क्यों ? क्योंकि उसने अग्नि के ताप को सहन किया ।

इसी प्रकार आत्मा भी जब तप के आश्रय से तप कर शुद्ध बनती है, तब उसकी चमक बढ़ जाती है । तप के ताप से आत्मा पर लगा कर्ममल

जलकर समाप्त हो जाता है । मल के जलने के साथ ही आत्मा का तेज प्रगट हो जाता है ।

वह त्रिभुवन में पूज्य बन जाती है । देवता भी आकर उस आत्मा को प्रणाम करते हैं ।

बाह्येनाभ्यन्तरेण प्रथितबहुभिदा जीयते येन शत्रु-
श्रेणी बाह्यान्तरङ्गा भरतनृपतिवद् भावलब्धद्रढिम्ना ।
यस्मात् प्रादुर्भवेयुः प्रकटितविभवा लब्धयः सिद्धयश्च,
वन्दे स्वर्गापवर्गार्पण पटु सततं तत्तपो विश्ववन्द्यम् ।।116।।

(स्त्रग्धरा)

अर्थ :- बाह्य और अभ्यन्तर दृष्टि से यह तप बहुत भेद वाला है, जिससे भरत महाराजा की तरह भावना से प्राप्त दृढ़ता से बाह्य और अभ्यन्तर शत्रुओं की श्रेणी जीत ली जाती है, जिसमें से प्रगट वैभवशाली लब्धियाँ और सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, स्वर्ग और अपवर्ग को देने में चतुर ऐसे विश्ववन्द्य तप को मैं वन्दन करता हूँ ।।116।।

विवेचन

तप की महिमा अपरम्पार

तप का माहात्म्य वर्णनातीत है । तप के मुख्य दो भेद हैं-बाह्य तप और अभ्यन्तर तप । पुनः प्रत्येक के छह-छह भेद हैं, जिनका विस्तृत वर्णन आगे होने वाला है ।

अत्यन्त दृढ़ता और धैर्यपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर तप का आचरण किया जाय तो सभी बाह्य और अन्तरंग विघ्न समाप्त हो जाते हैं ।

चक्रवर्ती भी छह खण्ड को जीतने के लिए अट्ठम तप पूर्वक देवता की आराधना करते हैं जिसके प्रभाव से वे आसानी से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लेते हैं ।

ठीक ही कहा है-

ते शुं छे संसार मां रे, तप थी जे नवि होय ।
जे जे मन मां कामीए रे, सफल फले सवि तेह ।।

तप के प्रभाव से सभी बाह्य और अभ्यन्तर विघ्न शान्त हो जाते हैं ।

भरत महाराजा ने गत भवों में तप व संयम की सुन्दर साधना की थी । अन्तिम भव में भरत महाराजा चक्रवर्ती बने और चक्रवर्ती के भव में छह खण्ड के अधिपति होते हुए भी वे सर्वथा अलिप्त थे । इसी कारण एक बार स्नानघर में अन्यत्व भावना के भावन में इतने आगे बढ़ गए कि उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई ।

तप के प्रभाव से अनेक लब्धियों और सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है ।

सनत् कुमार चक्रवर्ती के शरीर में भयंकर रोग हो गए थे, उन्होंने संसार का त्याग कर चारित्र अंगीकार किया, तत्पश्चात् विविध प्रकार के तप करने लगे । तप के प्रभाव से उन्हें अनेक लब्धियों की प्राप्ति हुई । उनके मल-मूत्र भी औषधि का काम करते थे ।

जब देवताओं ने वैद्य के वेष में आकर उनकी परीक्षा लेते हुए उनसे पूछा-``भगवन् ! हम आपके रोग का उपचार करना चाहते हैं ।''

महामुनि ने कहा-``कौनसे रोग का उपचार करोगे ? द्रव्य रोग या भाव रोग का ? मुझे तो भाव रोगों से (आत्मा के रोगों से) मुक्त बनना है । क्या यह कार्य तुम कर सकोगे ? तो मैं अपना..... ।''

वैद्य ने कहा-``प्रभो ! हम तो शरीर के रोग का इलाज करना जानते हैं । आत्मा के रोग.....को मिटाने में हम.....।''

महामुनि ने कहा-``शरीर के रोग तो मैं भी मिटा सकता हूँ'' और तत्काल उन्होंने अपने मुँह से थूक निकाल कर हाथ पर लगाया । तत्काल उनके देह की चमड़ी स्वर्णवत् हो गई ।

वैद्य के रूप में आए देव आश्चर्यचकित हो गए, ``अहो ! इतनी महान् लब्धियों के स्वामी । फिर भी इतने निर्लेप और अनासक्त हैं.....।'' देवता उनके चरणों में झुक गए ।

यह तप तो विश्ववन्द्य है । इस तप में स्वर्ग के महान् सुख और शाश्वत अजरामर पद देने की शक्ति रही हुई है ।

नवमभावनाष्टकम्

विभावय विनय तपो महिमानं,
बहुभव-सञ्चितदुष्कृतममुना ।
लभते लघु लघिमानम्,
विभावय विनय तपो महिमानम् ।।विभा० 117।।

अर्थ :- हे विनय ! तप की महिमा का तू चिन्तन कर । इस तप से बहुत भवों में संचित किए गए पाप शीघ्र ही अत्यन्त कम हो जाते हैं । हे विनय ! तप की महिमा का तू विचार कर ।।117।।

विवेचन

तप से कर्मनाश

पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. आत्मसम्बोधन करते हुए फरमाते हैं कि हे विनय ! तू तप की महिमा का जरा विचार कर । इस तप के प्रभाव से सैकड़ों भवों में इकट्ठे हुए कर्म भी तत्काल कमजोर हो जाते हैं ।

भगवान महावीर परमात्मा ने मात्र सदि बारह वर्ष की तपःसाधना द्वारा गत भवों में अर्जित समस्त पापों का क्षय कर दिया था ।

तपस्वी धन्ना अणगार ने मात्र नौ मास में चढ़ते हुए परिणाम से कर्मों की इतनी जबरदस्त निर्जरा की, कि स्वयं भगवान महावीर ने अपने मुख से उनकी प्रशंसा की थी ।

जिस प्रकार खेत में इकट्ठे हुए कचरे को जला दिया जाता है और खेत साफ कर दिया जाता है; उसी प्रकार कर्मरूपी कचरे के ढेर को जलाने के लिए तप अग्नि समान है ।

चिलातिपुत्र ने भयंकर पापार्जन किए थे, किन्तु तप के प्रभाव से उसने अपनी आत्मशुद्धि कर ली ।

याति घनाऽपि घनाघनपटली,
खरपवनेन विरामम् ।
भजति तथा तपसा दुरितावली,
क्षणभङ्गुर-परिणामम् ।।विभा० 118।।

अर्थ :- जिस प्रकार तीव्र पवन के द्वारा भयंकर मेघ का आडम्बर भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तप से पापों की श्रेणी भी क्षणभंगुर बन जाती है ।।118।।

विवेचन

तप से पापनाश

आषाढ़ मास की ऋतु हो, सम्पूर्ण आकाशमण्डल बादलों से घिरा हुआ हो और चारों ओर बिजलियाँ चमक रही हों, सम्पूर्ण वातावरण वर्षा के लिए सानुकूल हो । सभी लोग इसी आशा में हों कि अभी वर्षा होगी.....अभी वर्षा होगी ।

किन्तु अचानक ही एक जबरदस्त तूफान चलता है और बड़ी ही तेजी से बादल बिखरने लगते हैं, थोड़ी ही देर में तो सम्पूर्ण आकाशमण्डल स्वच्छ हो जाता है, आकाश में धूप निकल जाती है और समस्त वातावरण परिवर्तित हो जाता है, वर्षा की आशा धूल में मिल जाती है ।

इस रूपक के द्वारा **पूज्य उपाध्यायजी म.** हमें एक नई बात सिखाना चाहते हैं । वे कहते हैं कि जिस प्रकार तीव्र पवन ने विराट् बादलों को क्षण भर में बिखेर दिया, उसी प्रकार से तीव्र तप भी पाप रूपी बादलों की श्रेणियों को क्षण भर में बिखेर देता है, उन्हें नष्टप्राय कर देता है ।

वाञ्छितमाकर्षति दूरादपि,
रिपुमपि व्रजति वयस्यम् ।
तप इदमाश्रय निर्मलभावा-
दागम-परम-रहस्यम् ।।विभा० 119।।

अर्थ :- तप दूर रहे मनोरथों को खींचकर निकट ले आता है । तप से शत्रु भी मित्र में बदल जाता है । हे आत्मन् ! निर्मल भाव से इस तप का

आश्रय करो । यही आगम का परम रहस्य है ।।119।।

विवेचन

निर्मल भाव से तप करो

तप का रहस्य अति गूढ़ है । इसके गूढ़ रहस्य को समझना, सामान्य बुद्धि का काम नहीं है ।

जिस प्रकार चुम्बक में दूर रहे लोहे को खींचकर अपने निकट लाने की ताकत है, उसी प्रकार तप में भी दूर रहे पुण्य को खींचकर नजदीक लाने की ताकत है और उस पुण्य के फलस्वरूप सभी वांछित-मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं ।

शुभ संकल्प को पूर्ण कराने में तप रामबाण औषध समान है ।

तप में दुनिया के प्रत्येक सुख और यावत् मोक्ष का सुख देने का सामर्थ्य रहा हुआ है । परन्तु तप के फलस्वरूप संसार के सुखों की इच्छा करना भयंकर हानिकर है । सम्भूतिमुनि ने अपने तप के फलस्वरूप चक्रवर्ती पद की याचना की । इस याचना-निदान से उसे चक्रवर्ती का पद मिल तो गया किन्तु अन्त में उसे भयंकर सातवीं नरक भूमि में जाना पड़ा । जो गेहूँ बोयेगा, उसके साथ घास-चारा तो उगने ही वाला है । गेहूँ के लिए ही गेहूँ बोये जाते हैं, घास-चारे के लिए नहीं ।

इसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से ही सम्यग् तप धर्म का आचरण करने का है । मोक्ष के उद्देश्य से की गई साधना के फलस्वरूप सांसारिक भोग-सुख भी मिलेंगे ही । सांसारिक सुख तो तप का आनुषंगिक फल है, तप का मुख्य फल तो मोक्ष है ।

तप में समस्त वांछाओं को पूर्ण करने का सामर्थ्य रहा हुआ है किन्तु हमें वांछाएँ ऐसी ही रखनी चाहिए जो हमें मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाने वाली हो ।

धर्मी के मनोरथ कैसे होते हैं ? यह आप जानते हैं ?

धर्मी के मनोरथ यही होते हैं कि **``हे प्रभो ! वह दिन कब आएगा कि जब इस संसार के बन्धनों का त्याग कर मैं अणगार बनूंगा । मेरा हृदय मैत्री-प्रमोद की भावनाओं से भावित हो जाएगा । मैं उत्तम कोटि के संयम का पालन**

करूंगा । मेरे हृदय में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि की प्रतिष्ठा हो जाएगी । मैं कठिन अभिग्रहों को धारण करूंगा । भयंकर उपसर्गों से भी मैं चलित नहीं बनूंगा ।'' इत्यादि आत्महितकर शुभ मनोरथ अवश्य ही तप के प्रभाव से पूर्ण होते हैं ।

तप के प्रभाव से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं । तप की घोर साधना के फलस्वरूप महावीर परमात्मा ने अपने हृदय में मैत्री की ऐसी प्रतिष्ठा की थी कि जिसके फलस्वरूप उनके समवसरण में आजन्म वैरी पशु-पक्षी भी पास-पास में आकर प्रभु की देशना का श्रवण करते थे । सिंह व हिरण पास-पास में बैठते हुए भी हिरण के हृदय में किसी प्रकार का भय नहीं होता था ।

सिंहगुफावासी आदि अनेक महामुनियों ने तप धर्म की साधना के फलस्वरूप ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं कि उनके सान्निध्य में आने वाले प्राणी वैरभाव का सर्वथा त्याग कर देते थे ।

तप का आचरण निर्मल भाव से करना चाहिए । यही आगम का परम रहस्य है । निदानरहित छोटे से तप में मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ्य रहा हुआ है ।

जहाँ माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य रहा हुआ है, वह तप जिनशासन में मान्य नहीं है । वह तप तो भव-वृद्धि का ही कारण बनता है ।

अनशनमूनोदरतां वृत्ति-
ह्रासं रस-परिहारम्,
भज सांलीन्यं कायक्लेशं,
तप इति बाह्यमुदारम् ।।विभा० 120।।

अर्थ :- अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, संलीनता और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं ।।120।।

विवेचन

बाह्य तप की साधना

तीर्थंकर परमात्मा ने तप के मुख्य दो भेद (बाह्य तप और आभ्यन्तर तप) बतलाए हैं । यहाँ बाह्य तपों का वर्णन करते हैं–

1. **बाह्य तप :-** इस तप में बाह्य पदार्थों का त्याग किया जाता है । इस तप में देह को कष्ट मिलता है, जो अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । आहार आदि बाह्य पदार्थों का त्याग होने से, अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष होने से तथा जैनेतर व्यक्तियों द्वारा भी आचरित होने से इसे बाह्य तप कहते हैं । इसके छह भेद हैं–

(1) **अनशन :-** जिस तप में चारों प्रकार के आहार का सर्वथा अथवा आंशिक त्याग किया जाता है, उसे अनशन तप कहते हैं ।

(अ) **अशन :-** जिस पदार्थ के खाने से क्षुधा की तृप्ति हो, उसे अशन कहते हैं । जैसे-रोटी, शाक, मिष्टान्न आदि ।

(आ) पान अर्थात् पानी, पेय पदार्थ ।

(इ) **खादिम :-** जिन वस्तुओं के भक्षण से क्षुधा की तृप्ति न हो किन्तु आंशिक तृप्ति होती हो । उदा.-सेके हुए धान्य, चना, खजूर, नारियल, अंगूर आदि ।

(ई) **स्वादिम :-** जिन वस्तुओं को खाने से क्षुधातृप्ति न हो, किन्तु कुछ स्वाद मिलता हो, जैसे-सूंठ, जीरा आदि ।

अनशन में चारों प्रकार के आहार का त्याग होता है । काल की अपेक्षा इसके दो भेद हैं-

(1) **इत्वर अनशन :-** जिसमें मर्यादित समय के लिए चारों आहारों का त्याग किया जाता है । जैसे-उपवास, आयम्बिल, एकासना इत्यादि ।

(2) **यावज्जीविक अनशन :-** जिसमें चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग किया जाता है, उसे यावज्जीविक अनशन कहते हैं ।

(2) **ऊणोदरी :-** भूख से कुछ (कवल) कम भोजन करना, ऊणोदरी तप कहलाता है । सामान्यतः पुरुष का भोजन बत्तीस कवल का तथा स्त्री का भोजन अट्ठाईस कवल का होता है । इस प्रकार क्षुधा से कम भोजन करने को ऊणोदरी कहते हैं ।

(3) **वृत्तिसंक्षेप :-** भोजन के पदार्थों की संख्या कम करना वृत्तिसंक्षेप तप कहलाता है । जैसे-भोजन के आठ पदार्थ हों, उसमें से पाँच पदार्थ ही खाना ।

(4) **रसत्याग :-** रस अर्थात् विगई । इसके छह प्रकार हैं-(1) दूध (2) दही (3) घी (4) तैल (5) गुड़ तथा (6) पक्वान्न । इन छह में से एक दो या तीन का त्याग करना ।

(5) **कायक्लेश :-** जिस तप में इच्छापूर्वक काया को कष्ट दिया जाता है, उसे कायक्लेश कहते हैं । जैसे-केशलुंचन, पादविहार इत्यादि ।

(6) **संलीनता :-** जिस तप में अंग-उपांग का संकोच किया जाता है, उसे संलीनता तप कहते हैं । जैसे-एक आसन पर बैठकर जाप आदि करना, श्मशान भूमि में कायोत्सर्ग करना इत्यादि ।

इस प्रकार बाह्य तप के छह भेद हैं । इन तपों का आचरण करने से आत्मा, मन व देह की शुद्धि होती है ।

प्रायश्चित्तं वैयावृत्यम् स्वाध्यायं विनयं च ।
कायोत्सर्गं शुद्धध्यानम्, आभ्यन्तरमिदमं च ।।विभा० 121।।

अर्थ :- प्रायश्चित्त, वैयावच्च, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग और शुभध्यान, आभ्यंतर तप हैं ।।121।।

विवेचन

आभ्यन्तर तप की साधना

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं-

1. **प्रायश्चित्त :-** मूलगुण अथवा उत्तरगुण में, महाव्रत अथवा अणुव्रत के पालन में कोई जानबूझ कर अथवा अनजाने में भूल हो जाय तो उसे गुरु के समक्ष प्रगट कर उस पाप की शुद्धि करने को प्रायश्चित्त कहते हैं । प्रायश्चित्त अर्थात् जिससे बहुलतया चित्त की शुद्धि होती है । इस प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं-

1. **आलोचना :-** भूल से हुए पापों को गुरु के समक्ष प्रकट करना, आलोचना कहलाता है ।
2. **प्रतिक्रमण :-** भूल से हुए पापों को पुनः नहीं करने के उद्देश्य से **'मिच्छा मि दुक्कडं'** देना प्रतिक्रमण कहलाता है ।

3. **मिश्र :-** गुरु के समक्ष पाप को प्रगट करना और उसके लिए **'मिच्छा मि दुक्कडं'** देना मिश्र प्रायश्चित्त कहलाता है ।

4. **विवेक :-** अशुद्ध अन्न-पानी का त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त कहलाता है ।

5. **कायोत्सर्ग :-** काया के व्यापार का त्याग कर ध्यान करना कायोत्सर्ग कहलाता है ।

6. **तप :-** भूल व पाप के अनुसार गुरु-प्रदत्त दण्ड (उपवासादि करना) तप प्रायश्चित्त कहलाता है ।

7. **छेद :-** महाव्रतों का घात होने से दीक्षा-पर्याय का छेद करना छेद प्रायश्चित्त है ।

8. **मूल :-** महा अपराध होने पर मूल से पुनः दीक्षा देना, मूल प्रायश्चित्त है ।

9. **अनवस्थाप्य :-** जब तक अपराध का प्रायश्चित्त न करे तब तक महाव्रत प्रदान नहीं करना ।

10. **पारांचित :-** साध्वी के शीलभंग आदि महापाप करने पर उसके दण्ड के लिए बारह वर्ष तक गच्छ बाहर रहकर महाशासन प्रभावना करने के बाद पुनः दीक्षा प्रदान करना पारांचित प्रायश्चित्त है ।

2. **विनय :-** विनय अर्थात् गुणगान, व्यक्ति का बहुमान-आदर आदि करना । इसके सात प्रकार हैं-

(1) **ज्ञान विनय :-** ज्ञान तथा ज्ञानी की बाह्य से सेवा करना, अन्तर से प्रीति व बहुमान रखना । इसके 5 भेद हैं- (1) भक्ति (2) बहुमान (3) भावना (4) विधिग्रहण और (5) अभ्यास ।

(2) **दर्शन विनय :-** इसके मुख्य दो भेद हैं-(1) शुश्रूषा विनय और (2) अनाशातना ।

(1) **शुश्रूषा विनय :-** देव-गुरु का सत्कार, सम्मान, अभ्युत्थान, आसन परिग्रहण, आसनदान, कृतिकर्म, अंजलिग्रहण, सन्मुखागमन, पश्चाद् गमन तथा पर्युपासना आदि करना ।

(2) **अनाशातना विनय :-** तीर्थंकर, धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक समनोस, साधर्मिक, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,

अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान इत्यादि की आशातना नहीं करना तथा उनकी भक्ति और बहुमान करना ।

(3) **चारित्र विनय :-** चारित्र की श्रद्धा करना, उसकी स्पर्शना करना, उसके प्रति आदर रखना, पालन करना तथा चारित्र की प्ररूपणा करना इत्यादि ।

(4-5-6) **योग विनय :-** मन, वचन और काया को आचार्य आदि की भक्ति में प्रवृत्त करना ।

(7) **उपचार विनय :-** गुरु आदि के पास रहना, उनकी इच्छा का अनुसरण करना । गुरु के लिए आहार लाना, उन्हें आहार प्रदान करना, उनकी औषधि आदि से परिचर्या करना, अवसरोचित आचरण करना तथा गुरु के कार्य में तत्पर रहना, इत्यादि ।

3. **वैयावच्च :-** वैयावच्च अर्थात् सेवा शुश्रूषादि । 1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. तपस्वी 4. स्थविर 5. ग्लान 6. नूतन दीक्षित 7. साधर्मिक 8. कुल 9. गण और 10. संघ की सेवा-भक्ति करना ।

4. **स्वाध्याय :-** इसके 5 भेद हैं-

(1) **वाचना :-** किसी साधु आदि को पढ़ाना या स्वयं पढ़ना ।

(2) **पृच्छना :-** अध्ययन में जो शंकास्पद स्थल हों, उनका गुरु से निराकरण करना ।

(3) **परावर्तना :-** याद किए पाठ का पुनरावर्तन करना ।

(4) **अनुप्रेक्षा :-** धारण किए अर्थ का चिन्तन करना ।

(5) **धर्मकथा :-** धर्म का उपदेश देना ।

5. **ध्यान :-** ध्यान अर्थात् मन को एकाग्र करना । ध्यान के चार प्रकार हैं । इनमें दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं ।

1. **दो अशुभ ध्यान :-**

(अ) **रौद्रध्यान :-** अत्यन्त द्वेष से इस ध्यान की उत्पत्ति होती है और चित्त रौद्र बन जाता है । इसके चार भेद हैं-

(1) **हिंसानुबन्धी :-** प्राणियों की हिंसा का क्रूरतम विचार करना । हिंसा के अध्यवसाय में लीन रहना ।

(2) **मृषानुबन्धी :-** झूठ बोलना तथा दूसरे को ठगने का निरन्तर विचार करना ।

(3) **स्तेयानुबन्धी :-** चोरी के विचारों का ही निरन्तर ध्यान करना ।

(4) **संरक्षणानुबन्धी :-** धन आदि परिग्रह की रक्षा के लिए निरन्तर चिन्तन करना ।

(आ) **आर्तध्यान :-** पीड़ाजन्य ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है । इसके चार भेद हैं-

(अ) **इष्ट वियोग :-** प्रिय स्त्री, पुत्र आदि के वियोग से शोक-ग्लानि आदि करना ।

(आ) **अनिष्ट संयोग :-** प्रतिकूल व अनिष्ट वस्तुओं का सम्पर्क होने पर मन में शोक आक्रन्द आदि करना ।

(इ) **रोग चिन्ता :-** शरीर में रोग आदि होने पर उसके निवारण की सतत चिन्ता करना ।

(ई) **निदान :-** धर्म के फलस्वरूप संसार के सुख आदि पाने का संकल्प करना ।

उपर्युक्त आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ हैं । इनके ध्यान से आत्मा की दुर्गति होती है ।

2. **शुभध्यान :-** इसके दो भेद हैं-(1) धर्मध्यान और (2) शुक्लध्यान ।

(इ) **धर्मध्यान :-** इसके चार प्रकार हैं–

(1) **आज्ञाविचय :-** परमात्मा की आज्ञा तथा उसके माहात्म्य का चिन्तन करना ।

(2) **अपायविचय :-** राग-द्वेष से होने वाले अनिष्टों का चिन्तन करना ।

(3) **विपाकविचय :-** कर्म के शुभ-अशुभ फल का चिन्तन करना ।

(4) **संस्थानविचय :-** विश्व के स्वरूप का चिन्तन करना ।

(ई) **शुक्लध्यान :-** इसके भी चार भेद हैं–

(1) **पृथक्त्ववितर्क सविचार :-** श्रुतज्ञान के आलम्बन से जड़ तथा चेतन की विभिन्न पर्यायों का चिन्तन करना ।

(2) **एकत्ववितर्क निर्विचार :-** श्रुतज्ञान के आलम्बन द्वारा आत्मादि द्रव्य के एक ही पर्याय का चिन्तन करना, इस ध्यान की पूर्णाहुति के साथ ही

आत्मा घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है ।

(3) **सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती :-** मन, वचन तथा काया की सर्व प्रवृत्तियों का निरोध करना ।

(4) **समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति :-** आत्मप्रदेशों के सर्वथा निष्कम्प होने पर यह ध्यान होता है, इस ध्यान का काल मात्र 5 ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ और लृ) के उच्चारण जितना है ।

6. **कायोत्सर्ग :-** कायोत्सर्ग अर्थात् काया के व्यापार का त्याग करना । अनादिकाल से स्वकाया पर रही मूर्च्छा के त्याग का अभ्यास कायोत्सर्ग के द्वारा किया जाता है । कायोत्सर्ग में **'नमस्कार-महामंत्र'** आदि का ध्यान भी किया जाता है ।

शमयति तापं गमयति पापं,
रमयति मानस-हंसम् ।
हरति विमोहं दूरारोहं,
तप इति विगताशंसम् ।।विभा० 122।।

अर्थ :- आशंसा रहित तप ताप को शान्त करता है, पाप को दूर करता है, मन रूपी हंस को खुश करता है और दुष्कर मोह को हर लेता है ।।122।।

विवेचन

तप की महिमा

तप की महिमा अकथनीय है । निराशंस भाव से जो तप किया जाता है, उससे तन के ताप और मन के सन्ताप दूर हो जाते हैं । तप में इच्छापूर्वक आहार आदि लालसाओं का त्याग होता है, अतः स्वतः मानसिक शान्ति का अनुभव होता है । जहाँ लोभ और लालसा है, वहाँ अशांति रहती है । जहाँ त्याग और सन्तोष हैं, वहाँ शान्ति रहती है । जिनाज्ञापूर्वक जो तप किया जाता है, उससे आत्मा उपशान्त ही बनती है । जिनाज्ञा की उपेक्षापूर्वक किये गए तप में क्रोध आदि देखने को मिलता है, परन्तु जहाँ जिनाज्ञापूर्वक तप है, वहाँ तो महासागर सी शान्ति का ही अनुभव होता है ।

तप से पाप का भी विलय होता है । भयंकर से भयंकर पापी भी तप के द्वारा अपने पापों का नाश कर आत्मशुद्धि कर लेता है । शास्त्रों में ऐसे अनेक दृष्टांत उपलब्ध हैं ।

तप मानस-हंस को परम आनन्द देने वाला है ।

देह के आहार के लिए अनेक जीवों की हिंसा करनी पड़ती है । तप के द्वारा आहार का त्याग हो जाने से छःकाय के जीवों को अभयदान दिया जाता है । जीवों को अभयदान देने से स्वतः ही आत्मा में परम शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है ।

संयम-कमला-कार्मणमुज्ज्वल-
शिव-सुख-सत्यंकारम् ।
चिन्तित-चिन्तामणिमाराधय,
तप इह वारंवारम् ।।विभा० 123।।

अर्थ :- तप संयम रूपी लक्ष्मी का वशीकरण है । निर्मल मोक्ष का वचन देता है । इच्छाओं को पूर्ण करने में चिन्तामणि है, ऐसे तप का बारम्बार आराधन करो ।।123।।

विवेचन

तप चिन्तामणि से बढ़कर है

पूज्य उपाध्यायजी म. तप के माहात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं कि संयम रूपी लक्ष्मी को वश में करने के लिए तप एक वशीकरण मंत्र के समान है । जिस प्रकार वशीकरण मंत्र या विद्या के द्वारा किसी को अपने अधीन किया जा सकता है, उसी प्रकार यदि आप संयम रूपी लक्ष्मी चाहते हैं, तो आपको तप का आचरण करना चाहिए । सांसारिक लक्ष्मी तो क्षणिक, नाशवन्त और आपत्तियों का घर है, जबकि यह संयम-लक्ष्मी तो समस्त संपत्तियों की बीज है ।

इसके साथ ही तप मोक्षसुख की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है । तप हमें मोक्ष-सुख प्रदान करने का वचन देता है ।

तप चिन्तामणि रत्न से बढ़कर है । चिन्तामणि रत्न तो मांगने पर मनोवांछित फल देता है, जबकि तप तो ऐसा चिंतामणि रत्न है, जो बिना मांगे ही सभी मनोरथों को पूर्ण कर देता है । ऐसे महान् तप का बारम्बार सेवन करना चाहिए ।

कर्मगदौषधमिदमिदमस्य च,
जिनपतिमतमनुपानम् ।
विनय समाचर सौख्यनिधानं,
शान्त-सुधारस-पानम् ।।विभा० 124।।

अर्थ :- यह तप कर्मरूप व्याधि की औषध है और जिनेश्वर का मत उसका अनुपान है । हे विनय ! सुख के निधान स्वरूप शान्त सुधारस का पान करो ।।124।।

विवेचन

कर्मरोग की औषध तप है

आत्मा को अनादिकाल से कर्म का रोग लगा हुआ है । उस रोग को दूर करने की एकमात्र औषधि तप ही है । इस औषधि का जिसने सेवन किया, वह अल्प भवों में ही कर्मरोग से मुक्त बन गया और जिसने इस औषधि की उपेक्षा की, वह कर्म के रोग में सड़ता रहा है ।

आयुर्वेदिक औषधि के साथ अनुपान लेने की आवश्यकता रहती है । जिनेश्वर का मत, तप रूप औषधि का अनुपान है । औषध का सेवन तभी सफल बनता है, जब अनुपान सानुकूल है । प्रतिकूल अनुपान से रोग-शमन के बजाय रोग का उपद्रव तीव्र हो जाता है ।

औषधि-अनुपान के मिश्रण से रोग-नाश शीघ्र होता है, इसी प्रकार जिनेश्वर मत की आज्ञानुसार तप का आचरण करने से आत्मा को लगा हुआ कर्म का रोग शीघ्र नाश पाता है ।

हे आत्मन् ! समस्त सुखों के निधान स्वरूप शान्त सुधारस का तू अमृत पान कर । इस अमृतपान में तुझे परम आनन्द और शान्ति का अनुभव होगा ।

10 धर्म भावना

दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन ।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्त्रम् ।।125।।

(उपजाति)

अर्थ :- जिनेश्वर बन्धुओं ने जगत् के हित के लिए दान, शील, तप और भाव स्वरूप चार प्रकार का धर्म बतलाया है, वह (धर्म) मेरे मन में सदा रमण करे ।। 125 ।।

विवेचन

धर्म के चार प्रकार

लोक-व्यवहार में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये गए हैं- अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष । अर्थ और काम अनर्थ के मूल होने से वास्तव में पुरुषार्थ ही नहीं हैं । मुमुक्षु आत्मा के लिए तो दो ही पुरुषार्थ हैं-धर्म और मोक्ष । मोक्ष साध्य है और धर्म उसका साधन ।

दुनिया में धर्म-धर्म की बातें करने वाले तो बहुत होते हैं, परन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझने वाले कोई विरले ही पुरुष होते हैं । वास्तव में, धर्म वही है जो मोक्ष का साधन बने ।

धर्म की व्याख्या करते हुए **कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी** ने कहा है कि ``दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को जो धारण करे, वह धर्म कहलाता है ।'' इस प्रकार का मोक्षसाधक धर्म जिनेश्वर भगवन्तों ने बतलाया है । इस धर्म के चार प्रकार हैं-दान, शील, तप और भाव ।

(1) **दान धर्म :-** अपने पास जो तन, मन और धन की शक्ति है, उसका दूसरे के हित के लिए उपयोग करना, दान कहलाता है । दान यह धर्म

का आदि पद कहा गया है । दान से ही जीवन में धर्म का प्रवेश होता है । अनादिकाल से जीवात्मा को धन के प्रति गाढ़ मूर्च्छा रही हुई है । उस मूर्च्छा को दूर करने के लिए, परिग्रह संज्ञा के निर्मूल नाश के लिए जिनेश्वर भगवन्तों ने दान धर्म बतलाया है । इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव परमात्मा को वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन इक्षुरस बहोराकर दानधर्म का श्रीगणेश किया था । परहित की भावना से ही व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग दूसरे के हित के लिए कर सकता है ।

अनादिकाल से जीवात्मा में स्वार्थवृत्ति घर कर गई है और इस स्वार्थवृत्ति के कारण जहाँ-तहाँ वह अपने ही लाभ आदि की बात करता है ।

दान धर्म हमें अन्य जीवात्मा का मूल्यांकन करना सिखाता है । दान वही दे सकता है, जिसने अन्य आत्मा का कुछ मूल्यांकन किया हे । अन्य जीवों के प्रति आत्मसमदर्शित्व के बिना दान की भावना असम्भव है ।

दान के अनेक प्रकार हैं-

(1) ज्ञानदान (2) अभयदान (3) सुपात्रदान (4) अनुकम्पादान (5) कीर्तिदान, इत्यादि ।

दूसरे जीव को सन्मार्ग में जोड़ना अथवा सन्मार्गगामी जीव को सन्मार्ग में स्थिर करना अथवा उसे सन्मार्ग में स्थिर रहने के लिए सहाय करना यह सबसे बड़ा दान है । तीर्थंकर परमात्मा के हृदय में सर्व जीवों के प्रति अपार करुणा होती है और इसी कारण वे उन्मार्गगामी भव्य जीवों को सन्मार्ग पर लाने के लिए धर्मदेशना का दान करते हैं । अपनी शक्ति का परहित में सदुपयोग करने से, उस शक्ति का व्यय नहीं होता है, बल्कि उस शक्ति का गुणाकार हो जाता है ।

(2) **शील :-** शील अर्थात् सदाचार-ब्रह्मचर्य । शील धर्म के पालन के द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है । शील धर्म के पालन से मैथुन संज्ञा पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । निर्मल शील का पालन करने से देवता भी वशीभूत हो जाते हैं । शीलवान पुरुष के आगे पराक्रमी दुष्ट देवों की शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है । सुदर्शन श्रेष्ठी के निर्मल शील से कौन अपरिचित है ! उसके निर्मल शील के प्रभाव से सूली का सिंहासन बन गया और अर्जुनमाली जैसा पराक्रमी भी स्थिर बन गया ।

प्रातःकाल में निर्मल शीलवती सतियों का नाम-स्मरण भी मंगल रूप है । भयंकर से भयंकर संकटकाल में भी अपने शील का रक्षण करने वाली सीता, अजंना, सुरसुन्दरी, कलावती, सुभद्रा तथा मदनरेखा आदि सतियों के जीवन-चरित्र से हमें बहुत ही प्रेरणा मिलती है । सीता के शील के प्रभाव से ही अग्नि भी जल में बदल गई थी । जिनेश्वर भगवन्तों ने पाँच इन्द्रियों की वासनाओं पर विजय पाने के लिए शील धर्म का उपदेश दिया है ।

(3) **तप :-** -एक ओर हजारों क्विन्टल लकड़ी का ढेर हो और दूसरी ओर जलती हुई एक ही दियासलाई । दोनों में किसका बल अधिक होगा ? स्पष्ट ही है एक जलती हुई दियासलाई हजारों क्विन्टल लकड़ी के ढेर को भी भस्मसात् कर सकती है । बस; अनादिकाल से संचित कर्म लकड़ी के ढेर तुल्य हैं और तप जलती हुई दियासलाई तुल्य है । अनादि से संचित कर्मों को नष्ट करने में तप धर्म पूर्णतया समर्थ है किन्तु हाँ, वह तप जिनेश्वर की आज्ञा के अनुरूप होना चाहिए । जिनाज्ञायुक्त अल्प तप भी अधिक फलदायी है और जिनाज्ञा रहित दीर्घ तप भी निष्फल है ।

तप से अनादिकालीन आहार संज्ञा को जीता जा सकता है । अणाहारी पद की प्राप्ति के अभ्यास रूप तप धर्म का अवश्य आचरण करना चाहिए । यह तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का और अनशनादि के भेद से बारह प्रकार का बतलाया गया है, जिसका विस्तृत वर्णन निर्जरा भावना के अन्तर्गत किया गया है । तप आत्मा के लिए महामंगलभूत है । तप से आत्मा स्वयं मंगलमय बन जाती है, जिससे बाह्य-अभ्यन्तर सभी विघ्न पलायन कर जाते हैं ।

(4) **भाव :-** चारों प्रकार के धर्मों में एक अपेक्षा से भाव धर्म की ही प्रधानता है । भाव धर्म से सापेक्ष दान ही मुक्तिसाधक बन सकता है । भाव से रहित दान, दान नहीं है । भाव से रहित शील, शील नहीं है और भाव से रहित तप, तप नहीं बल्कि कायकष्ट मात्र है ।

भाव धर्म अर्थात् आत्मा के शुद्ध परिणाम ।

आत्मा अपने अध्यवसाय (भाव) के अनुसार ही कर्म से बँधती है और मुक्त बनती है ।

शुभ क्रिया करते हुए भी यदि भाव अशुभ हैं तो वह क्रिया मोक्षसाधक बनने के बजाय संसारवर्धक ही बनती है और अशुभ क्रिया करते हुए भी यदि आत्मा के अध्यवसाय शुभ और निर्मल हैं, तो आत्मा कर्म का अल्पबंध और अधिक निर्जरा ही करती है ।

इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के धर्म त्रिलोकबन्धु जिनेश्वरदेव ने बतलाए हैं । तीर्थंकर भगवान समवसरण में बैठकर धर्मदेशना देते हैं उस समय भगवान का मुख तो पूर्व दिशा की ओर होता है, अन्य तीन दिशाओं में देवता प्रभु की प्रतिकृति स्थापित करते हैं । **कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरिजी म.** प्रभु की स्तुति करते हुए फरमाते हैं कि-

दान-शील-तपो-भाव-भेदाद् धर्मं चतुर्विधम् ।
मन्ये युगपदाख्यातुं चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान् ।।

हे प्रभो ! दान, शील, तप और भाव रूप चार प्रकार के धर्मों को एक साथ कहने के लिए ही आपके चार मुख हो गये हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ।

सत्य-क्षमा-मार्दव-शौच-सङ्ग-
त्यागाऽऽर्जव-ब्रह्म-विमुक्तियुक्तः ।
यः संयमः किं च तपोऽवगूढ-
श्चारित्रधर्मो दशधाऽयमुक्तः ।।126।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ :- सत्य, क्षमा, मार्दव, शौच, संगत्याग (अपरिग्रह), आर्जव, ब्रह्मचर्य, विमुक्ति (लोभत्याग), संयम और तप रूप दस प्रकार का चारित्र-धर्म कहा गया है ।।226।।

विवेचन

दस प्रकार का चारित्रधर्म

जैन दर्शन स्याद्वाद दर्शन है, अतः इस दर्शन में एक ही वस्तु का निरूपण भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है ।

पहली गाथा में ग्रन्थकार **पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म.** ने धर्म के चार प्रकार बतलाए । अब दूसरी गाथा में वे चारित्रधर्म-यतिधर्म के दस प्रकार बतलाते हैं ।

अन्य अपेक्षा से धर्म के दो भेद हैं. (1) श्रुतधर्म और (2) चारित्रधर्म । इस प्रकार चारित्रधर्म के दस प्रकार बतलाए गए हैं; जिन्हें यतिधर्म-साधुधर्म या श्रमणधर्म भी कहते हैं ।

(1) **सत्य :-** सत्य अर्थात् कभी भी मिथ्या-भाषण नहीं करना । दीक्षा अंगीकार करते समय सर्वथा मृषावाद विरमण की प्रतिज्ञा की जाती है, अतः इस प्रतिज्ञा के पालन के लिए साधु किसी भी प्रकार से झूठ नहीं बोलते हैं ।

(2) **क्षमा :-** क्षमा अर्थात् क्रोध के प्रसंग में भी क्रोध नहीं करना । क्रोध के प्रसंग को निष्फल बना देना । क्रोध अग्नि तुल्य है और क्षमा उस अग्नि को शान्त करने वाला जल है । आग और जल के युद्ध में जल की ही विजय होती है । क्रोध और क्षमा के युद्ध में क्षमा ही विजय की वरमाला धारण करती है । कमठ दस-दस भवों तक क्रोध की ज्वालाएँ भड़काता रहा, किन्तु पार्श्वनाथ प्रभु ने क्षमा के जल से सभी ज्वालाओं को शान्त कर दिया । अग्निशर्मा ने नौ भवों तक वैर की आग बरसाई किन्तु गुणसेन ने क्षमा के जल से उस आग को सदा के लिए बुझा दिया ।

(3) **मार्दव :-** मार्दव अर्थात् मृदुता । किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं करना अर्थात् सदा नम्र बनकर रहना । जाति, कुल, रूप आदि का अभिमान करने से भयंकर कर्मों का बंध होता है । भविष्य में उन वस्तुओं की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है । अभिमान करने से नवीन कर्मों का भी बंध होता है । विनय-नम्रता तो सर्व गुणों का मूल है । विनय से विद्याज्ञान, ज्ञान से विरति, विरति से आस्त्रव-निरोध अर्थात् संवर का फल तप तथा तप का फल निर्जरा और निर्जरा का फल कर्ममुक्ति अर्थात् मोक्षपद की प्राप्ति है ।

(4) **शौच :-** शौच अर्थात् अभ्यन्तर शुद्धि । परिणामों की निर्मलता । जैन शासन में बाह्य शौच गौण है, अभ्यन्तर शौच की ही मुख्यता है । मन की पवित्रता-शुद्धि से अध्यवसाय निर्मल बनते हैं, जिससे अशुभ कर्मों के आस्त्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं और संवर-निर्जरा धर्म की आराधना होती है ।

(5) **संगत्याग :-** संगत्याग अर्थात् बाह्य परिग्रह का त्याग । परिग्रह के त्याग से आकिंचन्य धर्म की साधना होती है । संगत्याग अर्थात् पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रही हुई ममता और आसक्ति का त्याग ।

(6) **आर्जव :-** आर्जव अर्थात् सरलता । माया और वक्रता का अभाव । आत्मा के लिए माया महा अनर्थकारी है । पूर्व भव में मायाचार के कारण ही मल्लिनाथ भगवान को भी स्त्री के रूप में जन्म लेना पड़ा था ।

(7) **ब्रह्मचर्य :-** ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मा के स्वरूप में रमण करना । ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा का स्वरूप है । उस स्वरूप में लीन बनने वाला ही सच्चा ब्रह्मचारी है । ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ इन्द्रिय-संयम, गुरुकुलवास आदि भी है ।

(8) **विमुक्ति :-** विमुक्ति अर्थात् लोभ का त्याग । लोभ तो सभी पापों का जतक है । जैसे आकाश का कोई अन्त नहीं है, वैसे ही लोभी की इच्छा का भी कोई अन्त नहीं है । विमुक्ति अर्थात् सन्तोष धारण करना ।

(9) **संयम :-** संयम अर्थात् मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना । काया से जीवहिंसादि नहीं करना, वचन से मिथ्या, कटु व अहितकर वचन नहीं बोलना और मन से किसी का भी अहित-चिन्तन नहीं करना ।

(10) **तप :-** तप अर्थात् आत्मा पर लगे हुए कर्मों को तपाने की एक यौगिक प्रक्रिया । तप से कर्म क्षीण होते हैं ।

उपर्युक्त दस प्रकार के यतिधर्म के पालन से आत्मा कर्म के बन्धनों से मुक्त बनकर शाश्वत अजरामर पद को प्राप्त करती है ।

यस्य प्रभावादिह पुष्पदन्तौ,
विश्वोपकाराय सदोदयेते ।
ग्रीष्मोष्मभीष्मामुदितस्तडित्वान्,
काले समाश्वासयति क्षितिं च ।।127।।

(इन्द्रवज्रा)

उल्लोलकल्लोलकलाविलासै-
र्न प्लावयत्यम्बुनिधिः क्षितिं यत् ।
न घ्नन्ति यद्व्याघ्रमरुद्दवाद्याः
धर्मस्य सर्वोऽप्यनुभाव एषः ।।128।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ :- इसके (धर्म के) प्रभाव से ही सूर्य और चन्द्रमा विश्व के उपकार के लिए सदा उदित होते हैं और ग्रीष्म के भयंकर ताप से संतप्त बनी पृथ्वी को समय पर मेघ शान्त करता है ।।127।।

अर्थ :- उछलती हुई जल-तरंगों से समुद्र पृथ्वीतल को डुबो नहीं देता है तथा व्याघ्र, सिंह, तूफान और दावानल (सर्व प्राणियों का) संहार नहीं करते हैं; यह धर्म का ही प्रभाव है ।।128।।

विवेचन

धर्म का अचिन्त्य प्रभाव

जिनेश्वरदेव के द्वारा बतलाए हुए धर्म का फल अचिन्त्य है । धर्म के समस्त फल का वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है । चौदह राजलोक में धर्म का प्रभाव प्रत्यक्ष है ।

धर्म के पुण्य प्रभाव से ही सूर्य प्रतिदिन उगता है और जगत् के जीवों को प्रकाश प्रदान करता है । धर्म का ही प्रभाव है कि रात्रि में चन्द्रमा अन्धकार को दूर करता है । सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से जगत् के जीवों को सतत प्रकाश देने का जो कार्य कर रहे हैं, यह साक्षात् धर्म का ही प्रभाव है ।

बैशाख और ज्येष्ठ मास में भयंकर गर्मी पड़ती है, उस गर्मी से सभी जीव अत्यन्त सन्तप्त हो जाते हैं । उस गर्मी की भयंकर पीड़ा को दूर करने के लिए मेघराजा जोर से वर्षा करता है; उस वर्षा से अत्यन्त सन्तप्त पृथ्वी भी शान्त हो जाती है और खुशहाली में हरियाली की हरी चादर ओढ़ लेती है । यह सब धर्म का ही साक्षात् प्रभाव है ।

इतना ही नहीं लवणसमुद्र आदि अपनी मर्यादा को त्यागकर जम्बुद्वीप में भयंकर हानि आदि कभी नहीं करते हैं, यह भी धर्म का ही पुण्य प्रभाव है ।

व्याघ्र आदि जंगल में रहते हैं, नगर में आकर हिंसादि नहीं करते हैं, पवन अनुकूल बहता है और आग महा अनर्थ नहीं करती है, यह सब धर्म का ही प्रभाव है ।

धर्म के प्रभाव की क्या बात करें ? दुनिया में जो कुछ भी शुभ है, सुख और शान्ति है, वह सब धर्म का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है ।

चौदह राजलोक अपनी स्थिति में सदा रहा हुआ है, मेरुपर्वत आदि अनादिकाल से अवस्थित हैं । स्वयम्भूरमण आदि अपनी अपनी मर्यादा में रहते हैं, यह सब धर्म का ही साक्षात् प्रभाव है ।

हेमचन्द्राचार्यजी ने भी **'योगशास्त्र'** में कहा है-

(1) धर्म के प्रभाव से ही कल्पवृक्ष आदि अभीष्ट फल देते हैं ।

(2) समुद्र पृथ्वीतल को डुबो नहीं देता है और बादल पृथ्वी को सदा आश्वासन देते हैं; यह सब धर्म का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है ।

आग तिरछी नहीं जलती है और पवन ऊर्ध्वगति नहीं करता है, यह सब धर्म का ही फल है ।

यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन से रहकर जगत् के जीवों के लिए आधार रूप बनी हुई है । यह धर्म का ही प्रभाव है ।

विश्व के उपकार के लिए सूर्य-चन्द्र उदय पाते हैं, यह धर्म का ही प्रभाव है ।

अहो ! धर्म की महिमा का क्या गान करें ? वह तो बन्धुरहित के लिए बन्धु समान है, मित्ररहित के लिए मित्र समान है, अनाथ के लिए नाथ समान है ।

यस्मिन्नैव पिता हिताय यतते, भ्राता च माता सुतः,
सैन्यं दैन्यमुपैति चापचपलं, यत्राऽफलं दोर्बलम् ।
तस्मिन् कष्टदशाविपाकसमये, धर्मस्तु संवर्मितः,
सज्जः सज्जन एष सर्वजगतस्त्राणाय बद्धोद्यमः ।।126।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- जिस दशा में पिता, माता, भाई और पुत्र भी हित के लिए प्रवृत्ति नहीं करते (बल्कि अहित के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं), सैन्य भी दुर्बल

हो जाय और धनुष-बाण को धारण करने में भुजाएँ भी असमर्थ हो जायें, ऐसी कष्टदशा के विपाक समय में, अच्छी तरह से बद्ध कवच वाला सज्जन रूप धर्म ही सर्व जगत् के रक्षण के लिए उद्यमशील होता है ।।126।।

विवेचन

आपत्ति में धर्म ही सहायक है

कर्म की गति न्यारी है । जब अशुभ कर्म का उदय आता है, तब व्यक्ति आपत्ति के बादलों से घिर जाता है । जन्म देने वाले माता-पिता भी उसके विरुद्ध हो जाते हैं । भाई तो उसका मुँह भी देखना नहीं चाहता है और मित्रमण्डल आदि तो दृष्टि से भी अगोचर हो जाते हैं ।

अनेक महासतियों के जीवन-चरित्रों के निरीक्षण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है ।

सती अंजना एक महान् पतिव्रता और श्रेष्ठ नारी थी, परन्तु जब उसके दुर्भाग्य का उदय हुआ, तब उसकी सास ने उस पर कलंक लगा दिया । इतना ही नहीं, घोर अपमान के साथ तिरस्कारपूर्वक उसे घर से निकाल दिया । विकट परिस्थिति में फँसी हुई सती अंजना जब अपने पिता के घर में प्रवेश करने जाती है तब उसकी सगी माँ भी उसका घोर अपमान कर उसे बाहर निकाल देती है । पूर्व जन्म के पापोदय के कारण सती अंजना को न पति का आश्रय मिला.....न सास का.....न ससुर का.....न माता का और न पिता का । सगा भाई भी दूर हो जाता है । अन्त में, उस अंजना को भयंकर वन-निकुञ्ज की शरण लेनी पड़ती है । एकमात्र वसन्ततिलका दासी उसके साथ है । वन की भयंकर गुफा में वह आश्रय करती है और जिनधर्म से भावित होने के कारण परमात्मा का सतत स्मरण करती है । भयंकर दुःख में भी हिम्मत न हारकर नमस्कार महामन्त्र आदि का स्मरण करती है और उसी धर्म के प्रभाव से वह संरक्षण पाती है ।

- अनाथीमुनि की पूर्वावस्था भी कुछ ऐसी ही है । धन, कुटुम्ब और परिवार से समृद्ध होते हुए भी भयंकर शूल का निवारण नहीं हो पा रहा है । विशाल परिवार भी वेदना में सहभागी नहीं है । आखिर अनाथीमुनि की आत्मा में से एक आवाज निकलती है-`ओह ! वास्तव में इस भयंकर संसार में मैं अनाथ हूँ ।' इसीलिए तो वे श्रेणिक महाराजा को समझाते हुए कहते हैं-

जिन धर्म विना नर नाथ
नथी कोई मुक्ति नो साथ ।

इस विषम संसार में जीवात्मा का सच्चा साथी जिनेश्वर का धर्म ही है ।

दुनिया की सभी शक्तियाँ जब विपरीत हो जाती हैं, एक भी व्यक्ति अपनी ओर देखने के लिए भी तैयार नहीं होता है, ऐसी परिस्थिति में एकमात्र परमात्मा का बताया हुआ धर्म ही हमारा रक्षण कर सकता है ।

सैन्य कमजोर हो जाय, भुजा-बल घट जाय, तब एकमात्र धर्म ही कवच बनकर हमारी रक्षा करता है ।

त्रैलोक्यं सचराचरं विजयते यस्य प्रसादादिदं,
योऽत्राऽमुत्र हितावहस्तनुभृतां सर्वार्थसिद्धिप्रदः ।
येनानर्थकदर्थना निजमहः सामर्थ्यतो व्यर्थिता,
तस्मै कारुणिकाय धर्मविभवे भक्तिप्रणामोऽस्तु मे ।।130।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- जिसकी कृपा से सचराचर रूप तीन जगत् (सदा) जयवन्त रहते हैं, जो प्राणियों के लिए इस लोक और परलोक की समृद्धि को लाने वाला है और जो अपने प्रभाव से अनेक अनर्थों की परम्पराओं को निष्फल बनाने वाला है, महाकरुणामय उस धर्मविभव को भक्तिपूर्वक मेरा प्रणाम हो ।।130।।

विवेचन

धर्म का पुण्य प्रभाव

धर्म के प्रभाव से तीन लोक में रहे हुए सभी प्राणी सुख प्राप्त करते हैं । धर्म ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है, यावत् मोक्ष-सुख प्रदान करने का सामर्थ्य धर्म में रहा हुआ है ।

धर्म से धन मिलता है, धर्म से काम मिलता है, धर्म में दुनिया की समृद्धि देने की ताकत रही हुई है । परन्तु मुमुक्षु आत्मा का कर्तव्य है कि वह धर्म के फलस्वरूप सांसारिक भौतिक-सुखों की झंखना न करे । धर्म के

फलस्वरूप इस लोक के सुख की इच्छा करने से वह धर्मानुष्ठान भी विषानुष्ठान बन जाता है । धर्म के प्रभाव से पारलौकिक सुखों की झंखना करने से वह धर्मानुष्ठान-गरलानुष्ठान बन जाता है, जो धीरे-धीरे आत्मा के गुणों का घात करता है ।

धर्म का वास्तविक फल तो शाश्वत अजरामर पद की प्राप्ति रूप मोक्ष पद ही है । दुनिया के सुखों की प्राप्ति यह तो धर्म का आनुषंगिक फल है । गेहूँ बोएंगे तो घास तो उगने वाला ही है । गेहूँ बोने का मुख्य उद्देश्य गेहूँ की प्राप्ति है, न कि घास की प्राप्ति । घास पाने के लिए गेहूँ बोने वाला मूर्ख ही गिना जाता है । इसी प्रकार धर्म का वास्तविक फल मोक्ष-सुख की प्राप्ति है, अतः मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से ही धर्म का आचरण और प्रतिपादन होना चाहिए, न कि संसार-सुखों की प्राप्ति के लिए ।

जल का यह स्वभाव है कि वह ताप को दूर करता है और शीतलता प्रगट करता है । बस, इसी प्रकार धर्म का यह स्वभाव है कि वह अनर्थ की परम्पराओं को दूर करता है और हित की परम्परा का सर्जन करता है ।

शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में शुभ भावपूर्वक एक छोटा सा दान किया, उस दान ने उन्हें भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया और अन्त में उन्हें मोक्षपद भी दे दिया ।

धर्म तो करुणामूर्ति है । वह जीव को शिव और आत्मा को परमात्मा बनाना चाहता है । ऐसे महान् धर्म को भक्तिभावपूर्वक प्रणाम हो ! भक्तिभावपूर्वक धर्म को किया गया प्रणाम भी जीवात्मा के उद्धार में सहायक बनता है ।

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविता-चातुरी सुस्वरत्वम ।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः
किं नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ।।131।।

(मन्दाक्रान्ता)

अर्थ :- धर्म कल्पवृक्ष की फलपरिणति का हम क्या वर्णन करें ? उसके प्रभाव से विशाल राज्य, सौभाग्यवती पत्नी, पुत्र-पौत्रादि, लोकप्रिय

रूप, सुन्दर काव्य-रचना का चातुर्य, असाधारण सुन्दर वक्तृत्व, नीरोगता, गुण की पहचान, सज्जनत्व तथा सुन्दर बुद्धि आदि की प्राप्ति होती है ।।131।।

विवेचन

धर्म कल्पवृक्ष के फल

धर्म के माहात्म्य का वर्णन करते हुए **पूज्य उपाध्यायजी म.** फरमाते हैं कि धर्म तो कल्पवृक्ष के समान है । जैसे-कल्पवृक्ष से मुँहमाँगी वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार धर्म में भी समस्त वस्तुओं को प्रदान करने की ताकत रही हुई है ।

धर्म के प्रभाव से विशाल साम्राज्य की प्राप्ति होती है । चक्रवर्ती और देव-देवेन्द्र की समृद्धि भी धर्म के प्रभाव से सुलभ हो जाती है ।

हाँ, इतना ख्याल रखें कि धर्म में चक्रवर्ती पद देने की ताकत है, किन्तु उसके फलरूप चक्रवर्ती पद की इच्छा महाअनर्थकारी है ।

सम्भूतिमुनि घोर तप साधना करते थे । एक बार सनत् कुमार चक्रवर्ती अपने परिवार के साथ उन्हें वन्दन के लिए आये । अनजाने में मुनि को स्त्री-रत्न की केशलताओं का स्पर्श हो गया और एक गजब आश्चर्य बन गया । स्त्रीरत्न की केशलताओं के स्पर्श ने तपस्वी मुनि के देह में कामाग्नि प्रगट कर दी और वे निदान कर बैठे **''इस तप का कोई फल हो तो आगामी भव में मैं चक्रवर्ती बनूँ और स्त्रीरत्न का भोक्ता बनूँ ।''**

बस, इस निदान के फलस्वरूप सम्भूतिमुनि को आगामी भव में चक्रवर्ती पद तो मिल गया; किन्तु वे अजरामर पद को खो बैठे ।

धर्म के प्रभाव से सौभाग्यवती स्त्री, पुत्र-पौत्र आदि तथा अद्भुत काव्य-शक्ति, कण्ठ का माधुर्य, आरोग्यवन्त शरीर तथा अन्य अनेक गुणों की प्राप्ति होती है । शुभ चिन्तन में सहायक सद्बुद्धि की प्राप्ति भी धर्म के प्रभाव से ही होती है ।

धर्म तो साक्षात् कल्पवृक्ष है । यह तो सब कुछ देने में समर्थ है, परन्तु अच्छा तो यह है कि इससे कुछ भी मांगो मत । धर्म के पास याचक बनकर मत जाओ, बल्कि सेवक बनकर जाओ । जो धर्म को समर्पित है, उसे धर्म सर्वस्व देने के लिए तैयार है ।

दशमभावनाष्टकम्

पालय पालय रे पालय मां जिनधर्म ।
मंगलकमलाकेलिनिकेतन,
करुणाकेतन धीर ।
शिवसुखसाधन भवभयबाधन,
जगदाधार गम्भीर, पालय० ।।132।।
सिञ्चति पयसा जलधरपटली,
भूतलममृतमयेन ।
सूर्याचन्द्रमसावुदयेते,
तव महिमातिशयेन, पालय० ।।133।।

अर्थ :- हे जिनधर्म ! आप मेरा पालन करो, पालन करो, पालन करो ।
हे मंगललक्ष्मी की क्रीड़ा के स्थान रूप !
हे करुणा की ध्वजा स्वरूप !
हे धैर्यवान् !
हे शिवसुख के साधन !
हे भवभय के बाधक !
हे जगत् के आधारभूत !
हे गम्भीर जिनधर्म ! आप मेरा रक्षण करो ! रक्षण करो ! (ध्रुवपद) ।।132।।

अर्थ :- आपकी महिमा के अतिशय से बादलों की श्रेणी अमृत तुल्य जल से इस पृथ्वी का सिंचन करती है और सूर्य व चन्द्र भी उदय को प्राप्त होते हैं ।।133।।

विवेचन

धर्म का माहात्म्य

पूज्य उपाध्यायजी म. जिनेश्वरकथित धर्म की स्तवना करते हुए

फरमाते हैं कि हे जिनधर्म ! आप हमारा पालन करो, रक्षण करो ।

इस जगत् में आत्मा अनादिकाल से भटक रही है । जन्म-जीवन और मरण के इस चक्रव्यूह में जीवात्मा बुरी तरह से फँसी हुई है ।

शास्त्रकार महर्षियों ने इस संसार को दुःखरूप, दुःखफलक और दुःख-परम्परक कहा है । जीवात्मा के लिए यह संसार दुःखदायी है, दुःख के फल को देने वाला है और अन्त में दुःख की परम्परा को ही बढ़ाने वाला है । चौदह राज-लोक में मोहराजा ने एक ऐसा जाल फैलाया है कि उसमें अत्यल्प जीव ही बच पाते हैं । कदाचित् कोई जीवात्मा संसार-मुक्ति के लिए प्रयत्न कर बैठे तो उसे यह मोहराजा **'सुख'** का सुमधुर (?) लालच देकर पुनः नीचे गिरा देता है ।

मोहराजा के चंगुल में से जीवात्मा को बाहर निकालना, अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है । अनन्तकाल से अपनी आत्मा मोह की गुलाम बनी हुई है । परन्तु आश्चर्य तो यह है कि हमने इस जेल को ही महल मान लिया है । आत्मा की सच्ची स्वतन्त्रता को भूल ही बैठे हैं । जन्म से भेड़-बकरी के टोले में रहा हुआ सिंह अपने आपको सत्त्वहीन मान लेता है, वही हालत हमारी अपनी आत्मा की भी है ।

आज तक हमें आत्मा की सच्ची पहचान नहीं हो पाई है । इस संसार में एकमात्र जिनेश्वर परमात्मा ही आत्मा के सच्चे स्वरूप को बताने में समर्थ हैं । अतः उनके द्वारा स्थापित जिनशासन ही हमारी रक्षा कर सकता है । जिनशासन तो मोहराजा के आक्रमण के सामने ढाल का काम करता है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. प्रार्थना करते हैं कि आज तक मोह के शासन में रहकर मैं मोह का गुलाम बना हूँ । अतः हे जिनधर्म ! आप मुझे बचाओ ।

जिनधर्म अर्थात् जिनेश्वर की आज्ञा । शास्त्रवचन है- **'आणाए धम्मो'** जिनेश्वर की आज्ञा, यही धर्म है । उनकी आज्ञानुसार जीवन जीना, यही धर्म का आचरण है ।

जिनधर्म की अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं-

(1) यह जिनधर्म मंगलरूप लक्ष्मी का क्रीड़ागृह है :-

मंगल अर्थात् मां गालयति (पापात्) । जो आत्मा की पापमय वासनाओं

को दूर कर दे, नष्ट कर दे, वह मंगल कहलाता है। अथवा **'मंगुं लाति'** अर्थात् जो पुण्य का संग्रह करे, वह मंगल कहलाता है।

'दशवैकालिक' में कहा गया है–

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

जिसका मन इस धर्म के विषय में है (अर्थात् जिसके मन में यह धर्म बसा हुआ है।) उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।

जिनेश्वर प्ररूपित धर्म की शरणागति स्वीकार करने वाले के लिए जंगल में भी मंगल ही होता है। उसकी समस्त आपत्तियों का निवारण हो जाता है।

(2) **करुणाकेतन :-** जिनमन्दिर के ऊपर ध्वजा अनिवार्य है। ध्वजा से मन्दिर की शोभा बढ़ती है। जिनधर्म रूपी मन्दिर की ध्वजा **'करुणा'** है। करुणा अर्थात् दया। दूसरे के दुःख के निवारण की इच्छा करुणा है। करुणा से हृदय सुकोमल बनता है। करुणायुक्त हृदय में ही जिनधर्म का वास होता है। जिस आत्मा में अन्य आत्मा के दुःख के प्रति करुणा नहीं है, वह आत्मा जिनधर्म की प्राप्ति के लिए अयोग्य है।

(3) **धीर :-** जिनेश्वर का धर्म अत्यन्त ही धीर अर्थात् धैर्य वाला है। अनन्तकाल से हमने इस धर्म की उपेक्षा की थी, किन्तु फिर भी इस धर्म ने अपना धैर्य नहीं खोया। अनन्तकाल के बाद आज भी जो उसकी शरण स्वीकार करता है, उसका अभी भी रक्षण करने के लिए तैयार है, अर्थात् वह अत्यन्त ही धैर्य वाला है।

(4) **शिवसुखसाधन :-** जिनेश्वर का धर्म आत्मा के शाश्वत सुख की प्राप्ति का अमोघ साधन है। आज तक अनन्त आत्माएँ जिनधर्म की शरण स्वीकार कर मोक्षपद को प्राप्त हुई हैं और भविष्य में भी जिनधर्म को स्वीकार कर अनन्त आत्माएँ मोक्ष में जाने वाली हैं।

(5) **भवभयबाधन :-** आत्मा के लिए यह संसार ही महा अपायभूत है जहाँ अजन्मा आत्मा को जन्म लेना पड़ता है, अमृत आत्मा को मरना पड़ता

है, अजर आत्मा को जरा का शिकार बनना पड़ता है और नीरोग आत्मा को रोग से पीड़ित बनना पड़ता है । जिनेश्वर का धर्म आत्मा को समस्त भयों से, दुःखों से मुक्त कर शाश्वतपद प्रदान करता है ।

(6) **जगदाधार :-** जिनेश्वर का धर्म सर्व प्राणियों के लिए आधार-स्तम्भ है । आज तक उसने अनन्त आत्माओं को आश्रय-संरक्षण दिया है । वास्तव में भव के दुःख से मुक्त बनने के लिए जिनेश्वर का धर्म ही आधारस्तम्भ है ।

(7) **गम्भीर :-** जिनेश्वर का धर्म समुद्र की भाँति अत्यन्त गम्भीर है ।

उपर्युक्त विशेषणों से युक्त जिनधर्म मेरा रक्षण करे ।

निरालम्बमियमसदाधारा,
तिष्ठति वसुधा येन ।
तं विश्वस्थितिमूलस्तम्भं,
त्वां सेवे विनयेन, पालय० ।।134।।

अर्थ :- आपके प्रभाव से यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन के टिकी हुई है । इस प्रकार विश्वस्थिति के मूल स्तम्भ स्वरूप धर्म की मैं विनयपूर्वक सेवा करता हूँ ।।134।।

विवेचन

ग्रीष्म के ताप से तपी हुई पृथ्वी को मेघमण्डल अमृततुल्य जलसिंचन द्वारा शान्त करता है । सूर्य दिन में उगकर प्रकाश करता है और चन्द्रमा रात्रि में अन्धकार को दूर करता है । यह सब धर्म का ही प्रभाव है ।

यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन के व्यवस्थित रूप से रही हुई है । समुद्र आदि अपनी-अपनी मर्यादा में व्यवस्थित रहे हुए हैं, यह सब धर्म का ही पुण्य प्रभाव है । ऐसे धर्म का पुनःपुनः आचरण व सेवन करना चाहिए ।

दानशीलशुभभावतपोमुख-,
चरितार्थीकृतलोकः ।
शरणस्मरणकृतामिह भविनां,
दूरीकृतभयशोकः, पालय० ।।135।।

अर्थ :- दान, शील, शुभ भाव और तप रूप मुख द्वारा जिसने इस जगत् को चरितार्थ किया है, शरण और स्मरण करने वाले भव्य प्राणियों के भय और शोक को जिसने दूर किया है (ऐसा यह जिनधर्म है ।) ।।135।।

विवेचन

धर्म से भय, शोक का नाश

जो दान, शील, तप और भाव रूप चतुर्मुखी धर्म की शरण स्वीकार करती है, वह आत्मा निर्भीक बन जाती है, उसे इस संसार में किसी प्रकार का भय नहीं रहता है ।

जिनेश्वर प्ररूपित धर्म में त्रिभुवन-पूज्यत्व का पद प्रदान करने की ताकत रही हुई है ।

कुमारपाल भूपाल की आत्मा पूर्व भव में जयताक नामक खूंखार डाकू के रूप में थी, **'मारो, लूटो और मौज करो'** यही उसका जीवन-मंत्र बन चुका था, नास्तिकता ने उसकी आत्मा को घेर लिया था । सातों व्यसनों की गुलामी ने उसके जीवन को अधोपतन के गर्त में धकेल दिया था । कुल को कलंकित करने वाले कृत्यों से उसने अपने जीवन को बरबाद कर दिया था ।

परन्तु सद्गुरु के संग ने उसकी आत्मा को उत्थान के शिखर पर पहुँचा दिया और अल्प भवों में ही वह आत्मा मुक्ति की अधिकारिणी बन गई ।

दुर्गति के द्वार पर खड़ी बंकचूल, अर्जुनमाली, चिलातिपुत्र, रोहिणेय चोर तथा दृढ़प्रहारी आदि की आत्माओं को बचाने वाला कौन? एकमात्र जिनशासन ही न !

दानधर्म ने शालिभद्र का उद्धार किया, शीलधर्म ने सुदर्शन सेठ का उद्धार किया, तपधर्म ने धन्ना अणगार को ऊँचा उठाया और भावधर्म ने भरतजी को केवलज्ञान प्रदान किया ।

क्षमा-सत्य-संतोषदयादिक,
सुभगसकलपरिवारः ।
देवासुरनरपूजित-शासन,
कृत-बहुभवपरिहारः, पालय० ।।136।।

अर्थ :- क्षमा, सत्य, सन्तोष और दयादि जिसका सुभग परिवार है, जो देव, असुर और मनुष्यों से पूजित है, ऐसा यह शासन (जिनशासन) बहुत भवों का परिहार करने वाला है ।।136।।

विवेचन

धर्म से भव-भयनाश

क्षमा, सत्य, सन्तोष और दया आदि सौभाग्यशाली धर्म परिवार के सदस्य हैं । क्षमा आदि 10 यतिधर्मों में पाप-निवारण की अद्भुत शक्ति रही हुई है ।

'क्षम्' धातु सहन करने के अर्थ में होती है । दूसरे के द्वारा किए गए अपमान आदि को शान्त भाव से सहन करना क्षमा कहलाता है ।

क्षमाशील व्यक्ति के चरणों में देवता भी नमस्कार करते हैं । भगवान महावीर क्षमा के महासागर थे । कमठ के भयंकर उपसर्ग से भी प्रभु पार्श्वनाथ की आत्मा चलित न बनी और उन्होंने कमठ को क्षमा कर दिया । शत्रु और मित्र के प्रति उनकी समान दृष्टि थी । सिर पर अंगारे रखने वाले के प्रति गजसुकुमाल मुनि की कितनी दिव्य दृष्टि थी ? वे तो कहते हैं **'यह तो मेरा उपकारी है, मेरे सिर पर मोक्ष की पगड़ी (पाग) बाँध रहा है ।'**

शरीर की चमड़ी उतारने वाले के लिए खंधकमुनि ने **'भाई थकी भले रो'** (सगे भाई से भी बढ़कर) शब्द का प्रयोग किया था ।

सत्य की रक्षा के लिए हरिश्चन्द्र ने राज्य को भी तिलांजलि दे दी थी ।

पूणिया श्रावक को अल्प समृद्धि में भी कितना अधिक सन्तोष था !

धर्मरुचि अणगार के हृदय में दया के कितने सुमधुर परिणाम थे कि कड़वे तूम्बड़े के साग की एक-दो बूँदों से कुछ चींटियों को मृत देखकर, उन्होंने अपने पेट में ही वह साग परठ लिया । भयंकर और विषैले साग में अद्भुत समाधि-समता भाव का आचरण कर उन्होंने केवलज्ञान और परिनिर्वाण को भी प्राप्त कर लिया ।

जिनशासन के अंगभूत क्षमादि धर्मों में अद्भुत शक्ति है ।

देव, असुर व नर से पूजित शासन–परमात्मा का शासन त्रिलोकपूज्य

है । वैमानिक आदि के इन्द्र परमात्म-शासन की अद्भुत भक्ति करते हैं । भवनपति-व्यन्तर आदि के असुरेन्द्र भी परमात्म-शासन की अद्भुत सेवा करते हैं और सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती आदि तो परमात्म-शासन के चरणों में छह खण्ड की ऋद्धि-समृद्धि का त्याग कर आत्म-समर्पण भी कर देते हैं ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक चारों निकाय के देवता परमात्मा के जन्म आदि कल्याणकों का भव्य उत्सव करते हैं । सौधर्मेन्द्र आदि पशु (बैल) का रूप धारण कर प्रभु का जन्माभिषेक कर अपने आपको धन्य मानते हैं । परमात्मशासन की सेवा के लिए अत्यन्त समृद्ध राजा-महाराजादि तत्क्षण विशाल राज्य का भी त्याग कर देते हैं ।

परमात्मा का शासन आत्मा को भव-परम्परा से मुक्त कराने वाला है ।

बन्धुरबन्धुजनस्य दिवानिश-
मसहायस्य सहायः ।
भ्राम्यति भीमे भवगहनेऽङ्गी,
त्वां बान्धवमपहाय, पालय० ।।137।।

अर्थ :- यह धर्म बन्धुरहित का बन्धु है और असहाय व्यक्ति के लिए सहायभूत है । आप जैसे बन्धु का त्याग करने वाले इस भीषण संसार में चारों ओर भटकते हैं ।।137।।

विवेचन

संसार में धर्म ही सच्चा सहायक है

इस भयंकर संसार में आत्मा का सच्चा बन्धु एकमात्र धर्म ही है । दुनिया के अन्य संबंध तो स्वार्थजन्य हैं । अवसर आने पर सगी माँ भी पुत्र का घात कर सकती है । राज्य के लोभ में पुत्र पिता की भी हत्या कर सकता है ।

धन के लोभ में अमरकुमार की माँ ने अमरकुमार को बलि हेतु सौंप दिया था ।

राज्य-प्राप्ति के लिए कोणिक ने श्रेणिक को भयंकर कारावास में धकेल दिया था ।

पुत्र के मोह में फँसी सहदेवी रानी ने अपने पूर्व पति कीर्तिधरमुनि को तिरस्कारपूर्वक नगर से बाहर निकाल दिया था ।

पूर्व भव की माँ इस जन्म में व्याघ्री बनी और उसने सुकौशलमुनि को चीर-फाड़ दिया था ।

धनश्री स्त्री ने दीक्षित बने अपने पति धनमुनि के चारों ओर लकड़ियों का ढेर कर आग लगा दी थी, जब वे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित थे ।

स्वार्थपूर्ण व्यवहार के सैकड़ों दृष्टान्तों से इतिहास भरा पड़ा है । वास्तव में यह संसार एक मायाजाल ही है, जहाँ मोह के अधीन बनी आत्माएँ स्वजन के वेश में आकर एक-दूसरे के साथ भयंकर मायाचार करती हैं ।

ऐसी विषम परिस्थिति में एकमात्र धर्म ही आत्मा का सच्चा साथी और बन्धु है । सहायता के लिए वह हर पल तैयार रहता है । शर्त यह है कि हम उसे हृदय से स्वीकार करें । जिसने एक बार धर्म के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया, धर्म उसकी सदैव रक्षा करता है ।

भयंकर से भयंकर कुख्यात डाकू, लुटेरे, व्यभिचारी, शिकारी, मांसाहारी तथा शराबी भी जब इस धर्म के चरणों में समर्पित हो जाते हैं, तब वे पापात्मा भी मिटकर महात्मा और यावत् परमात्मा बन जाते हैं ।

धर्म के चरणों में आत्मसमर्पण, यह आत्मोत्थान की सर्वश्रेष्ठ कला है । इस कला के जो अभ्यासी हैं, वे अवश्य ही शाश्वत-मोक्षपद के भोक्ता बनते हैं ।

द्रङ्गति गहनं जलति कृशानुः,
स्थलति जलधिरचिरेण ।
तव कृपयाखिलकामितसिद्धि -
र्बहुना किं नु परेण ?, पालय० ।।138।।

अर्थ :- (हे जिनधर्म ! आपकी कृपा से) गहन जंगल नगर बन जाते हैं, अग्नि जल बन जाती है और भयंकर सागर भी पृथ्वी में बदल जाता है । आपकी कृपा से सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं । अतः अब दूसरों से क्या ? ।।138।।

विवेचन

धर्म का प्रत्यक्ष-प्रभाव

धर्म के माहात्म्य का गान करने में कौन समर्थ है ? अरे ! इस धर्म के प्रभाव से तो भयंकर जंगल भी नगर में रूपान्तरित हो जाते हैं । अग्नि की भीषण ज्वालाएँ भी शीतल जल में परिवर्तित हो जाती हैं, विशाल सागर पृथ्वी में बदल जाता है ।

सीता के सतीत्व की परीक्षा के लिए रामचन्द्रजी ने अग्निपरीक्षा का निर्णय लिया था । नगर के बाहर हजारों की संख्या में प्रजाजन एकत्र हो चुके थे और योग्य भूमि पर अग्निकुण्ड की रचना भी तैयार हो गई थी ।

सीता अग्नि-प्रवेश के लिए तैयार थी..... उसे अपने सतीत्व पर पूर्ण आत्म-विश्वास था..... उसने परमेष्ठि-भगवन्तों का शरण स्वीकार किया..... जिनधर्म का शरण स्वीकार किया और तत्क्षण अग्नि में प्रवेश कर दिया । सीता के अग्निप्रवेश के समय चारों ओर हाहाकार मच गया था । अब क्या होगा ? क्या सीता बच जाएगी ? सीता जल तो नहीं जाएगी ? इत्यादि प्रश्न उपस्थित जनसमुदाय के मस्तिष्क में घूम रहे थे । किन्तु एक ही क्षण में जब वह अग्निकुण्ड सरोवर में बदल गया और उस सरोवर के मध्य में सुन्दर कमल पर लक्ष्मी की भाँति बैठी हुई सीताजी को सबने देखा..... तो सीता के सतीत्व के जय-जयकार के साथ सम्पूर्ण आकाश-मण्डल गूँज उठा था ।

हाँ, यह सती सीता के शीलधर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव था, जिससे आग की लपटें सीता के देह का स्पर्श भी न कर पाईं और जल में बदल गईं ।

धर्म के प्रभाव से जंगल में मंगल होता है । **'जहाँ राम वहाँ अयोध्या ।'** रामचन्द्रजी जहाँ-जहाँ पधारते थे, वहीं अयोध्या खड़ी हो जाती थी, यह उनके धर्म का ही पुण्य प्रभाव था ।

मलयसुन्दरी, सुरसुन्दरी आदि अनेक सतियाँ समुद्र में गिर पड़ी थीं, धवल सेठ ने श्रीपाल महाराजा को समुद्र में फेंक दिया था, किन्तु उनके साथ धर्म होने से समुद्र भी उनको डुबोने में असमर्थ था । समुद्र भी उनके लिए पृथ्वी के समान ही था ।

धर्म के प्रभाव से सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं ।

एक धर्म ही मेरी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है, तो मुझे अन्य के आश्रय से क्या काम है ।

कृष्ण में मस्त बनी मीरा गाती थी न ? **'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।'**

बस, जिसे धर्म में सर्वस्व की बुद्धि हो गई है, वह अब अन्य के पास कैसे दौड़ सकता है ?

इह यच्छसि सुखमुदितदशाङ्गं,
प्रेत्येन्द्रादि-पदानि ।
क्रमतो ज्ञानादीनि च वितरसि,
निःश्रेयस-सुखदानि, पालय० ।।139।।

अर्थ :- (हे जिनधर्म !) इस लोक में आप दसों प्रकार से वृद्धिंगत सुख प्रदान करते हो । परलोक में इन्द्र आदि के महान् पद प्रदान करते हो और अनुक्रम से मोक्षसुख प्रदान करने वाले ज्ञानादि भी प्रदान करते हो ।।139।।

विवेचन

धर्म ही समस्त सुखों का कारण है

धर्म जीवात्मा को दुःख में से मुक्त कर शाश्वत सुख की ओर ले जाता है । पाप के अधीन बनकर तो आज तक आत्मा ने भयंकर से भयंकर दुःखों का अनुभव किया है ।

अपनी आत्मा ने इस भयंकर संसार में जिन-जिन दुःखों का, वेदनाओं का अनुभव किया है, उसका वर्णन करने में कौन समर्थ है ? यावत् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी अपनी वाणी से उन दुःखों का वर्णन करने में समर्थ नहीं है ।

नरक की भयंकर वेदना..... निगोद की वह बेहोशी की हालत, तिर्यंच के भव की मारपीट-कत्ल आदि की वेदना..... मानवभव में भी भूख-प्यास-गरीबी-भुखमरी-निर्धनता..... की वेदना का कोई पार नहीं ।

दुःख के दाग से कलंकित आत्मा के भयंकर भूतकालीन इतिहास को

सुख की ज्योति में रूपान्तरित करने का श्रेय धर्म को ही है । भले ही आत्मा का भूतकाल भयंकर पापों से कलंकित बना हो..... किन्तु जब से जिस आत्मा ने अपने आपको धर्म के चरणों में समर्पित कर दिया, तभी से उस धर्म ने आत्मा को सुख के नन्दनवन में प्रवेश दिला दिया ।

आज तक जिन-जिन आत्माओं ने मुक्तिपद प्राप्त किया है, उनके अन्तिम 3-5-8-10-15-20 भवों को छोड़कर शेष भवों का निरीक्षण करेंगे तो ज्ञात होगा कि वे कितनी भयंकर दुर्दशा की भागी थीं किन्तु जब से उन आत्माओं ने जिनशासन के चरणों में समर्पण कर दिया, तब से उनकी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि बढ़ती ही गई ।

विशुद्ध धर्म अर्थात् पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से प्राप्त भौतिक समृद्धि की यह विशेषता होती है कि जीवात्मा उसमें आसक्त नहीं बनती है और निमित्त मिलते ही छह खण्ड के राज्य को भी तृणवत् त्याग देती है । धर्म की यह विशेषता है कि वह अल्प त्याग में अधिक लाभ प्रदान करता है ।

शालिभद्र ने पूर्व भव में भाव से खीर का दान दिया था, उसके फलस्वरूप धर्म ने श्रेणिक महाराजा से भी बढ़कर उसे समृद्धि प्रदान की और इसके साथ ही उस समृद्धि के त्याग का भी सामर्थ्य प्रदान किया ।

शालिभद्र ने अपनी समस्त सम्पत्ति का त्याग कर दिया तो धर्म ने उसे अनुत्तर विमान का दिव्य सुख प्रदान किया ।

व्यक्ति ज्यों-ज्यों सुख का त्याग करता है, धर्म उसे उत्तरोत्तर सामग्री प्रदान करता जाता है और अन्त में शाश्वत-अजरामर पद भी प्रदान करता है । आत्मा की अखूट सम्पत्ति केवलज्ञान और केवलदर्शन और अव्याबाध सुख का दान, यही धर्म करता है ।

सर्वतन्त्र - नवनीत - सनातन,
सिद्धिसदनसोपान ।
जय जय विनयवतां प्रतिलम्भित-
शान्तसुधारसपान, पालय० ।।140।।

अर्थ :- हे सर्वतन्त्रों में नवनीत समान !

हे सनातन !
हे मुक्ति मंजिल के सोपान !
हे विनयजनों को प्राप्त शान्त अमृत रस के पान !
(हे जिनधर्म) आपकी जय हो ! जय हो !! ।।140।।

विवेचन

जिनधर्म की विशेषताएँ

जिनेश्वर का धर्म अनेक विशेषताओं से युक्त है-

(1) **सर्वतंत्र नवनीत :-** तंत्र अर्थात् शासन-व्यवस्था । दुनिया में धर्म के नाम पर अनेक तंत्र हैं । सभी तंत्रों में जिनशासन नवनीत समान है । जिस प्रकार दूध का सार मक्खन है, उसी प्रकार विश्व में सभी धर्मों में सारभूत जिनेश्वर का धर्म ही है ।

(2) **सनातन :-** जिनधर्म की कोई आदि नहीं है । अनादिकाल से जिनधर्म चला आ रहा है और अनन्तकाल तक इसका अस्तित्व रहेगा । यह जिनशासन त्रिकाल-अबाधित शासन है । दुनिया की कोई शक्ति या दर्शन इसे कुण्ठित नहीं कर सकता है ।

(3) **सिद्धिसदन सोपान :-** जिस प्रकार मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार मुक्ति-मंजिल पर पहुँचने के लिए चौदह गुणस्थानक चौदह सीढ़ियों का काम करते हैं । जीवात्मा ज्यों-ज्यों जिनधर्म का आश्रय करती है, त्यों-त्यों वह उत्तरोत्तर गुणस्थान पर आरूढ़ बनती जाती है और अन्त में मोक्षपद को प्राप्त करती है ।

(4) **शान्त सुधारस पान :-** यह जिनधर्म प्रशान्त अमृत रस के पान तुल्य है । अमृत के पान से आत्मा भी अमृत बनती है । यह जिनधर्म आत्मा के लिए शान्तरस लेकर आया है । इस प्रशमरस का पान करने से आत्मा भी शाश्वत अमृत स्वरूप बन जाती है ।

उपर्युक्त विशेषणों से युक्त हे जिनधर्म ! आप हमारा पालन करो, रक्षण करो ।

11 लोकस्वरूप भावना

सप्ताऽधोऽधो विस्तृता याः पृथिव्य-
श्छत्राकाराः सन्ति रत्नप्रभाद्याः ।
ताभिः पूर्णो योऽस्त्यधोलोक एतौ,
पादौ यस्य व्यायतौ सप्तरज्जूः ।।141।।

(शालिनी)

अर्थ :- नीचे-नीचे विस्तार पाने वाली, छत्र के आकार वाली रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ हैं और उनसे परिपूर्ण सात राजलोकप्रमाण अधोलोक है; जो इस लोक-पुरुष के दो पैर समान है ।।141।।

विवेचन

अधोलोक का स्वरूप

इस भावना के अन्तर्गत चौदह राजलोक प्रमाण अति विस्तृत विश्व के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए ।

प्रश्न खड़ा हो सकता है कि आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लोक-स्वरूप की भावना की क्या उपयोगिता है ?

समाधान यह है कि लोकस्वरूप के चिन्तन से हमें दुनिया के विस्तृत स्वरूप का परिचय मिलता है और इस विराट् दुनिया के परिचय से आत्मा में धन, वैभव, राज्य, सत्ता आदि का रहा हुआ अभिमान दूर होता है ।

इस सन्दर्भ में एक प्रसंग याद आ जाता है–

- बम्बई के गोरेगाँव क्षेत्र के जवाहरनगर में एक करोड़पति सेठ रहता था । उस सेठ ने अपने आवास के लिए सात मन्जिल का आलीशान बंगला बनवाया । आधुनिक फर्नीचर और साज-सज्जा से अलंकृत बैठक खण्ड था । मकान में रेडियो, टी. वी., टेलीफोन, एयर कण्डीशनर आदि की अनेकविध सुविधाएँ थीं । इस वैभव और विलास में मस्त फकीरचन्द सेठ अपनी बाह्य समृद्धि को देख फूले नहीं समाते थे । सदैव उनके मुख पर अपने वैभव का दर्प दिखाई देता था । सेठजी के घर पर जो भी बाहर से मेहमान आते, सेठजी उनके समक्ष अपने वैभव का प्रदर्शन किए बिना नहीं रहते ।

एक दिन सेठजी ने एक तपस्वी संन्यासी को अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रण दिया ।

सेठजी ने अत्यन्त आदर-सत्कार से संन्यासी का स्वागत किया और अत्यन्त उत्साह से उन्हें भोजन कराया ।

भोजन-समाप्ति के बाद सेठजी अपने बैठक खण्ड में आए, जहाँ हर प्रकार की सुख-सुविधाएँ थीं ।

थोड़ी इधर-उधर की बातचीत के बाद सेठजी ने अपने वैभव के प्रदर्शन की टेप चालू कर दी ।

संन्यासी सेठजी की बात ध्यानपूर्वक सुन रहे थे । सेठजी की बात सुनकर उन्होंने सोचा, सेठजी व्यर्थ ही अपनी तुच्छ सम्पत्ति का अभिमान कर रहे हैं, इन्हें सत्य का बोध अवश्य कराना चाहिए ।

संन्यासी ने पास में ही खड़े एक बालक को पूछा-``तू कौनसी कक्षा में पढ़ता है ?'' बालक बोला-``मैं मैट्रिक में पढ़ता हूँ ।''

संन्यासी-``क्या तुम भूगोल भी पढ़ते हो ?'' उसने कहा ``हाँ, जी ।''

``तो तुम्हारे पास विश्व का नक्शा-एटलस होगा ?''

``हाँ ! जी ।''

संन्यासी ने उससे विश्व का नक्शा माँगा । उस विद्यार्थी ने विश्व का नक्शा लाकर संन्यासी को दे दिया ।

संन्यासी ने सेठ को कहा-``विश्व के इस नक्शे में भारत कहाँ है ?''

सेठ ने एशिया खण्ड में भारत का स्थान बता दिया ।

पुनः संन्यासी ने पूछा-``इसमें महाराष्ट्र कहाँ है ?''

सेठ ने एक छोटा सा स्थान दिखलाते हुए कहा-``यह महाराष्ट्र होना चाहिए ।''

``..... और इसमें बम्बई कहाँ है ?''

सेठ ने एक बिन्दु तुल्य स्थान बताते हुए कहा-``यह बम्बई है ।''

संन्यासी ने पुनः पूछा-``और इस बम्बई में गोरेगाँव कहाँ है ?''

सेठ ने कहा-``इस नक्शे में गोरेगाँव तो नहीं दिख रहा है ।''

``तो फिर जवाहरनगर दिखता है ?''

जवाब मिला-``नहीं ।''

``आपका मकान ?''

``नहीं ।''

सेठ तुरन्त ही इन प्रश्नों के रहस्य को समझ गए । शर्मिन्दा होकर बोले-``आज आपने मुझे अपनी वास्तविक स्थिति का भान कराया है ।''

संन्यासी ने कहा-``सेठजी ! जब इस दृश्यमान विश्व में भी अपना कोई स्थान दिखाई नहीं दे रहा है तो फिर इस विराट् ब्रह्माण्ड में अपना क्या स्थान है ? अतः इन तुच्छ सम्पत्तियों का अभिमान करना व्यर्थ है ।''

लोकस्वरूप भावना के चिन्तन के अन्तर्गत यह घटना हमें बहुत कुछ सिखाती है । सामान्यतः यह देखा जाता है कि जब व्यक्ति को थोड़ी सी बाह्य भौतिक सम्पत्ति मिल जाती है, तब उसे तुरन्त अभिमान का नशा चढ़ जाता है और वह यह मानने लगता है कि इस दुनिया में मैं भी कुछ हूँ । (I am something).

परन्तु जब **'लोकस्वरूप भावना'** के चिन्तन द्वारा विराट् विश्व का हमें पता चलता है, तब हमें अपनी कूप-मण्डूकता पर हँसी ही आती है ।

अब ग्रन्थकार महर्षि की लोकस्वरूप भावना में डूब जायें । जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व अनन्त है । इसका पार पाना असम्भव है । इस सम्पूर्ण लोक को दो भागों में बाँटा गया है- (1) लोक और (2) अलोक ।

जिस क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा कालद्रव्य का अस्तित्व है, उसे **'लोक'** कहते हैं और जहाँ केवल आकाशद्रव्य ही है, अन्य सभी द्रव्यों का अभाव है, उसे अलोक कहते हैं ।

इस लोकस्वरूप भावना के अन्तर्गत **'लोक'** का ही वर्णन किया गया है ।

यह सम्पूर्ण लोक 14 राज (एक माप) प्रमाण होने से इसे 14 राजलोक भी कहते हैं ।

इस सम्पूर्ण लोक को सरलता के लिए तीन भागों में बाँटा जा सकता है-(i) अधोलोक, (ii) तिर्च्छालोक और (iii) ऊर्ध्वलोक ।

अधोलोक सात राजलोक प्रमाण है, तिर्च्छालोक 1800 योजन प्रमाण है और ऊर्ध्वलोक सात राजलोक प्रमाण है ।

संभूतला सात पृथ्वी से 900 योजन नीचे जाने के बाद अधोलोक का प्रारम्भ होता है । इसमें सात नरक-भूमियाँ आई हुई हैं–

(1) **रत्नप्रभा :-** प्रथम नरक का नाम रत्नप्रभा है । इस पृथ्वी का पिंड एक लाख अस्सी हजार योजन है । इस नरकभूमि का प्रथम खण्ड रत्न से भरपूर होने से इस पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा है । इसमें रहने वाले नारकों की जघन्य स्थिति 10,000 वर्ष है और उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है ।

इस रत्नप्रभा के तीन काण्ड (भाग) हैं । पहला भाग 16000 योजन का है, जिसमें रत्नों की बहुलता है, दूसरा भाग 84000 योजन का है, जिसमें कीचड़ की बहुलता है और तीसरा भाग 80,000 योजन का है, जिसमें जल की बहुलता है । इस नरक-भूमि के 13 प्रतर हैं, जिसमें 30 लाख नरकावास हैं ।

इस पृथ्वी का नाम घर्मा है ।

(2) **शर्कराप्रभा :-** कंकड-पत्थर की बहुलता के कारण इस नरक का नाम शर्कराप्रभा है । इसकी ऊँचाई एक राजलोक प्रमाण है । इस नरक में दूसरी नरक-भूमि के जीव रहते हैं । इस नरक के कुल 11 प्रतर हैं, जिनमें पच्चीस लाख नरकावास हैं । इस पृथ्वी का पिंड 1 लाख 32 हजार योजन है । इस नरक के नारकों का जघन्य आयुष्य एक सागरोपम व उत्कृष्ट आयुष्य 3 सागरोपम है । इस नरक-पृथ्वी का नाम वंसा है ।

(3) **वालुकाप्रभा :-** इस नरक में बालू-रेती की अधिकता होने से इसे वालुकाप्रभा कहते हैं । इस नरक-पृथ्वी का पिंड एक लाख अट्ठाईस हजार योजन का है और कुल ऊँचाई एक राजलोक प्रमाण है । इस नरक-पृथ्वी का नाम **'शैला'** है । इसमें कुल 6 प्रतर और 15 लाख नरकावास हैं । इस नरक के नारकों का जघन्य आयुष्य तीन सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 7 सागरोपम का है ।

(4) **पंकप्रभा :-** कीचड़ की बहुलता होने से इस पृथ्वी का नाम पंकप्रभा है । यहाँ चौथे नरक के जीव रहते हैं । इस नरक-पृथ्वी के पिंड की मोटाई एक लाख बीस हजार योजन है, इसमें कुल सात प्रतर और दस लाख नरकावास हैं । यहाँ के नारकों का जघन्य आयुष्य 7 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 10 सागरोपम है । इस नरक का नाम **'अंजना'** है ।

5) **धूमप्रभा :-** धुएँ की बहुलता होने के कारण इस पृथ्वी का नाम धूमप्रभा है । इस पृथ्वी का पिंड 1 लाख 18 हजार योजन का है । यहाँ 5 वीं नरक के जीव रहते हैं । इस पृथ्वी में पाँच प्रतर और तीन लाख नरकावास हैं । यहाँ के नारकों का जघन्यआयुष्य 10 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 17 सागरोपम है ।

इस नरक का नाम **'रिष्टा'** है ।

(6) **तमःप्रभा :-** अन्धकार की बहुलता के कारण इस पृथ्वी का नाम तमःप्रभा है । यहाँ छठे नरक के जीव रहते हैं । इस पृथ्वी का पिण्ड 1 लाख 16 हजार योजन का है । इसमें कुल तीन प्रतर और 99995 नरकावास हैं । यहाँ के नारकों का जघन्य आयुष्य 17 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 22 सागरोपम है । इस नरक का नाम `मघा' है ।

(7) **तमस्तमःप्रभा :-** यहाँ घनघोर अन्धकार होने से इस पृथ्वी का नाम तमस्तमःप्रभा है । इस पृथ्वी का पिण्ड 1 लाख 8 हजार योजन है । इसमें एक प्रतर और पाँच नरकावास हैं । यहाँ के नारकों का जघन्य आयुष्य 22 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 33 सागरोपम है ।

ये सभी नरक अधो-अधो (नीचे-नीचे) छत्राकार रूप में हैं । इन सातों नरकों की चौड़ाई क्रमशः बढ़ती जाती है । सातवीं नरक-भूमि की चौड़ाई 7 राजलोक प्रमाण है । सातवीं नरक के बाद घनोदधि, घनवात और तनवात आता है और उसके बाद अलोक का प्रारम्भ हो जाता है ।

वेदना :- तीव्र अशाता के उदय से इस पृथ्वीतल पर मनुष्य अथवा तिर्यंच को जो वेदना होती है, उससे अनन्तगुणी वेदना पहली नरक में है और उससे अनेक गुणी पीड़ा दूसरी नरक में है, इस प्रकार पीड़ा क्रमशः बढ़ती ही जाती है ।

नरक के जीवों को तीन प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं–

(1) **क्षेत्रज वेदना :-** नरक के जीवों को क्षेत्रजन्य 10 प्रकार की वेदनाएँ होती हैं- (1) भयंकर शीत (2) भयंकर गर्मी (3) अत्यन्त क्षुधा (4) अत्यन्त तृषा (5) अत्यन्त खाज (6) पराधीनता (7) ताप (8) दाह (9) भय और (10) शोक की घोर पीड़ाएँ नरक के जीव प्रतिक्षण भोगते हैं ।

पौष मास की कड़कड़ाहट की ठण्डी में हिमालय पर्वत पर कोई व्यक्ति जिस ठण्डी का अनुभव करता है, उससे अनन्त गुणी ठण्डी नरक का जीव अनुभव करता है । अग्नि के भयंकर ताप से भी अधिक भयंकर गर्मी वहाँ पर है । अत्यन्त भूख और प्यास से वे पीड़ित होते हैं ।

2. **पारस्परिक :-** नरक में रहे सम्यग्दृष्टि जीवों को अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंगज्ञान होता है । मिथ्यादृष्टि आत्माएँ अपने ज्ञान का उपयोग अपने शत्रु की पहिचान में ही करती हैं और वे सदैव एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाते रहते हैं ।

3. **परमाधामी कृत :-** प्रथम तीन नरक तक परमाधामी-देव नरक के जीवों को भयंकर त्रास देते रहते हैं । 15 प्रकार के परमाधामीदेव छेदन-भेदन आदि के द्वारा नरक के जीवों को सतत पीड़ा पहुँचाते रहते हैं ।

मिथ्यात्व, महा-आरंभ, परिग्रह, तीव्र क्रोध, दुराचार तथा रौद्रध्यान आदि से जीवात्मा नरक के आयुष्य का बंध करता है ।

भवनपति :- पहली नरक के 13 प्रतरों के बीच जो 12 अन्तराल स्थल हैं, उसमें प्रथम और अन्तिम अन्तराल को छोड़कर शेष 10 अन्तरालों में भवनपति निकाय के देव रहते हैं ।

ऊपर के 1000 योजन में प्रथम और अन्तिम 100-100 योजन को छोड देने पर जो शेष 800 योजन हैं, उनमें व्यन्तर-देवों के निवास हैं तथा ऊपर के 100 योजन में पुनः प्रारम्भ व अन्त के 10-10 योजन निकाल देने पर जो 80 योजन का क्षेत्र है, उसमें 8 वाणव्यन्तर के निवासस्थल हैं ।।1।।

तिर्यग्लोको विस्तृतो रज्जूमेकां,
पूर्णो द्वीपैरर्णवान्तैरसंख्यैः ।
यस्य ज्योतिश्चक्रकाश्चीकलापं,
मध्ये कार्श्यं श्रीविचित्रं कटित्रम् ।।142।।

(शालिनी)

अर्थ :- असंख्य द्वीप-समुद्रों से परिपूर्ण एक राजलोक विस्तार वाला तिर्च्छालोक है, जिसमें ज्योतिषचक्र लोकपुरुष के कटिप्रदेश पर सुशोभित मेखला के समान है ।।142।।

विवेचन

तिर्च्छालोक का स्वरूप

तिर्च्छालोक :- तिर्च्छालोक अर्थात् तिर्यक्लोक की ऊँचाई 1800 योजन की है और इसकी चौड़ाई (व्यास) एक राजलोक प्रमाण है । इसके मध्य में मेरुपर्वत आया हुआ है, जिसकी ऊँचाई एक लाख योजन की है । मेरुपर्वत का मूल 1000 योजन का है और पृथ्वी पर ऊँचाई 99000 योजन है । संभूतला पृथ्वी की चारों दिशाओं के चार रुचक प्रदेश हैं । ऊपर-नीचे इस प्रकार गिनने से आठ रुचक प्रदेश हैं, इनसे 900 योजन नीचे और 900 योजन ऊपर का क्षेत्र तिर्च्छालोक कहलाता है ।

यह मेरुपर्वत जम्बूद्वीप में आया हुआ है, जो थाली के आकार का है, जिसका व्यास 1 लाख योजन है । जम्बू द्वीप के चारों ओर दो लाख योजन के व्यास वाला वलयाकार लवण-समुद्र है । उस लवणसमुद्र के चारों ओर चार लाख योजन के विस्तार वाला धातकी खण्ड है, उसके चारों ओर आठ लाख योजन के विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है और उसके चारों ओर 16 लाख योजन के विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है । उस पुष्कर द्वीप के 8 लाख योजन के बाद चारों ओर वलयाकार रूप में मानुषोत्तर पर्वत आया हुआ है । उस मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर का (45 लाख योजन प्रमाण) क्षेत्र मनुष्यलोक कहलाता है । मनुष्य की उत्पत्ति इन्हीं ढाई द्वीप के अन्तर्गत होती है ।

पुष्कर द्वीप के चारों ओर पुनः समुद्र है । इस प्रकार वलयाकार रूप में एक द्वीप और एक समुद्र आया हुआ है । इस प्रकार तिर्च्छालोक में कुल

असंख्य द्वीप और समुद्र हैं । ये द्वीप और समुद्र अपने पूर्व के द्वीप या समुद्र की अपेक्षा दुगुने-दुगुने व्यास वाले हैं । सबसे अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र आता है, जिसका व्यास अर्द्ध राजलोक प्रमाण है ।

जम्बूद्वीप, धातकी खंड और पुष्करार्द्ध द्वीप रूप ढाई द्वीप में 15 कर्मभूमियाँ आई हुई हैं, यहाँ से मोक्षमार्ग सम्भव है । इसके साथ 30 अकर्मभूमियाँ और 56 अन्तर्द्वीप भी हैं, जहाँ युगलिक मनुष्य रहते हैं । ढाई द्वीप में 5 भरत, 5 ऐरवत और 5 महाविदेह क्षेत्र आए हुए हैं । महाविदेह क्षेत्र में सदैव मोक्षमार्ग चालू है, जबकि भरत और ऐरवत क्षेत्र में 1 कालचक्र (20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम) में मात्र दो कोटा कोटी सागरोपम तक ही धर्म रहता है अर्थात् तीसरे और चौथे आरे में ही धर्म रहता है ।

ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है और न ही मोक्ष होता है । वहाँ सूर्य-चन्द्र भी स्थिर हैं ।

जम्बू द्वीप के मध्य में मेरुपर्वत आया हुआ है, जिसके पंडकवन में तीर्थंकर भगवंतों के जन्म का महोत्सव (देवताओं द्वारा) मनाया जाता है । ढाई द्वीप में कुल 132 सूर्य और 132 चंद्र हैं ।

इस पृथ्वीतल से 780 योजन ऊपर जाने पर ज्योतिष चक्र आता है । ये सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे 120 योजन के अन्दर रहे हुए हैं ।

लोकोऽथोर्ध्वे ब्रह्मलोके द्युलोके,
यस्य व्याप्तौ कूर्परौ पञ्चरज्जू ।
लोकस्याऽन्तो विस्तृतो रज्जुमेकां,
सिद्धज्योतिश्चित्रको यस्य मौलिः ।।143।।

(शालिनी)

अर्थ :- उसके ऊपर ब्रह्मदेवलोक तक पाँच राजलोकप्रमाण का भाग लोकपुरुष के विस्तृत दो हाथों की कोहनी समान है तथा एक राजलोक प्रमाण विस्तृत लोक के अन्त भाग में सिद्धशिला के प्रकाश से सुशोभित उसका मुकुट है ।।143।।

विवेचन

ऊर्ध्वलोक का स्वरूप

ऊर्ध्वलोक :- तिच्छ्र्लोक को पार करने के बाद असंख्य योजन ऊपर जाने पर सर्वप्रथम पहला और दूसरा वैमानिक देवलोक आता है, जिसे सौधर्म और ईशान देवलोक कहते हैं। इन देवों के निवास-स्थल विमान होने से वे वैमानिक कहलाते हैं। इनमें दो प्रकार की देवियाँ होती हैं-परिगृहीता और अपरिगृहीता । इन दो देवलोक में मनुष्यवत् मैथुन भी होता है । सौधर्म देवलोक में 32 लाख और ईशान देवलोक में 28 लाख विमान हैं। सौधर्म देवलोक का जघन्य आयुष्य 1 पल्योपम और उत्कृष्ट आयुष्य दो सागरोपम है तथा ईशान देवलोक के देवों का जघन्य आयुष्य 1 पल्योपम से कुछ अधिक है तथा उत्कृष्ट आयुष्य दो सागरोपम से कुछ अधिक है ।

किल्बिषिक :- पहले-दूसरे देवलोक के नीचे किल्बिषिक देवों के विमान हैं। ये देव हल्की जाति के कहलाते हैं। इन देवों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम है ।

किल्बिषिक :- पहले-दूसरे देवलोक के ऊपर दूसरे किल्बिषिक के विमान हैं। इनका उत्कृष्ट आयुष्य तीन सागरोपम है ।

3-4. **सनत्कुमार-माहेन्द्र :-** सनत्कुमार देवलोक में 12 लाख विमान हैं। इनका जघन्य आयुष्य दो सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 7 सागरोपम है। ये देव स्पर्श कर मैथुन सेवन करते हैं ।

माहेन्द्र देवलोक में 8 लाख विमान हैं। इन देवों का जघन्य आयुष्य 2 सागरोपम से अधिक और उत्कृष्ट आयुष्य 7 सागरोपम से अधिक है ।

5. **ब्रह्मदेवलोक :-** इस देवलोक में चार लाख विमान हैं। इन देवों का जघन्य आयुष्य 7 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 10 सागरोपम है ।

किल्बिषिक :- ब्रह्मदेवलोक के ऊपर और लान्तक देवलोक के नीचे तीसरे किल्बिषिक देवों के विमान हैं। उनका उत्कृष्ट आयुष्य 13 सागरोपम है।

6. **लान्तक :-** ब्रह्मदेवलोक के ऊपर छठा लान्तक देवलोक आया हुआ है। इस लान्तक देवलोक में 50,000 विमान हैं। यहाँ के देवों का जघन्य

आयुष्य 10 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 14 सागरोपम है । ये देव, देवी के रूप को देखकर तृप्त हो जाते हैं ।

नौ लोकान्तिक :- पाँचवें ब्रह्मदेवलोक के पास नौ लोकान्तिक देवविमान आए हुए हैं । तीर्थंकर परमात्मा की दीक्षा के 1 वर्ष पूर्व ये देव आकर प्रभु से तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना करते हैं, ये देव एकावतारी होते हैं ।

7. **महाशुक्र :-** छठे देवलोक पर महाशुक्र नामक सातवाँ वैमानिक देवलोक आया हुआ है । इस देवलोक में 40,000 विमान हैं । यहाँ के देवों का जघन्य आयुष्य 14 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 17 सागरोपम है ।

8. **सहस्त्रार :-** महाशुक्र विमान के ऊपर सहस्त्रार नामक आठवाँ देवलोक आया हुआ है । इन देवों का जघन्य आयुष्य 17 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 18 सागरोपम है । पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर अधिक-से-अधिक आठवें देवलोक तक जा सकते हैं ।

9-10. **आनत-प्राणत :-** आठवें देवलोक के ऊपर पास-पास में आनत और प्राणत देवलोक आए हुए हैं । आनत देवों का जघन्य आयुष्य 18 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 19 सागरोपम है तथा प्राणत देवों का जघन्य आयुष्य 19 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 20 सागरोपम है । ये देव मन से ही देवी आदि का स्मरण कर तृप्त हो जाते हैं ।

11-12. **आरण-अच्युत :-** नौवें-दसवें देवलोक के ऊपर आरण और अच्युत देवविमान आए हुए हैं । इन दोनों में 300-300 विमान हैं । आरण देवों का जघन्य आयुष्य 20 सागरोपम और उत्कृष्ट-आयुष्य 21 सागरोपम है तथा अच्युत देवों का जघन्य आयुष्य 21 सागरोपम व उत्कृष्ट आयुष्य 22 सागरोपम है ।

नव ग्रैवेयक :- बारह वैमानिक देवलोक के ऊपर नव (नौ) ग्रैवेयक के ऊपर-ऊपर विमान आए हुए हैं । इन देवों का जघन्य आयुष्य 22 सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य 31 सागरोपम है । अभव्य की आत्मा निरतिचार चारित्र का पालन कर अधिकतम नौ ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकती है ।

पाँच अनुत्तर :- ग्रैवेयक विमानों के बाद पाँच अनुत्तर विमान आते हैं । इन पाँचों अनुत्तर के देव अवश्यमेव समकिती होते हैं । इनके विजय,

वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध नाम हैं । अनुत्तर देवों का जघन्य आयुष्य 31 सागरोपम और उत्कृष्ट-आयुष्य 33 सागरोपम है । अनुत्तरगामी देवों के नरक और तिर्यंचगति के द्वार बंद हो जाते हैं, ये देव अल्प भवों में ही मोक्ष जाने वाले होते हैं ।

5 अनुत्तर से ऊपर 12 योजन जाने पर 45 लाख योजन विस्तार वाली सिद्धशिला आती है, जो स्फटिक रत्नमय है, जो मध्य में 8 योजन मोटी और किनारे पर बिल्कुल मक्खी की पाँख की भाँति पतली है । यह सिद्धशिला उलटे छत्राकार की भाँति है ।

सिद्धशिला के ऊपर एक योजन जाने पर चौदह राज लोक का अग्र भाग आता है जहाँ अनन्त सिद्ध भगवन्त रहे हुए हैं । सिद्ध भगवंतों की जघन्य अवगाहना 1 हाथ 8 अंगुल और उत्कृष्ट अवगाहना 333–1/3 योजन है ।

यो वैशाखस्थानकस्थायिपादः,
श्रोणीदेशे न्यस्त-हस्त-द्वयश्च ।
कालेऽनादौ शश्वदूर्ध्वमत्वाद्,
बिभ्राणोऽपि श्रान्तमुद्रामखिन्नः ।।144।।

(शालिनी)

अर्थ :- लोकपुरुष की स्थिति इस प्रकार है-वह समान रूप से फैलाए हुए पैर वाला, जिसके दोनों हाथ कटिप्रदेश पर रहे हुए हैं और अनादिकाल से जो ऊर्ध्वमुख किए, श्रान्त मुद्रा को धारण करके अखिन्न रूप से खड़ा है ।।144।।

विवेचन

लोकपुरुष की आकृति

यह चौदह राजलोक प्रमाण लोक, लोक-पुरुष की भाँति है, जो अनादि काल से अश्रांत होकर खड़ा है, अनन्त काल तक इसका अस्तित्व बना रहेगा, फिर भी इसमें लेश भी परिवर्तन नहीं होगा ।

दो पैरों को चौड़ा करके तथा दोनों हाथों को कटि पर लगाए हुए पुरुष की भाँति इस चौदह राजलोक की आकृति है । सातवीं नरक का विस्तीर्ण भाग सात राजलोक प्रमाण चौड़ा है । मध्य भाग में इसकी चौड़ाई कम हो जाती

है और मात्र एक राजलोक प्रमाण रहती है । दोनों कुहनियों के स्थान के बीच 5 राजलोक का विस्तार है, जहाँ मध्य में ब्रह्मदेवलोक आया हुआ है । गले के स्थान पर 9 ग्रैवेयक आए हुए हैं और मुख के स्थान पर 5 अनुत्तर । सबसे ऊपर सिद्ध भगवंत आए हुए हैं ।

इस चौदह राजलोक रूप विश्व का कोई कर्त्ता या संहारक नहीं है ।

सोऽयं ज्ञेयः पुरुषो लोकनामा,
षड्द्रव्यात्माऽकृत्रिमोऽनाद्यनन्तः ।
धर्माधर्माकाशकालात्मसंज्ञै-
र्द्रव्यैः पूर्णः सर्वतः पुद्गलैश्च ।।145।।

अर्थ :- यह लोक-नामधारी **'लोक पुरुष'** षड्द्रव्यात्मक, अनादि-अनन्त स्थिति वाला तथा अकृत्रिम है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय से पूर्ण रूप से व्याप्त है ।।145।।

विवेचन

लोक में विद्यमान द्रव्य

इस चौदह राजलोक रूप विश्व में छह द्रव्य रहे हुए हैं ।

1. **धर्मास्तिकाय :-** यह द्रव्य चौदह राजलोक में फैला हुआ है । इसका कार्य जीव और पुद्गल की गति में सहायता करना है ।

जिस प्रकार जल की सहायता से मछली पानी में गति कर सकती है, उसी प्रकार इस द्रव्य की सहायता से जीव व पुद्गल लोक में गति करते हैं । यह द्रव्य अपरिणामी, अमूर्त, सप्रदेशी, अक्रिय, नित्य तथा देशगत है ।

2. **अधर्मास्तिकाय :-** यह द्रव्य भी चौदह राजलोक में फैला हुआ है । यह द्रव्य जड़ और चेतन को स्थिरता में सहायक है । धर्मास्तिकाय की भाँति यह भी अपरिणामी, अमूर्त, सप्रदेशी, अक्रिय, नित्य तथा देशगत है ।
3. **आकाशास्तिकाय :-** यह द्रव्य लोक और अलोक दोनों में रहा हुआ है । यह द्रव्य अन्य सभी द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है । यह द्रव्य अपरिणामी, अमूर्त, सप्रदेशी, अक्रिय, नित्य तथा सर्वगत है ।

5. **पुद्गलास्तिकाय :-** इकट्ठा होना और बिखर जाना यह पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव है। इस दुनिया में जितनी भी भौतिक सामग्रियाँ दिखाई देती हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य से ही निर्मित हैं। पुद्गल द्रव्य परिणामी अर्थात् परिणमनशील है, रूप, रस, गंध और स्पर्श इसके गुण हैं। यह मूर्त, सप्रदेशी और सक्रिय भी है। यह द्रव्य चौदह राजलोक में व्याप्त है।

5. **काल :-** जो नई वस्तु को पुरानी बनाता है, उस द्रव्य को काल द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य अपरिणामी, अमूर्त, अप्रदेशी, नित्य, अक्रिय तथा देशगत है।

6. **जीवास्तिकाय :-** जिसमें चेतना है, उसे जीव कहते हैं। प्रत्येक जीव में असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं। अनेक प्रदेशों के समूह वाला होने से जीव को जीवास्तिकाय भी कहते हैं। इस जीव तत्त्व के संसारी और मुक्त आदि अन्य-2 अपेक्षाओं से अनेक भेद हैं। यह आत्मा अपने कर्म का कर्त्ता है, भोक्ता है तथा कर्म से मुक्त भी बन सकता है।

इस प्रकार यह लोक षड्द्रव्यों से बना हुआ है अथवा उनसे भरपूर है। चौदह राजलोक के चारों ओर अलोक आया हुआ है, जिसका कोई अन्त ही नहीं है, जहाँ एकमात्र आकाश द्रव्य है।

रङ्गस्थानं पुद्गलानां नटानां,
नानारूपैर्नृत्यतामात्मनां च।
कालोद्योगस्व-स्वभावादिभावैः ,
कर्मातोद्यैर्नर्तितानां नियत्या ।।146।।

अर्थ :- नियति, काल, उद्यम और स्वभाव आदि भावों से तथा कर्म रूपी वाद्य यंत्र की सहायता से अनेक रूपधारी नट की तरह जीव और पुद्गलों की यह रंगभूमि है ।।146।।

विवेचन

जीव और पुद्गलों की रंगभूमि

इस चौदह राजलोक में यह जीव नट की भाँति अनादि काल से नाच कर रहा है। नाना प्रकार के पुद्गलों के संग में आकर यह जीव अनेकविध नाटक

खेल रहा है । यह चौदह राजलोक जीव और पुद्गल के नाच की रंगभूमि है । पुद्गल द्रव्य में भी प्रतिसमय परिवर्तन चालू है । कर्म के वशीभूत जीव में भी विविध परिवर्तन चालू ही हैं । कभी यह आत्मा राजा बनकर सब पर अपना हुकम चलाती है तो कभी रंक बनकर सबके सामने दीनता प्रगट करती है । कभी दानवीर बनती है तो कभी भिखारी बनती है । राजा-रंक, गरीब-अमीर, शक्तिशाली-शक्तिहीन तथा पंडित-मूर्ख आदि के अनेक पात्र यह आत्मा इस संसार रूपी रंग-भूमि पर भजती रहती है ।

इस नाटक में काल, स्वभाव, कर्म, नियति और पुरुषार्थ भी काम करते रहते हैं ।

पुद्गल द्रव्य अचेतन होते हुए भी उसमें अत्यधिक शक्ति रही हुई है ।

एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या,
विज्ञानां स्यान्मानसस्थैर्यहेतुः ।
स्थैर्यं प्राप्ते मानसे चात्मनीना-
सुप्राप्यैवाऽऽध्यात्मसौख्य - प्रसूतिः ।।147।।

अर्थ :- इस प्रकार विवेक से लोक स्वरूप-का विचार बुद्धिमान् पुरुष की चित्त की स्थिरता में सहायक होता है । इस प्रकार चित्त को स्थिर करने से आत्महित होता है और अध्यात्मसुख सुलभ बनता है ।।147।।

विवेचन

लोकस्वरूप चिन्तन से मानसिक शान्ति

इस प्रकार विवेकपूर्वक लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है । मन की चंचलता एक बहुत बड़ा दुर्गुण है । आत्मचिन्तन के बिना उसका निराकरण शक्य नहीं है । इस विस्तृत लोकस्वरूप का चिन्तन हमारे मन की स्थिरता में सहायक बनता है । विस्तृत लोकस्वरूप के चिन्तन से हमें यह पता चलता है कि हमारी आत्मा इस विशाल लोक में किस प्रकार भटक रही है । कभी वह मनुष्य के रूप में रही है तो कभी वह पशु चेतना के रूप में । कभी अपनी आत्मा ने देवत्व प्राप्त किया तो कभी वह नारक भी बनी

है । इस प्रकार एक नट की भाँति भ्रमण कर रही अपनी आत्मा ने अनेक रूप किये हैं ।

अपनी आत्मा के भवभ्रमण के चिन्तन से हमें इस संसार के प्रति निर्वेद पैदा हो सकता है । कैसा यह भीषण संसार है ? जहाँ जन्म-मरण की भयंकर कैद में हमारी आत्मा नाना प्रकार की आपत्तियों का ग्रास बनती जा रही है ।

यह संसार वास्तव में दुःख रूप, दुःखफलक और दुःखानुबन्धक ही है । यहाँ का क्षणिक सुख भी भावी भयंकर दुःख का ही कारण बनता है ।

अपनी आत्मा का भूतकाल भयंकर दुःखों में ही व्यतीत हुआ है, इस संसार में मधु-बिन्दु तुल्य कहीं क्षणिक सुख है तो उस सुख के पीछे पुनः दुःख का ही पहाड़ खड़ा हुआ दिखाई देता है ।

इस प्रकार लोकस्वरूप के चिन्तन से मन की स्थिरता प्राप्त होती है और मन की स्थिरता एक बार प्राप्त हो जाय तो उसमें से आत्महितकर अध्यात्म-सुख की प्राप्ति सुलभ हो जाय ।

एकादशभावनाष्टकम्

विनय ! विभावय शाश्वतं,
हृदि लोकाकाशम् ।
सकलचराचरधारणे,
परिणमदवकाशम् । विनय० ।।148।।

अर्थ :- हे विनय ! तू अपने हृदय में शाश्वत लोकाकाश के स्वरूप का विचार कर, जिसमें सकल चराचर पदार्थों को धारण करने का सामर्थ्य रहा हुआ है ।।148।।

विवेचन

लोकाकाश का स्वरूप

पूज्य उपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी महाराज अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि **'हे विनय ! तू इस शाश्वत लोकाकाश का चिन्तन कर ।'**

एक राजलोक के असंख्य योजन होते हैं । यह लोकाकाश चौदह राजलोक प्रमाण है । यह लोकाकाश समस्त धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को अवकाश देता है । आकाश द्रव्य का यह गुण है कि वह अपने आश्रित द्रव्य को रहने के लिए स्थान देता है ।

धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्य इसी लोकाकाश स्वरूप चौदह राजलोक में रहे हुए हैं । इनमें से कुछ द्रव्य परिणामी हैं, कुछ अपरिणामी हैं, कुछ द्रव्य स्थिर हैं, अचर हैं तथा कुछ द्रव्य अस्थिर अर्थात् चर हैं । धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय द्रव्य चौदह राजलोक रूप लोकाकाश में सर्वव्यापी और स्थिर हैं जबकि जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय चर द्रव्य हैं । इस चौदह राजलोक में उनका परिभ्रमण होता रहता है ।

पुद्गलास्तिकाय के सूक्ष्मांश भाग को परमाणु कहते हैं, ऐसे एक-एक परमाणु भी स्वतन्त्र रूप में बिखरे हुए हैं । एक परमाणु में भी रूप-रस-गन्ध और स्पर्श पाए जाते हैं । जब दो-दो परमाणु परस्पर मिलते हैं तो वे **'द्विपरमाणु वर्गणा'** कहलाते हैं, ऐसी भी अनेक वर्गणाएँ चौदह राजलोक में चारों ओर फैली हुई हैं । तीन-तीन परमाणु पुद्गल के समूह से बनी हुई वर्गणा भी चौदह राजलोक में बहुत सी हैं । इस प्रकार चार-पाँच क्रमशः हजार, लाख, असंख्य और अनन्त परमाणु पुद्गलों के समूह से बनी हुई वर्गणाएँ इस चौदह राजलोक में फैली हुई हैं । इनमें से अनेक वर्गणाएँ अग्राह्य अर्थात् जीव के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है और कुछ वर्गणाएँ जीव द्वारा ग्राह्य हैं ।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें (अवस्थाएँ) प्रतिसमय बदलती रहती हैं । उसके रूप-रस-गन्ध-स्पर्श भी परिवर्तनशील हैं । कभी उसका रूप सुन्दर होता है तो कभी वह कुरूप बन जाता है । कभी वह सुगन्धित होता है तो कभी वह अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त बन जाता है ।

अपना शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों का बना हुआ है, उसके रूपादि में होने वाले परिवर्तन हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं ।

इस चौदह राजलोक में अनन्तानन्त आत्माएँ रही हुई हैं, जिन्हें जीवास्तिकाय द्रव्य कहते हैं ।

जीवों के मुख्य दो भेद हैं-मुक्त और संसारी ।

मुक्तात्माएँ चौदह राजलोक के अग्रभाग में अपने पूर्व त्यक्त देह की दो तिहाई अवगाहना में रही हुई हैं । वे आत्मा की शुद्धावस्था को प्राप्त होने से अरूपी अर्थात् अमूर्त हैं । सिद्धात्मा के आत्मप्रदेश अपनी निश्चित अवगाहना में रहे हुए हैं । वे आत्माएँ संसार में पुनः जन्म नहीं लेती हैं, वे तो अपने स्वभाव में सदा के लिए स्थिर हैं । इस दृष्टि से मुक्तात्माएँ अचर अर्थात् स्थिर हैं ।

संसारी आत्माएँ कर्म से बँधी हुई होने के कारण इस संसार में परिभ्रमण करती रहती हैं । उनका इस संसार में कोई एक निश्चित शाश्वत स्थान नहीं है । एक सरकारी कर्मचारी की भाँति थोड़े-थोड़े समय के बाद उनका स्थान-परिवर्तन होता रहता है । एक योनि से दूसरी योनि में, एक गति से दूसरी गति में जीवात्मा परिभ्रमण करती रहती है ।

संसारी जीवों में भी जीवों के मुख्य दो भेद हैं-त्रस और स्थावर । त्रस जीव अपनी इच्छानुसार कहीं जा-आ सकता है, जबकि स्थावर अपनी इच्छानुसार गमनागमन नहीं कर सकता है ।

इस प्रकार इस लोकाकाश में अनेकविध चर और अचर द्रव्य रहे हुए हैं ।

उन सब द्रव्यों को धारण करके यह लोकाकाश, अनादिकाल से अपनी स्थिति में खड़ा है अर्थात् इस लोकाकाश की यह स्थिति अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक भी अपनी इसी स्थिति में रहने वाला है । त्रिकाल स्थायी होने से यह विश्व शाश्वत है ।

लसदलोकपरिवेष्टितं,
गणनातिगमानम् ।
पञ्चभिरपि धर्मादिभिः,
सुघटितसीमानम्, विनय० ।।149।।

अर्थ :- यह लोकाकाश अगणित (असंख्य) योजन प्रमाण वाला है और चारों ओर अलोक से घिरा हुआ है । धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकाय से इसकी मर्यादा नियत बनी हुई है ।।149।।

विवेचन

लोकाकाश का प्रमाण

यह चौदह राजलोक स्वरूप लोकाकाश असंख्य योजन का है । इसकी गणना करना हमारे वश की बात नहीं है । फिर भी विशेष ज्ञान (अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान) के आलम्बन से इसके अन्त को देखा व जाना जा सकता है, परन्तु इस चौदह राजलोक के चारों ओर जो **'अलोक'** रहा हुआ है, उसका तो कोई अन्त ही नहीं है । केवली की दृष्टि में भी वह अनन्त ही है । उसके अन्त को कोई पा नहीं सकता है । चौदह राजलोक के चारों ओर वह अनन्त स्वरूप में विद्यमान है । अनन्त अलोक के आगे तो यह चौदह राजलोक भी सिन्धु में बिन्दु तुल्य ही है ।

अनन्त अलोक के बीज यह लोक दीपक की भाँति सुशोभित है ।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य लोकाकाश में ही विद्यमान हैं, अलोक में नहीं। अलोक में एकमात्र आकाश (Space) है।

मुक्तात्मा सदैव ऊर्ध्वगति करती है, परन्तु उस गति में भी उसे धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता रहती है। मुक्तात्मा चौदह राजलोक से ऊपर उठकर अलोक में नहीं जाती है, इसका एकमात्र कारण अलोक में धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव है।

इस गाथा में ग्रन्थकार महर्षि ने पाँच द्रव्य बतलाए हैं। वे किसी विवक्षा से ही बतलाए गये हैं। कोई आचार्य काल को स्वतंत्र रूप में द्रव्य नहीं मानते हैं। उनके अभिप्राय को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने लोक में पाँच द्रव्य बतलाए हैं।

लोक और अलोक में आकाश द्रव्य तो समान रूप से रहा हुआ है, परन्तु लोक और अलोक का भेद करने वाले ये धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य ही हैं।

ग्रन्थकार ने **'पञ्चभिरपि धर्मादिभिः'** जो कहा है, उससे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल द्रव्य भी ले सकते हैं, क्योंकि ये पांचज द्रव्य ही अलोक और लोक में भेद करने वाले हैं। ये पाँच द्रव्य ही लोक की सीमा को मर्यादित करते हैं।

समवघातसमये जिनैः,
परिपूरितदेहम्।
असुमदणुकविविध-क्रिया-,
गुणगौरवगेहम्, विनय० ॥150॥

अर्थ :- केवली भगवन्त केवली समुद्घात के समय अपने आत्मप्रदेशों से समस्त लोकाकाश को भर देते हैं, यह जीव और पुद्गल की विविध क्रिया के गुण-गौरव का स्थान है ॥150॥

विवेचन

लोकाकाश में जीव-पुद्गल की विभिन्न क्रियाएँ

शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा समस्त घाती (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों का क्षय कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और वीतराग बनती

है । शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा अन्य कर्मों का क्षय कर सकती है । परन्तु आयुष्य कर्म का क्षय नहीं कर सकती है । केवली भगवन्त का आयुष्य निरुपक्रम होता है अर्थात् उनके आयुष्य कर्म पर किसी प्रकार का उपक्रम नहीं लगता है । अपवर्तना आदि करण के द्वारा आयुष्य कर्म को कम नहीं किया जा सकता है ।

देव, नारक, चरमशरीरी, त्रिषष्टिशलाकापुरुष तथा युगलिक आदि का आयुष्य निरुपक्रम होता है तथा अन्य जीवों का आयुष्य सोपक्रम भी हो सकता है । प्रयत्नविशेष से सोपक्रम आयुष्य को कम किया जा सकता है ।

मोक्षगामी केवलज्ञानी आत्मा के आयुष्य कर्म की स्थिति अल्प हो और वेदनीय, नाम व गोत्र कर्म की स्थिति अधिक हो तो उन्हें केवलीसमुद्घात करना पड़ता है ।

केवलीसमुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति को कम किया जाता है । केवलज्ञानी अपने आयुष्य के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में केवलीसमुद्घात रूप विशेष प्रयोग करते हैं । इस प्रयोग में किसी भी प्रकार के कर्मों का बन्ध नहीं होता है, बल्कि कर्मों की निर्जरा ही होती है ।

केवलीसमुद्घात का कुल काल आठ समय का है । इस समुद्घात में केवलज्ञानी आत्मा के समस्त आत्मप्रदेश शरीर में से बाहर निकलते हैं और वे प्रदेश समस्त राजलोक में फैल जाते हैं जिनका क्रम इस प्रकार है-

प्रथम समय में केवलज्ञानी के स्वशरीर प्रमाण चौड़े और ऊर्ध्व-अधोलोक प्रमाण ऊँचे स्वात्मा की दण्डाकृति बनती है ।

दूसरे समय में पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण आत्मा की कपाटाकृति बनती है ।

तीसरे समय में आत्मा की मंथनाकृति बनती है ।

चौथे समय में आत्मा समग्र लोकव्यापी बन जाती है ।

अब पुनःसंहरण की क्रिया प्रारम्भ होती है ।

पाँचवें समय में आत्मा मंथनाकृति में आ जाती है ।

छठे समय में आत्मा कपाटाकृति में आ जाती है ।

सातवें समय में आत्मा दण्डाकृति में आ जाती है और

आठवें समय में आत्मा पुनः स्वदेहस्थ हो जाती है ।

इस प्रकार इस **'केवलीसमुद्घात'** द्वारा केवलज्ञानी आत्मा समस्त राजलोक-व्यापी बन जाती है ।

इस केवली-समुद्घात के प्रयोग द्वारा केवलज्ञानी आत्मा अपने नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति को घटाकर आयुष्य कर्म के तुल्य बना देती है और उस आयुष्य की समाप्ति के साथ समस्त कर्मों का क्षय कर आत्मा शाश्वत अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेती है ।

इस लोकाकाश के जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने ही आत्म-प्रदेश अपनी आत्मा के हैं । लोकाकाश और आत्मा के प्रदेशों की संख्या तुल्य है । कुल आकाश-प्रदेश और आत्म-प्रदेश असंख्य हैं ।

यह लोकाकाश जीव और अजीव (पुद्गल) की विविध क्रियाओं का मन्दिर है । जीव और अजीव के अनेक संयोगवियोग यहाँ होते रहते हैं । इस लोकाकाश में परमाणु भी सतत गतिशील है, उसके भावों में परिवर्तन आता रहता है । जीव की भी स्थिति सर्व काल समान नहीं है । उसकी भी पर्यायें, अवस्थाएँ प्रति समय बदलती रहती हैं ।

एकरूपमपि पुद्गलैः ,
कृतविविधविवर्तम् ।
काञ्चनशैलशिखरोन्नतं,
क्वचिदवनतगर्तम् ।।विनय० ।।151।।
क्वचन तविषमणिमन्दिरै-
रुदितोदितरूपम् ।
घोरतिमिरनरकादिभिः
क्वचनातिविरूपम्, विनय० ।।152।।
क्वचिदुत्सवमयमुज्ज्वलं,
जयमङ्गलनादम् ।
क्वचिदमन्द हाहारवं,
पृथुशोक-विषादम्, विनय० ।।153।।

अर्थ :- यह लोकाकाश एकस्वरूपी होते हुए भी इसमें पुद्गलों के द्वारा विविधता की हुई है । कहीं पर स्वर्ण के शिखर वाला उन्नत मेरुपर्वत है तो कहीं पर अत्यन्त भयंकर खड्डे भी हैं ।।151।।

अर्थ :- कोई स्थल देवताओं के मणिमय मन्दिरों से सुशेभित है तो कुछ स्थल महाअन्धकारमय नरकादि से भी अति भयंकर हैं ।।152।।

अर्थ :- कहीं पर जय-जयकार के मंगल नाद से व्याप्त उत्सवमय उज्ज्वलता है तो कहीं पर भयंकर शोक और विषादयुक्त हाहाकारमय वातावरण है ।।153।।

विवेचन

लोकाकाश की विचित्रता

लोकाकाश अपने स्वरूप में एक समान होने पर भी जीव और पुद्गल की गतिविधियों से उसमें अनेक भेद पड़ते हैं । इस लोकाकाश में कहीं पर एक लाख योजन का स्वर्णिम मेरुपर्वत है, तो कहीं पर भयंकर द्रह भी हैं । कहीं पर वृत्ताकार रजतमय वैताढ्य पर्वत है तो कहीं पर अन्य पर्वत हैं ।

मध्य लोक में असंख्य द्वीप और समुद्र आए हुए हैं, ये द्वीप-समुद्र एक दूसरे से दुगुने-दुगुने व्यास वाले हैं ।

मनुष्य लोक में भी पर्वत, द्रह, वर्षधर क्षेत्र आदि की विविधताएँ हैं ।

लोकाकाश में कहीं पर रत्नमण्डित विशाल विमान भी हैं । भवनपति, व्यन्तर आदि के निवास-स्थान **'भवन'** कहलाते हैं और वैमानिक देवों के निवासस्थान **'विमान'** कहलाते हैं । देवताओं के ये निवासस्थल शाश्वत हैं । देवताओं के ये विमान रत्नमय होने से अत्यन्त प्रकाशमान हैं । वहाँ अन्धकार का नामोनिशान नहीं है । इन्द्रों की सौधर्म-सभा आदि का वर्णन इस कलम से अशक्य ही है ।

मध्यलोक के नीचे अधोलोक आया हुआ है, जहाँ सात नरक हैं । वे नरकभूमियाँ अत्यन्त ही भयानक और रौद्र स्वरूप वाली हैं । कहीं-कहीं पर यह भूमि अत्यन्त ही उष्ण है तो कहीं पर अत्यन्त शीत ।

उन नरकों में नारकी जीव सतत भयंकर दुःखों से पीड़ित होते हैं ।

उनकी क्षुधा कभी तृप्त नहीं होती है ।

भयंकर गर्मी से सन्तप्त होकर जब वे किसी वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय करने जाते हैं, तो उन पर तीक्ष्ण बाणों के समान पत्तों की वृष्टि होती है और उनका शरीर बींध लिया जाता है ।

कभी-कभी परमाधामीदेव उन्हें भयंकर दुर्गन्धमय वैतरणी नदी में डाल देते हैं । नरक के जीवों को तीव्र अशाता वेदनीय का उदय होता है, जिस कर्म के फलस्वरूप वे भयंकर अशाता के भागी बनते हैं । नरक के जीव सतत भय संज्ञा से ग्रस्त होते हैं । परमाधामीदेव छेदन-भेदन के द्वारा उन्हें सतत संत्रस्त करते रहते हैं ।

नरक में सूर्य का प्रकाश न होने से वहाँ घोर अन्धकार छाया रहता है ।

इस प्रकार यह लोकाकाश विविधताओं से भरा पड़ा है ।

लोकाकाश में कहीं पर जीवात्माएँ सुख के महासागर में डूबी हुई हैं तो कहीं पर घोर भयंकर वेदनाओं को सहन कर रही हैं । कहीं पर आनन्द के बाजे बज रहे हैं तो कहीं पर शोक व विलाप के करुण स्वर सुनाई दे रहे हैं ।

कहीं सुख का महासागर है तो कहीं दुःख का महासागर ।

देवलोक में देवताओं को तीव्र पुण्य कर्म का उदय है । अतः वे सुख में डूबे हुए हैं, हजारों वर्षों के कालगमन का भी उन्हें पता नहीं चलता है । देवलोक में जन्म के बाद नाटक चलता है, उस एक नाटक में दो-दो हजार वर्ष का दीर्घकाल व्यतीत हो जाता है, फिर भी उन देवताओं को कुछ पता नहीं चलता है ।

नरक के जीवों को घोर पाप कर्म का उदय है । इस तीव्र पापोदय के कारण वे अत्यन्त ही दुःखी हैं । इस भू-लोक पर मनुष्य और तिर्यंचों की जो भयंकर पीड़ाएँ हैं, उनसे अनन्त गुणी पीड़ाएँ नरक के जीव प्रतिक्षण भोग रहे हैं । उनकी पीड़ाओं का वर्णन करना अशक्य है । एक क्षण भर के लिए भी उन जीवों को शान्ति नहीं है ।

तिर्यंच जीव भी कहाँ सुखी हैं । वे भी भूख-प्यास और मानवीय अत्याचारों से भयंकर दुःखी होते हैं । तीव्र भूख लगी हो किन्तु उनके भाग्य

में भोजन नहीं, तीव्र प्यास लगी हो और उनके भाग्य में पानी नहीं ।

इस संसार में कहीं पर निगोद के जीव सतत जन्म-मरण की भयंकर पीड़ा भोग रहे हैं । अपने एक श्वासोच्छ्वास में तो उनका 17 बार जन्म, 17 बार मरण और 18वीं बार जन्म हो जाता है । एक दो घड़ी के काल में निगोद के जीव के 65536 भव हो जाते हैं ।

निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा के कारण उन जीवों की स्थिति कितनी दयनीय है ? और बेचारे ! वे अव्यवहारराशि के जीव ! अनादिकाल से वे निगोद की भयंकर पीड़ा को ही सहन कर रहे हैं, इतनी पीड़ा सहने के बाद भी उनका तनिक विकास नहीं ! .....और वे अभव्य आत्माएँ !!! कभी भी मुक्ति पाने वाली नहीं हैं और न ही उन्हें कभी मुक्ति की अभिलाषा होने वाली है । अतः उनकी भी स्थिति कितनी दयनीय है ?

इस प्रकार यह संसार जीवों की विचित्र अवस्थाओं से अति दारुण ही है ।

बहुपरिचितमनन्तशो,
निखिलैरपि सत्त्वैः ।
जन्ममरणपरिवर्तिभिः,
कृतमुक्तममत्वैः ।।विनय० ।।154।।

अर्थ :- जन्म-मरण के चक्र में अनन्त बार भ्रमण करने वाले ममता से युक्त जीवों द्वारा यह (लोक) अत्यन्त परिचित है ।।154।।

विवेचन

जीव और जगत् का सम्बन्ध

जैनदर्शन के अनुसार यह संसार अनादि है, इस संसार में जीव अनादि से है, जीव और कर्म का संयोग अनादि से है, मोक्ष अनादि है, मोक्ष का मार्ग अनादि है ।

अनादि के साथ-साथ यह संसार अनन्त भी है । इसका न कोई प्रारम्भ है और न कोई अन्त ।

अपनी आत्मा भी इस संसार में अनादिकाल से है । अनादिकाल से

ही अपनी आत्मा के साथ कर्म का संयोग है । कर्म-संयोग के कारण ही आत्मा का परिभ्रमण चल रहा है ।

इस संसार से हम (हमारी आत्मा) अति परिचित हैं । इस संसार में ऐसा एक भी आकाशप्रदेश नहीं है, जिसका स्पर्श कर हमारी आत्मा ने जन्म और मरण नहीं किया हो । ऐसी एक भी योनि अथवा स्थान नहीं है, जहाँ हमारा जन्म-मरण नहीं हुआ हो । ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसके साथ हमारी आत्मा ने कोई सांसारिक सम्बन्ध नहीं किया हो, अर्थात् हर आत्मा के साथ हमारा हर तरह का सम्बन्ध हुआ है ।

इस संसार में ऐसा कोई पुद्गल-परमाणु नहीं है, जिसका हमारी आत्मा ने उपभोग नहीं किया हो । अनेक बार देवलोक के दिव्य सुखों का भी अनुभव किया है, फिर भी हम उन सुखों से तृप्त कहाँ हैं ?

समुद्र के खारे पानी को पीने से जैसे तृषा कभी शान्त नहीं होती है, बल्कि अधिक ही तीव्र बनती है, उसी प्रकार संसार के सुखों को भोगने पर भी आत्मा कभी तृप्त नहीं बनती है, बल्कि अधिकाधिक पाने की लालसा बढ़ती ही जाती है ।

आत्मा के इस संसार-परिभ्रमण का एकमात्र कारण है-ममत्व । पंचसूत्र में भी कहा है-**'ममत्तं बंधकारणम्'** । ममत्व ही कर्मबन्ध का हेतु है । ममत्व से कर्म का बन्ध होता है और कर्मबन्ध से आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से ग्रस्त बनती है ।

इह पर्यटनपराङ्मुखाः,
प्रणमत भगवन्तम् ।
शान्तसुधारसपानतो,
धृतविनयमवन्तम् ।।विनय० ।।155।।

अर्थ :- इस लोकाकाश में पर्यटन करने से श्रान्त बनी हे भव्यात्माओ ! आप विनय से युक्त बनकर **शान्त सुधारस** का पान कर शरणदाता प्रभु को प्रणाम करो ।।155।।

विवेचन

परमात्मा ही शरण्य है

हे भव्यात्माओ ! इस संसार के परिभ्रमण से यदि आप कंटाल गए हों, यदि यह संसार-भ्रमण आपको खेद रूप लगता हो और आप इस भवबन्धन से मुक्त होना चाहते हों तो हृदय में विनयगुण धारण कर और **शान्त सुधारस** का पान कर जिनेश्वरदेव को प्रणाम करो ।

आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम विनयगुण अनिवार्य है । विनय सर्वगुणों का मूल है ।

'प्रशमरति' ग्रन्थ में **पूज्य उमास्वाति म.** ने कहा है-

``तस्मात् कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ।'' .....इस कारण समस्त कल्याणों का भाजन विनय है ।

अन्यत्र भी कहा है-**'विनयमूलो धम्मो'** धर्म का मूल विनय है । जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष का अस्तित्व टिक नहीं सकता, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म का अस्तित्व रहना असम्भव है ।

विनय सर्व गुणों को खींचने का लौह-चुम्बक है । इस गुण को आत्मसात् करने वाली आत्मा अल्प समय में अपना विकास कर लेती है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि हृदय में विनय गुण धारण करने के बाद **शान्त सुधारस** (अमृतरस) का पान करो ।

शान्त सुधारस अर्थात् अपनी आत्मा को कषायाग्नि से मुक्त कर प्रशमरस में निमग्न होना । कषायों की आग शान्त हुए बिना आत्मा शान्त नहीं बन सकती है और शान्त हुए बिना आत्म-गुणों का विकास सम्भव नहीं है ।

अनादिकाल के कुसंस्कारों के कारण आत्मा में क्रोधादि कषायों की आग रही हुई है, प्रशमरस के निरन्तर अभ्यास से ही उस आग को शान्त किया जा सकता है ।

विनयवन्त और शान्तात्मा ही परमात्म-चरणों में अपना समर्पण कर सकती है ।

जब तक हृदय में क्रोध और मान कषाय की प्रबलता रहेगी तब तक आत्मा प्रभु-चरणों में समर्पण नहीं कर सकेगी ।

भव-बन्धन से मुक्त बनने के लिए भव-बन्धन से मुक्त परमात्मा के प्रति समर्पण अनिवार्य है ।

परमात्मा राग-द्वेष के विजेता हैं और दूसरे को राग-द्वेष के विजेता बनाने वाले हैं । परमात्मा इस संसार-सागर से तीर्ण (तैर चुके) हैं और दूसरों को संसार-सागर से तिराने वाले हैं ।

संसार के इस भीषण अन्धकार में एकमात्र परमेष्ठि-नमस्कार ही एक ऐसी प्रकाश किरण है, जिसे प्राप्त कर आत्मा अपने कल्याण-मार्ग को पा सकती है ।

12 बोधिदुर्लभ भावना

यस्माद् विस्मापयितसुमनः स्वर्गसम्पद्विलासाः,
प्राप्तोल्लासाः पुनरपि जनिः सत्कुले भूरिभोगे ।
ब्रह्माद्वैत - प्रगुणपदवीप्रापकं निःसपत्नं,
तद्दुष्प्रापं भृशमुरुधियः सेव्यतां बोधिरत्नम् ।।156।।

(मंदाक्रान्ता)

अर्थ :- हे सूक्ष्मबुद्धिमान् पुरुषो ! जिस सम्यक्त्व के प्रभाव से देवताओं को भी आश्चर्य हो, ऐसी स्वर्ग सम्पदा का विलास प्राप्त होता है और उस स्वर्ग सम्पत्ति की प्राप्ति से उल्लसित बने प्राणी पुनः विशाल भोगकुल में जन्म पाते हैं, ऐसे असाधारण और परम पद को देने वाले बोधिरत्न की सेवा करो ।।156।।

विवेचन

सम्यग् दर्शन की महत्ता

अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवन्तों ने भव्य जीवों के हित के लिए मोक्षमार्ग की देशना दी है । वह मोक्षमार्ग **'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र'** स्वरूप है । इसे रत्नत्रयी भी कहते हैं ।

ज्ञान और चारित्र का मूल भी सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व ही है। ज्ञान और चारित्र को सम्यग् बनाने वाला सम्यग्दर्शन ही है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का अस्तित्व नहीं रहता है । सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जाता है और चारित्र भी मात्र कायकष्ट गिना जाता है ।

अभव्य की आत्मा 9½ पूर्व तक का अभ्यास कर ले और मक्खी की पाँख को भी पीड़ा न पहुँचे, ऐसे चारित्र का पालन करे, फिर भी उस आत्मा का कल्याण नहीं होता है । ज्ञानियों ने उसके 9½ पूर्व के ज्ञान को भी अज्ञान ही माना है और उसके चारित्र को भी संसारवर्द्धक ही कहा है ।

ज्ञान और चारित्र तभी तारक बनते हैं, जब उनके साथ सम्यग्दर्शन जुड़ा हुआ हो ।

मोक्षमार्ग में विकास की सर्वप्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन ही है ।

बोधिरत्न यह सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व का ही पर्यायवाची नाम है ।

इस अनादि अनन्त संसार में जीवात्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है ।

यह बोधिदुर्लभ भावना हमें सम्यक्त्व की दुर्लभता समझाती है ।

भगवान महावीर परमात्मा ने कहा है-इस संसार में जीवात्मा को चार वस्तुएँ अत्यन्त ही दुर्लभ हैं- (1) मनुष्यत्व (2) धर्मश्रवण (3) धर्मश्रद्धा और (4) संयम ।

इस विराट् संसार में अनन्तानन्त आत्माएँ हैं । यह सम्पूर्ण विश्व सूक्ष्म निगोद के जीवों से ठसाठस भरा हुआ है । इस चौदह राजलोक में निगोद के असंख्य गोले हैं । एक गोले में असंख्य निगोद हैं और एक निगोद में अनन्त-अनन्त जीव रहे हुए हैं ।

चारों गतियों में सबसे कम जीव मनुष्य गति में है । मनुष्यों की संख्या नियत है और उसकी गणना की जा सकती है । मनुष्य से कई गुने नारकी हैं । नारकी असंख्य हैं । नारक से भी देवों की संख्या अधिक है और देवों से भी तिर्यंचों की संख्या अनन्त गुनी है ।

असंख्य सम्यग्दृष्टि देव मनुष्य भव पाने के लिए लालायित हैं ।

सम्यग्दृष्टि देव और नारकी यदि सम्यक्त्व अवस्था में उनके आयुष्य का बन्ध हो तो मरकर मनुष्य ही बनते हैं ।

मनुष्य भव पाने की इच्छा वाले बहुत हैं और उसकी संख्या नियत है ।

ज्ञानियों ने मनुष्य-जीवन की प्राप्ति को अत्यन्त ही दुर्लभ कहा है । दश-दृष्टान्तों के द्वारा उसकी दुर्लभता का वर्णन किया है । दुनिया की अन्य सब सामग्री मिलना सुलभ है, किन्तु मनुष्यभव की प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है ।

मनुष्य-जीवन की प्राप्ति के बाद भी जिनेश्वरदेव के धर्म के श्रवण का अवसर मिलना भी अत्यन्त दुर्लभ है ।

धर्म के श्रवण बिना उस धर्म की श्रद्धा या उस पर आचरण कैसे सम्भव है ?

महान् पुण्य का उदय होने पर ही जिन-धर्म के श्रवण का अवसर मिल सकता है और जिनधर्म के श्रवण के बाद उस पर श्रद्धा होना, उससे भी दुष्कर है । जिनधर्म का श्रवण होने के बाद भी जब तक मोहनीय कर्म का क्षय-उपशम न हो जाय, तब तक उस धर्म की श्रद्धा होना शक्य नहीं है ।

जब तक आत्मा पर लगी हुई कर्म-स्थिति का ह्रास नहीं हो जाता है, तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आत्मा तीन करण करती है-

(1) यथाप्रवृत्तिकरण (2) अपूर्वकरण और (3) अनिवृत्तिकरण ।

(1) **यथाप्रवृत्तिकरण :-** जब आत्मा किसी भी प्रकार के कर्म का बन्ध करती है तो उसके साथ ही उस कर्म की स्थिति का भी बन्ध करती है ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

जब आत्मा अपने प्रयत्नविशेष से शुभ अध्यवसायों के द्वारा मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घटाकर उन कर्मों की स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागरोपम की कर देती है, तब आत्मा **'यथाप्रवृत्तिकरण'** करती है ।

यह यथाप्रवृत्तिकरण भी आत्मा अनेक बार करती है । कर्मों की स्थिति में ह्रास करने की यह प्रक्रिया अभव्य की आत्मा भी कर देती है, परन्तु इतने मात्र से वह आत्मा सम्यग्दर्शन का स्पर्श नहीं कर पाती है ।

यथाप्रवृत्तिकरण के बाद जब आत्मा अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करती है, तभी वह आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है, उसके पूर्व नहीं ।

2. **अपूर्वकरण :-** सम्यक्त्व की प्राप्ति के अभिमुख बनी हुई आत्मा अपने चरम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद अवश्य ही अपूर्वकरण करती है । इस अपूर्वकरण में प्रतिसमय आत्मविशुद्धि बढ़ती जाती है । इस अपूर्वकरण

में जीवात्मा ऐसी चार विशिष्ट क्रियाएँ करती हैं, जो उसने पूर्व में कभी नहीं की है ।

अपूर्वकरण में आत्मा स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और अपूर्वस्थितिबन्ध करती है ।

3. **अनिवृत्तिकरण :-** अपूर्वकरण के बाद आत्मा **'अनिवृत्तिकरण'** करती है । इस अनिवृत्तिकरण में प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है । अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और अपूर्वस्थितिबन्ध की सूक्ष्म-क्रियाएँ होती हैं । इसके साथ ही आत्मा इसमें **'अन्तरकरण'** करती है । इस **'अन्तरकरण'** में मिथ्यात्व का उदय रुक जाता है और आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है ।

सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होने पर आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि पाँच गुण प्रकट होते हैं ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आत्मा का भव-परिभ्रमण मर्यादित हो जाता है । वह आत्मा अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल-परावर्त काल के अन्दर अवश्य मुक्ति प्राप्त करती है ।

भवसागर में इस बोधिरत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है । इस सम्यक्त्व की उपस्थिति में जीवात्मा की दुर्गति रुक जाती है । इसके प्रभाव से जीवात्मा को वैमानिक व अनुत्तर विमान के दिव्य सुखों की प्राप्ति होती है और मनुष्य के रूप में भी उत्तम जाति व उत्तम कुल की ही प्राप्ति होती है ।

हे भव्यात्माओ ! ऐसे निर्मल बोधिरत्न की प्राप्ति के लिए आप प्रयत्न करो ।

अनादौ निगोदान्धकूपे स्थिताना -
मजस्रं जनुर्मृत्युदुःखार्दितानाम् ।
परीणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्याद्,
यया हन्त तस्माद् विनिर्यान्ति जीवाः ।।157।।

(भुजंगप्रयातम्)

ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वात्,
त्रसत्वं पुनर्दुर्लभं देहभाजाम् ।
त्रसत्वेऽपि पञ्चाक्षपर्याप्तसंज्ञि-
स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम् ।।158।।

(भुजंगप्रयातम्)

तदेतन्मनुष्यत्वमाप्यापि मूढो,
महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः ।
भ्रमन् दूरमग्नो भवागाधगर्ते,
पुनः क्व प्रपद्येत तद्बोधिरत्नम् ? ।।159।।

(भुजंगप्रयातम्)

अर्थ :- अनादिकाल से निगोद रूपी अन्ध कूप में रहने वाले और जन्म-मरण के दुःख से सतत, सन्तप्त जीवों को उस परिणाम की शुद्धि कहाँ से हो, जिससे वे निगोद के अन्ध कूप से बाहर निकल सकें ।।157।।

अर्थ :- निगोद में से निकले हुए जीव स्थावर अवस्था को प्राप्त करते हैं, क्योंकि प्राणी को त्रसत्व की प्राप्ति तो अत्यन्त दुर्लभ है । उस त्रसत्व की प्राप्ति के बाद भी पञ्चेन्द्रिय अवस्था, संज्ञित्व, दीर्घ आयुष्य तथा मनुष्यत्व की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ।।158।।

अर्थ :- मनुष्य अवस्था पाने के बाद भी महामोह मिथ्यात्व और माया से व्याप्त मूढ़ प्राणी संसार रूपी महागर्त में पड़ा हुआ, ऐसा निमग्न हो जाता है कि उसे बोधिरत्न की प्राप्ति भी कहाँ से हो ।।159।।

विवेचन

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता

तीन गाथाओं के द्वारा **पूज्य उपाध्यायजी म.** बोधिरत्न की प्राप्ति की दुर्लभता बतलाते हैं ।

संसार के समस्त जीवों को एक अपेक्षा से दो भागों में बाँट सकते हैं-

(1) अव्यवहारराशि के जीव । (2) व्यवहारराशि के जीव ।

जो जीव अनादिकाल से सूक्ष्मनिगोद में ही रहे हुए हैं और एक बार भी बादरनिगोद आदि की अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं वे जीव अव्यवहारराशि के कहलाते हैं ।

जो जीव सूक्ष्मनिगोद से निकल कर बादरनिगोद आदि अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, वे जीव व्यवहारराशि के कहलाते हैं ।

अव्यवहारराशि में अनन्तानन्त आत्माएँ रही हुई हैं, जो वहीं जन्म-मरण करती रहती हैं ।

जब तक आत्मा की भवितव्यता का परिपाक न हो, तब तक आत्मा अव्यवहारराशि से व्यवहारराशि में नहीं आती है ।

व्यवहारराशि में आने के बाद आत्मा का विकास हो ही, ऐसी अनिवार्यता नहीं है । व्यवहारराशि में आने के बाद भी आत्मा के विकास में अनेक बाधाएँ हैं । वह बादरनिगोद में भी अनन्तकाल तक रह सकती है ।

निगोद अवस्था में आत्मविशुद्धि के लिए अवकाश कहाँ है ? वहाँ सकाम-निर्जरा के लिए अवकाश नहीं है, अतः उस आत्मा के विकास की कोई विशेष सम्भावनाएँ नहीं हैं । निगोद के जीवों को मात्र अकाम-निर्जरा होती है ।

निगोद के जीव निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं, अतः उन जीवों के आत्म-परिणामों की विशुद्धि कहाँ से हो सकती है ?

सूक्ष्मनिगोद से निकलने के बाद आत्मा बादरनिगोदावस्था को प्राप्त करती है और वहाँ से निकलने के बाद बादर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय आदि अवस्था को प्राप्त करती है ।

पृथ्वीकाय आदि जीवों की भी उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल की है, अर्थात् इतने काल वे जीव उसी योनि (काय) में जन्म-मरण करते हैं ।

स्थावर पृथ्वीकाय के जीव भयंकर सर्दी-गर्मी आदि को सहन कर अकामनिर्जरा करते हैं, इस प्रकार निरन्तर वेदना को सहन करने के फलस्वरूप जीवात्मा त्रसपने को प्राप्त होती है अर्थात् आत्मा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि अवस्था को प्राप्त करती है ।

त्रसपने में भी जीवात्मा को पंचेन्द्रिय अवस्था की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है । ज्यों-ज्यों जीवात्मा के बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय आदि अवस्था में इन्द्रियों की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसमें पाप करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है ।

हिंसा, झूठ आदि पापों का प्रारम्भ आगे-आगे की अवस्थाओं में ही होता है । कदाचित् पुण्ययोग में पंचेन्द्रिय अवस्था मिल भी जाय, फिर भी उसमें मनुष्यत्व की प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है । पंचेन्द्रिय तो गाय, भैंस, बिल्ली, कुत्ता, सिंह, व्याघ्र आदि भी हैं । उस प्रकार का जन्म मिलने पर तो जीवात्मा अधिकाधिक पाप ही करती है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन हिंसादि पापों पर ही निर्भर है ।

कदाचित् पुण्ययोग से मनुष्य का जीवन भी मिल जाय, परन्तु यदि पर्याप्तावस्था पंचेन्द्रिय-पटुता तथा दीर्घ आयुष्य न मिले तो भी जीवात्मा के लिए आत्म-विकास करना कठिन हो जाता है ।

कदाचित् मनुष्य-जीवन में दीर्घ आयुष्य भी मिल जाय परन्तु जिनधर्म की प्राप्ति न हो तो पुनः सब कुछ बेकार हो जाता है और आत्म-विकास के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता है ।

पंचेन्द्रिय-पटुता और दीर्घ आयुष्य के साथ यदि तीव्र मिथ्यात्व का उदय हो तो जीवन में पाप की प्रवृत्ति अधिक तीव्र बन जाती है । शिकार, मांसाहार, शराब, जुआ, चोरी, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन जैसे भयंकर पाप मनुष्य ही तो करता है ।

मिथ्यात्व के तीव्र उदय में सद्धर्म आचरण की न तो प्रेरणा मिलती है और न ही उसे स्वीकार करने की इच्छा होती है ।

इस प्रकार मनुष्य-जीवन तक की अवस्था पाने के बाद भी महामोह से मूढ़ बनी आत्मा पुनः अपने विराट् संसार का सर्जन कर लेती है ।

कुछ संयोगवश द्रव्यचारित्र मिल जाय, परन्तु यदि आत्मा पर से मोह का साम्राज्य नहीं हटा हो तो भी आत्मा पुनः अपने भावी अनन्त संसार का ही सर्जन करती है ।

विभिन्नाः पन्थानः प्रतिपदमनल्पाश्च मतिनः,
कुयुक्तिव्यासङ्गैर्निजनिजमतोल्लासरसिकाः ।
न देवाः सान्निध्यं विदधति न वा कोऽप्यतिशय-
स्तदेवं कालेऽस्मिन् य इह दृढधर्मा स सुकृती ।।160।।

(शिखरिणी)

अर्थ :- इस काल में जहाँ स्थान-स्थान पर विविध मत वाले पंथ हैं, कदम-कदम पर कुयुक्ति के अभ्यास से स्वमत को विकसित करने में रसिक अनेक मतवादी हैं, देवता भी सहाय नहीं कर रहे हैं तथा न कोई अतिशय लब्धि-सम्पन्न व्यक्ति नजर आ रहा है, ऐसे समय में वीतराग धर्म में दृढ़ता रखने वाला ही सच्चा पुण्यात्मा है ।।160।।

विवेचन

धर्म में दृढ़ता कठिन कार्य है

पूज्यपाद उपाध्यायजी म. वर्तमानकालीन परिस्थितियों का वर्णन करते हुए बोधि के रक्षण की कठिनाइयों को बतलाते हुए फरमाते हैं कि इस समय धर्म के नाम पर अनेकविध पंथ और सम्प्रदाय चल रहे हैं ।

एक-एक नय के एकांगी दृष्टिकोण में पूर्णता की कल्पना कर अनेकविध नये पंथ चल पड़े हैं । उन एकांगी दृष्टि वालों का इतना अधिक तांता लग गया है कि बालजीवों के लिए सत्य की परीक्षा करना अत्यन्त कठिन हो गया है । कोई मात्र ज्ञान से मुक्ति की बात करता है तो कोई मात्र ध्यान से ।

एकान्त निश्चयनय के एकांगी दृष्टिकोण को पकड़कर एकमात्र ध्यान से मुक्ति की बातें करने वाले भी अनेक पन्थ निकल पड़े हैं । एकान्त निश्चयनय की पुष्टि करने के साथ-साथ वे व्यवहारनय का खण्डन भी करते हैं और दान, शील तथा तप आदि बाह्य धर्मों की निरर्थकता सिद्ध करते हैं । इस प्रकार एकान्त निश्चयनय की देशना से बालजीव धर्म से च्युत हो जाते हैं और उनकी स्थिति **'न घर की न घाट की'** हो जाती है ।

कोई स्थापना निक्षेप का उत्थापन कर रहे हैं तो कोई दया-दान में हिंसा की बातें करते हैं । इतना ही नहीं, अपने मत की पुष्टि के लिए आगम के अर्थ को तोड़-मरोड़ करके भी अपने मत को पुष्ट करना चाहते हैं ।

अपने मत को असत्य जानते हुए भी केवल निजी स्वार्थ के लिए वे लोग कुयुक्तियों का आश्रय लेते हैं और किसी भी प्रकार से अपने मत की पुष्टि करना चाहते हैं ।

दुनिया में **'युक्ति'** से भी **'कुयुक्ति'** का बोलबाला अधिक है, अधिकांशतः कुमतों का प्रचार व प्रसार कुयुक्तियों के बल पर ही चलता है ।

कई बार इन कुतर्कों के जाल में फँसकर व्यक्ति सद्धर्म से भी च्युत हो जाता है ।

इसके साथ ही इस काल में धर्मतीर्थ के अधिष्ठायक देवताओं का भी प्रायः सान्निध्य प्राप्त नहीं है । पृथ्वी पर देवताओं का आगमन लगभग नहींवत् हो गया है, इस कारण भी सद्धर्म की रक्षा करना अत्यन्त कठिन हो गया है ।

विभिन्न पंथ, कुयुक्तियों का जोर तथा देवों का नहीं आना आदि-आदि बातें सद्धर्मप्रेमी के लिए चुनौती रूप हैं ।

वर्तमानकाल में भौतिकवाद की भी आंधी इतनी जोर से चल रही है कि उसमें मुमुक्षु आत्मा को अपनी साधना में स्थिर रहना अत्यन्त कठिन हो गया है ।

दिन-प्रतिदिन विज्ञान की नई-नई गवेषणाएँ, ऐशो-आराम और भोग-विलास के नये-नये साधन व्यक्ति को सद्धर्म से च्युत कर देते हैं ।

सद्धर्म के रक्षण के लिए चारों ओर संकट हैं, ऐसी परिस्थिति में भी जो व्यक्ति सद्धर्म में स्थिर है और वीतराग प्ररूपित मोक्षमार्ग की साधना में प्रयत्नशील है, वह व्यक्ति वास्तव में भाग्यशाली है ।

अनुकूलताओं मे धर्म करना तो सरल है, परन्तु अनेकविध प्रतिकूलताओं के बीच भी आत्म-स्वभाव में स्थिर बने रहना अत्यन्त ही कठिन कार्य है ।

यावद् देहमिदं गदैर्न मृदितं, नो वा जरा जर्जरं,
यावत्त्वक्षकदम्बकं स्वविषयज्ञानावगाहक्षमम् ।
यावच्चायुरभङ्गुरं निजहिते तावद्बुधैर्यत्यतां,
कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते ।।161।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ :- जब तक यह देह रोग-ग्रस्त नहीं हुआ है, जब तक यह देह जरा से जर्जरित नहीं बना है, जब तक इन्द्रियाँ स्व-स्व विषय सम्बन्धी ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ हैं तथा जब तक आयुष्य रहा हुआ है, तब तक सुज्ञजनों को आत्महित में उद्यम कर लेना चाहिए, फिर सरोवर के टूट जाने के बाद दीवार बाँधने से क्या फायदा है ? ।।161।।

विवेचन

आत्म-हित के लिए प्रमाद छोड़ें

सद्धर्म-साधना की सामग्री मिल जाने के बाद भी शारीरिक रोग, जरावस्था, इन्द्रियों की क्षीणता तथा मृत्यु आदि व्यक्ति को साधना से भ्रष्ट कर देते हैं। अतः **पूज्य उपाध्यायजी म.** मैत्री-सभर हृदय से प्रेम भरी सलाह देते हुए फरमाते हैं कि हे भव्य आत्मन् ! जब तक तेरा देह स्वस्थ है, तब तक तू धर्म का आचरण कर ले। क्योंकि नीरोग अवस्था में ही कायिक धर्म का आचरण सम्भव है, जब तेरी काया किसी रोग से ग्रस्त हो जाएगी, उसके बाद तू धर्म का आचरण कैसे कर सकेगा ?

तप, त्याग और विरतिधर्म की साधना के लिए स्वस्थ देह की आवश्यकता रहती है, अतः यदि तू स्वस्थ है तो प्रमाद का त्याग कर और सद्धर्म की साधना के लिए प्रयत्नशील बन, क्योंकि किस समय यह देह रोगग्रस्त हो जाएगा, कुछ कह नहीं सकते हैं। अतः देह की स्वस्थता का गुमान न कर और उस देह के द्वारा जिनाज्ञा के पालन में प्रयत्नशील बन। इसी में तेरा सच्चा हित रहा हुआ है।

हे युवा ! तू प्रमाद का त्याग कर, सद्धर्म के आचरण में प्रयत्नशील बन जा । क्योंकि यह यौवन तो **'चार दिन की चांदनी'** की तरह अस्थायी है ।

जिस प्रकार नदी का जल सतत समुद्र की ओर बह रहा है, उसी प्रकार हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण हमें जरावस्था और मृत्यु के समीप ले जा रहा है । अतः जब तक यौवनवय है, तब तक धर्म का आचरण कर ले ।

वृद्धावस्था में शरीर जीर्ण हो जाएगा, आँखों की ज्योति मन्द हो जाएगी, पैर लड़खड़ाने लगेंगे, हाथ काँपने लगेंगे, सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो जाएगा, ऐसी अवस्था में तू धर्म का आचरण कैसे कर सकेगा ? अतः अभी से सावधान होकर धर्माचरण में प्रयत्नशील बन जा ।

हे प्रौढ़ पुरुष ! जब तेरे पाँचों इन्द्रियों की पटुता है, वे अपने-अपने कार्य को करने में सक्षम हैं, तब तक तू धर्म के आचरण में क्रियाशील बन जा ।

हे बाल मुमुक्षु ! तू अपनी वय को लघु मानकर सद्धर्म के आचरण में प्रमाद मत कर । क्योंकि मृत्यु बाल, युवान और वृद्ध का भेद नहीं करती है, वह तो किसी समय, किसी को भी अपने शिकंजे में कस लेती है । अतः अपने जीवन की क्षणभंगुरता को समझकर धर्मकार्य में उद्यमशील बन जा । सच्चा बुद्धिमान् वही है जो प्राप्त अवसर का लाभ उठा लेता है ।

तालाब फूट जाने के बाद उसके जल को रोकने के लिए क्या दीवार बनाई जा सकती है ?

फिर तो **'अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत ।'**

सद्धर्म आचरण की शक्ति होते हुए भी यदि तू सावधान नहीं बनेगा तो अन्त में तुझे पछताना ही पड़ेगा और इस प्रकार पछताने से भी कुछ फायदा नहीं हो सकेगा ।

विविधोपद्रवं देहमायुश्च क्षणभङ्गुरम् ।
कामालम्ब्य धृतिं मूढैः स्वश्रेयसि विलम्ब्यते ।।162।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- यह देह रोगादि उपद्रवों से भरा हुआ है, आयुष्य क्षणभंगुर है, तो फिर किस वस्तु का आलम्बन लेकर मूढ़ जन अपने आत्म-हित में विलम्ब करते हैं ? ।।162।।

विवेचन

आत्म-हित में विलम्ब मत करो

जो आत्माएँ लापरवाह बनकर सद्धर्म की उपेक्षा कर रही हैं, उन आत्माओं के प्रति हृदय में दया रखकर कुछ कठोर शब्दों में ठपका देते हुए पूज्य उपाध्यायजी फरमाते हैं कि हे मूढ़ आत्मन् ! तू किसके भरोसे रहकर अपनी साधना में विलम्ब कर रहा है ?

जरा, विचार तो कर । तेरा देह अनेक प्रकार के रोगों, उपद्रवों से भरा हुआ है, किस समय कौन-सा रोग तुझ पर हमला कर देगा, कुछ कह नहीं सकते हैं ।

इसके साथ ही तेरा आयुष्य भी तो क्षणभंगुर है । जल में उत्पन्न हुए बुलबुले की भाँति तेरे इस जीवन का अविनाशी बतें रहतें का कोई भरोसा नहीं है । तेरा आयुष्य भी सोपघाती है; किसी भी समय, किसी भी दुर्घटना से तेरे जीवन का अन्त आ सकता है । कहा भी है-`पानी केश बुलबुला उस मानस की जात ।'

द्वादशभावनाऽष्टकम्

बुध्यतां बुध्यतां बोधिरतिदुर्लभा,
जलधिजलपतितसुररत्नयुक्त्या
सम्यगाराध्यतां स्वहितमिह साध्यतां,
बाध्यतामधरगतिरात्मशक्त्या, बुध्य० ।।163।।

अर्थ :- समुद्र में गिर पड़े चिन्तामणि रत्न के दृष्टान्त से बोधि की अत्यन्त दुर्लभता को समझो । बोधिरत्न की दुर्लभता को समझकर उसका सम्यग् आराधन करो, आत्महित साधो और अपनी आत्म-शक्ति से दुर्गति को रोक दो ।।163।।

विवेचन

बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है

किसी ब्राह्मण के मन में चिन्तामणि-रत्न पाने की इच्छा पैदा हुई । इस हेतु वह अपने घर से निकल पड़ा, समुद्रयात्रा पूर्ण कर वह अन्य द्वीप पर पहुँचा । उस द्वीप में एक यक्ष की मूर्ति थी, उसने उपवास के तप के साथ यक्ष की साधना प्रारम्भ कर दी ।

उसने निरन्तर इक्कीस उपवास किये । यक्ष प्रसन्न हो गया और उसने ब्राह्मण को **'चिन्तामणि-रत्न'** दे दिया । चिन्तामणि रत्न पाकर ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हो गया । वह एक जहाज में बैठ गया और उसकी यात्रा प्रारम्भ हुई ।

उसने पूर्णिमा के दिन यात्रा प्रारम्भ की थी । सूर्यास्त के साथ ही आकाश में चन्द्रमा का उदय हुआ । चन्द्रमा का विशाल मण्डल भूमितल को प्रकाशित करने लगा ।

उस ब्राह्मण ने भी चन्द्रमा की तेजस्विता देखी । जहाज के एक किनारे बैठकर अपने हाथ में चिन्तामणि रत्न लेकर वह सोचने लगा-**''मेरा रत्न अधिक प्रकाशमान है या यह चन्द्रमा ?''** दोनों के प्रकाश की तुलना में

वह कभी चन्द्रमा की ओर देखता तो कभी रत्न की ओर । बस, इस प्रकार के विचार-विमर्श में अचानक ही वह चिन्तामणि रत्न समुद्र में गिर पड़ा । अति कठिनाई से प्राप्त चिन्तामणि रत्न एक क्षण में खो गया ।

इस दृष्टान्त से **पूज्य उपाध्याय श्री विनय विजयजी म.** हमें बोधि की दुर्लभता समझाते हुए फरमाते हैं कि हे भव्यात्माओ ! बोधि की दुर्लभता को समझकर उसे पाने के लिए प्रयत्नशील बनो । बोधि के आराधन से ही आत्म-हित साधा जा सकता है । बोधि की प्राप्ति बिना आत्म-हित की सिद्धि सम्भव नहीं है ।

बोधि की प्राप्ति होने पर आत्मा की दुर्गति भी रुक जाती है । सम्यक्त्व अवस्था में आयुष्य का बन्ध हो तो आत्मा की अवश्य सद्गति होती है ।

चक्रिभोज्यादिरिव नरभवो दुर्लभो,
भ्राम्यतां घोरसंसारकक्षे ।
बहुनिगोदादिकायस्थितिव्यायते,
मोहमिथ्यात्वमुखचोरलक्षे, बध्य० ।।164।।

अर्थ :- निगोद आदि की दीर्घकाल स्थिति तथा मोह और मिथ्यात्व आदि लाखों चोरों से व्याप्त इस भयंकर संसार-कक्ष में चक्रवर्ती के भोजन के दृष्टान्त से मनुष्य-भव की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ।।164।।

विवेचन

मनुष्यभव दुर्लभ है

इस विराट् संसार में आत्मा को नर-भव की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है । साधारण वनस्पतिकाय/निगोद के जीवों की कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल प्रमाण है । एक बार आत्मा निगोद में चली जाय तो फिर उसे ऊँचे उठने के लिए प्रायः कोई अवकाश ही नहीं रहता है । सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय की कायस्थिति असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल प्रमाण है, अतः उस स्थिति में से ऊपर उठने के लिए जीवात्मा को कोई साधन-सामग्री ही उपलब्ध नहीं होती है ।

चक्रवर्ती के घर भोजन की तरह मनुष्य-जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है ।

एक बार एक चक्रवर्ती एक ब्राह्मण पर प्रसन्न हो गए और ब्राह्मण को अपनी इच्छानुसार वर मांगने के लिए कहा । उस ब्राह्मण ने कहा-``मुझे प्रतिदिन एक घर पर भोजन और दक्षिणा में एक सोना मोहर मिल जाय तो मुझे प्रसन्नता होगी ।''

चक्रवर्ती ने ब्राह्मण की मांग स्वीकार कर ली ।

उस नगर में लाखों लोगों की बस्ती थी ।

पहले दिन उसने चक्रवर्ती के घर भोजन किया और उसे दक्षिणा में एक सोना मोहर मिली । उसके बाद उसने दूसरे घर भोजन किया और उसे एक सोना मोहर मिली । इतने बड़े विशाल नगर में क्या चक्रवर्ती के घर दूसरी बार भोजन की बारी आ सकती है ? नहीं । बस, इसी प्रकार से इस विराट् संसार में एक बार मनुष्य जीवन पाने के बाद पुनः मनुष्यजीवन की प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है ।

इसके साथ ही इस संसार में मोह और मिथ्यात्व रूपी चोर भी घूम रहे हैं, जो आत्म-धन को लूट लेते हैं ।

लब्ध इह नरभवोऽनार्यदेशेषु यः,
स भवति प्रत्युतानर्थकारी ।
जीवहिंसादिपापास्त्रवव्यसनिनां,
माघवत्यादिमार्गानुसारी, बुध्य० ।।165।।

अर्थ :- उसके बाद मनुष्य का जन्म भी यदि अनार्य देश में हो जाय तो वह ज्यादा अनर्थकारी बन जाता है, क्योंकि वहाँ जीवहिंसा आदि पापों के आस्त्रव में लगे रहने से वह जन्म माघवती (सातवीं नरक भूमि) के मार्ग में ले जाने वाला है ।।165।।

विवेचन

अनार्यदेश में मनुष्य-जन्म भी अहितकर बन सकता है

कदाचित् कुछ पुण्योदय से मनुष्य का जन्म भी मिल जाय, परन्तु आर्य देश न मिले तो ? .....पुनः आत्मा अधोगति की ही प्रवृत्ति करती है । आज अनार्यदेश के मनुष्यों की क्या स्थिति है ? हिंसा, झूठ, चोरी, हत्या,

व्यभिचार, बलात्कार व अपहरण आदि का वहाँ बोलबाला है ।

भौतिक दृष्टि से समृद्ध होने पर भी आध्यात्मिक गुण-समृद्धि की अपेक्षा वे दरिद्र ही हैं ।

वहाँ न अहिंसा का प्रेम है और न ही सदाचार का । **'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ'** के सिद्धांतानुसार ही उनका जीवन होता है ।

वहाँ पर उन्हें आत्मा, पुण्य-पाप व परलोक/मोक्ष की शिक्षा देने वाला कौन है ?

जन्म से ही जहाँ मांसाहार चल रहा है, वहाँ जीवदया के संस्कार कहाँ से मिलेंगे ?

भोग, वैभव और विलासिता में ही यौवन की सफलता मानने वाले ब्रह्मचर्य और शील के महत्त्व को कैसे समझ सकेंगे ?

भारत की यह पवित्र आर्यभूमि ! जहाँ की सन्नारियों ने अपने शील के रक्षण के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की थी । क्या ऐसी शीलवती सन्नारी का एक भी उदाहरण हमें अनार्य देश में मिल सकेगा ?

कुछ ही दिनों पूर्व एक मासिक पत्र में पढ़ा था-``ब्रिटेन की 2/3 युवतियाँ अपने विवाह के पूर्व ही गर्भवती बन जाती हैं ।''

उन अनार्यदेशों में शील के रक्षण की व्यवस्था भी कहाँ है ?

इसीलिए **पूज्य उपाध्यायजी म.** फरमाते हैं कि मनुष्य-जन्म मिलने के बाद भी आर्यदेश प्राप्त न हो और अनार्यदेश में जन्म मिले तो वह मनुष्य का जन्म भी आत्मा की भयंकर अधोगति करा देता है ।

जिस जन्म से तरने की सम्भावना है, उसी जन्म को प्राप्त कर आत्मा डूब जाती है । इससे अधिक अफसोस की बात और क्या हो सकती है ?

आर्यदेशस्पृशामपि सुकुलजन्मनां,
दुर्लभा विविदिषा धर्मतत्त्वे ।
रतपरिग्रहभयाहारसंज्ञार्तिभि-
र्हन्त ! मग्नं जगद्-दुःस्थितत्वे, बुध्य० ।।166।।

अर्थ :- आर्यदेश में रहने वाले और उत्तम कुल में जन्म लेने के बाद

भी सद्धर्म-श्रवण की इच्छा होना अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि मैथुन, परिग्रह, भय और आहार संज्ञा रूप पीड़ा से सम्पूर्ण जगत् अत्यन्त दुर्दशा में डूबा हुआ है ।।166।।

विवेचन

धर्मतत्त्व की जिज्ञासा भी दुर्लभ है

कदाचित् पुण्ययोग से आर्यदेश और उत्तम कुल भी मिल जाय, फिर भी **'धर्मश्रवण की इच्छा होना'** सुलभ कहाँ है ? क्योंकि आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओं के वशीभूत होने के कारण संसारी जीवों की स्थिति अत्यन्त दयनीय है ।

अनादिकाल से संसारी जीव आहार आदि संज्ञाओं से पराधीन है । नरक में भय संज्ञा, देवगति में परिग्रह संज्ञा, मनुष्य में मैथुन संज्ञा और तिर्यंच में आहार संज्ञा की पराधीनता है ।

प्रत्येक जीवात्मा का चारों गति में परिभ्रमण हो रहा है और इस कारण प्रत्येक जीव में चारों संज्ञाओं की प्रबलता है ।

मनुष्य-जन्म, आर्यदेश और उत्तम कुल मिल जाने के बाद भी आहार आदि संज्ञाओं की प्रबलता के कारण व्यक्ति धर्मश्रवण में उत्सुक नहीं बन पाता है ।

आहार संज्ञा की प्रबलता के कारण व्यक्ति भक्ष्य-अभक्ष्य और पेय-अपेय का विचार नहीं कर पाता है । परिग्रह संज्ञा की प्रबलता के कारण व्यक्ति अन्यान्य उपायों से धनार्जन में व्यस्त रहता है । धन की तीव्र ममता के कारण वह न्याय और नीति के मार्ग को भी भूल जाता है और येन-केन प्रकारेण धन इकट्ठा करने के लिए मेहनत करता है और इस कारण वह धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को भूल जाता है ।

एक अपेक्षा से काम पुरुषार्थ से भी अर्थ पुरुषार्थ हीन गिना गया है । कामान्धता से भी अर्थान्धता अधिक भयंकर है । धन के लोभ में अन्धे बने व्यक्ति के विवेकचक्षु पर आवरण आ जाता है और उसके सोचने-समझने की दृष्टि लुप्त हो जाती है ।

मैथुन संज्ञा की प्रबलता होने पर व्यक्ति कामान्ध बन जाता है ।

कामान्ध व्यक्ति जहाँ-तहाँ से अपनी वासना की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है । इस संज्ञा की प्रबलता होने पर परस्त्रीगमन व वेश्यागमन जैसे भयंकर पाप भी जीवन में घुस जाते हैं ।

भय संज्ञा भी जीवात्मा को धर्म करने में बाधा पहुँचाती है ।

इस प्रकार इस विश्व में चारों ओर चारों संज्ञाओं की प्रबलता होने से धर्म-श्रवण की इच्छा भी विरल आत्मा को ही होती है ।

आहार संज्ञा की प्रबलता के कारण कंडरीक मुनि का पतन हुआ । मैथुन संज्ञा की प्रबलता के कारण मणिरथ ने अपने छोटे भाई युगबाहु की हत्या की । परिग्रह संज्ञा की प्रबलता के कारण मम्मण सेठ मरकर सातवीं नरक भूमि में गया ।

विविदिषायामपि श्रवणमतिदुर्लभं,
धर्मशास्त्रस्य गुरुसन्निधाने ।
वितथविकथादितत्तद्रसावेशतो,
विविधविक्षेपमलिनेऽवधाने, बुध्य० ।।167।।

अर्थ :- सद्धर्म की जिज्ञासा होने के बाद भी व्यर्थ ही विकथा आदि के रस से अनेक प्रकार के विक्षेपों से मन के मलिन होने से सद्गुरु के सान्निध्य में धर्मशास्त्र का श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है ।।167।।

विवेचन

धर्म का श्रवण दुर्लभ है

कदाचित् पुण्ययोग से धर्म-श्रवण की इच्छा हो भी जाय, फिर भी गुरु के सान्निध्य में रहकर धर्म-श्रवण करना अत्यन्त ही दुर्लभ है क्योंकि चार प्रकार की विकथाएँ जीवात्मा के मार्ग में बाधा पहुँचाती रहती हैं ।

धर्मश्रवण की इच्छा हो जाय, फिर भी देशकथा, भक्त (भोजन) कथा, स्त्रीकथा और राजकथा के कारण व्यक्ति धर्मशास्त्र का श्रवण नहीं कर पाता है ।

धर्मशास्त्र का श्रवण गुरुमुख से ही होना चाहिए । मात्र पुस्तक पढ़

लेने से शास्त्र के रहस्य समझ में नहीं आ सकते हैं । गुरुगम के बिना किया गया शास्त्राभ्यास इतना अधिक हितकारी नहीं बन पाता है, जितना गुरुगम से प्राप्त ज्ञान बनता है ।

परन्तु गुरुगम से ज्ञान प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा है-विकथा की ।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में रेडियो, टी.वी., वीडियो, सिनेमा, मोबाइल फोन, समाचारपत्र-पत्रिकाएँ आदि का इतना अधिक जोर-शोर से प्रचार हो रहा है अथवा हो गया है कि व्यक्ति का अधिकांश समय विकथाओं के श्रवण और वाचन में ही चला जाता है ।

रेडियो से कौनसी खबरें प्रसारित होती हैं ? राजकथा-देशकथा सम्बन्धी ही न ? टी.वी. व सिनेमा के पर्दे पर कौन से चित्र आते हैं ? स्त्रीकथा और भोजनकथा सम्बन्धी ही न ?

आजकल के अखबार तो चारों प्रकार की विकथाओं से ही भरे होते हैं । हत्या, बलात्कार, हिंसा, डकैती, लूट, युद्ध, आक्रमण, सिनेमा आदि के ही अधिकांशतः समाचार होते हैं उनमें । बारम्बार उन समाचारों को पढ़ने से मनुष्य का मन भी विकृत बन जाता है और उसके जीवन में भी वे कुसंस्कार प्रबल बनने लग जाते हैं ।

आजकल धर्मश्रवण के लिए फुर्सत किसे है ? किसी प्रकार का काम-धन्धा न होने पर भी व्यक्ति इधर-उधर की बातें करने में अपना अमूल्य समय खो देता है और धर्मश्रवण के लाभ से कतराता और सात र वंचित रह जाता है ।

विकथा आदि के अन्तरायों को पुरुषार्थ के बल से तोड़ा जा सकता है, परन्तु मोह की पराधीनता के कारण व्यक्ति इस प्रकार का पुरुषार्थ कर ही नहीं पाता है और वह धर्मश्रवण से सर्वदा वंचित रह जाता है ।

धर्ममाकर्ण्य सम्बुध्य तत्रोद्यमं,
कुर्वतो वैरिवर्गोऽन्तरङ्गः ।
रागद्वेषश्रमालस्यनिद्रादिको,
बाधते निहतसुकृतप्रसङ्गः ।।बुध्य० ।।168।।

अर्थ :- धर्म का श्रवण करने के बाद धर्म में अच्छी तरह से उद्यम

करने वाले को भी अन्तरंग-शत्रु वर्ग तथा राग, द्वेष, आलस्य तथा निद्रा आदि बाधा पहुँचाते रहते हैं और सुकृत के प्रसंग को नष्ट कर देते हैं ।।168।।

विवेचन

धर्माचरण में उद्यम दुर्लभ है

कदाचित् पुण्ययोग से धर्मश्रवण का अवसर मिल जाय और वह व्यक्ति धर्मश्रवण के लिए गुरु-सान्निध्य में पहुँच भी जाय, फिर भी वहाँ जाकर ध्यानपूर्वक धर्म का श्रवण करना उसके लिए दुर्लभ हो जाता है ।

धर्म का श्रवण करते-करते या तो उसे नींद आने लगती है अथवा उसका मन कहीं बाहर ही परिभ्रमण कर रहा होता है । जब तक काया की स्थिरता और मन की एकाग्रतापूर्वक धर्म का श्रवण न हो, तब तक वह धर्मश्रवण लाभकारी नहीं बन पाता है ।

किसी नगर में गुरु महाराज का चातुर्मास था । चातुर्मास में सेठ मगनभाई रोज प्रवचन सुनने के लिए आते थे और वे महाराज के सामने ही बैठ जाते थे । परन्तु प्रवचन सुने कौन ? वे तो थोड़ी देर के बाद ही निद्राधीन हो जाते थे ।

एक दिन प्रवचन प्रारम्भ हुआ । सेठजी आ गए और थोड़ी देर के बाद उनकी नींद प्रारम्भ हो गई ।

महाराज ने उन्हें जगाने के लिए पूछा-``मगनभाई ! सोते हो ?''

``नहीं महाराज ! कौन कहता है ?'' सेठ ने जवाब दिया ।

थोड़ी देर बाद पुनः सेठजी को नींद आने लगी ।

महाराज ने फिर कहा-``मगनभाई ! सोते हो ?''

सेठ ने कहा-``नहीं महाराज ! कौन कहता है ?''

थोड़ी देर बाद सेठजी वापस सोने लगे, अबकी बार महाराज ने प्रश्न का रूप बदल दिया और जोर से बोले–

``मगनभाई ! जिन्दा हो ?'' सेठजी ने वही जवाब दिया-``नहीं महाराज ! कौन कहता है ?''

सेठ का उत्तर सुनकर चारों ओर हँसी की लहर फैल गई ।

.....धर्मश्रवण का अवसर मिलने पर भी कई तो नींद में ही अपना समय बिता देते हैं..... तो कई श्रोता कान से श्रवण करते हैं और उनका मन कहीं ओर भ्रमण कर रहा होता है ।

मोटर डिपो में गाड़ी के आने-जाने के लिए प्रवेश-प्रस्थान In and Out के बोर्ड लगे रहते हैं, वैसे ही अधिकांश श्रोता एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं । ऐसे श्रोताओं को धर्म का बोध कहाँ से हो ?

कदाचित् ध्यानपूर्वक धर्म का श्रवण कर भी लें तो भी अन्तरंग शत्रु, (काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष) राग, द्वेष आदि व्यक्ति को परेशान करते रहते हैं और उन शत्रुओं के वशीभूत आत्मा अपनी समस्त साधना को निष्फल बना देती है ।

वर्षों तक संयम का पालन किया, परन्तु काम की वासना के कारण सम्भूतिमुनि सब हार गए और उन्होंने चक्रवर्ती बनने का निदान कर लिया ।

वर्षों तक निर्मल चारित्र व तप का आसेवन किया, परन्तु विशाखानन्दी की मजाक को सहन नहीं कर सकने के कारण विश्वभूतिमुनि ने बलप्राप्ति के लिए निदान कर लिया ।

इस प्रकार धर्म का श्रवण होने के बाद भी अन्तरंग शत्रुओं के हमले से जीवात्मा पुनःपतन के गर्त में डूब जाती है ।

चतुरशीतावहो योनिलक्षेष्वियं,
क्व त्वयाकर्णिता धर्मवार्ता ।
प्रायशो जगति जनता मिथो विवदते,
ऋद्धिरसशातगुरुगौरवार्ता ।।बुध्य० ।।169।।

अर्थ :- अहो आत्मन् ! चौरासी लाख जीवयोनि में भ्रमण करते हुए तूने धर्म की वार्ता कहाँ सुनी है ? अधिकांशतः जगत् के प्राणी ऋद्धिगारव, रसगारव और शातगारव से पीड़ित होकर परस्पर विवाद करते रहते हैं ।।169।।

विवेचन

ऋद्धि-रस और शातागारव का त्याग करो

पूज्य उपाध्यायजी म. सद्धर्म-श्रवण की दुर्लभता का वर्णन करते हुए अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि-हे आत्मन् ! इस विराट् संसार में चौरासी लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण करते हुए तूने धर्म का श्रवण कहाँ किया है ?

अनादि संसार के अनन्त भवों में आत्मा में ऋद्धिगारव, रसगारव और शातागारव को बातें तो बहुत भवों में की हैं, परन्तु धर्म का श्रवण कहाँ किया है ?

यदि मनुष्य और देव भव का उत्तम जन्म भी मिला तो उन भवो में भी ऋद्धि, रस और शातागारव की ही बातें की हैं ।

किस प्रकार से धन और वैभव की प्राप्ति हो ? इसके लिए जीवात्मा ने विचार-विमर्श किया है ।

किस प्रकार के भोजन में अधिक स्वाद आ सकता है ? इस प्रकार की बातें बहुत बार की हैं ।

किस प्रकार से शरीर को नीरोग रखा जाय ? इस बात की चिन्ता अनेक भवों में की है । परन्तु धर्म का सम्यक् श्रवण ? किसी भव में नहीं किया ।

कदाचित् कान से धर्म का श्रवण किया भी हो तो भी उसे हृदय को स्पर्श होने नहीं दिया है ।

सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी म. ने **'कल्याणमन्दिर स्तोत्र'** में कहा है-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।

``हे जनबान्धव ! गत जन्मों में मैंने आपकी वाणी का श्रवण किया भी होगा, आपकी मैंने पूजा भी की होगी और आपके दर्शन भी किए होंगे, परन्तु

मैंने (अभी तक) आपको हृदय से धारण नहीं किया और इसी कारण मैं दुःख का पात्र बना हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ कभी फलदायी नहीं बनती हैं ।''

चौरासी लाख जीव-योनियों में अधिकांशतः हम बहिरात्मदशा में ही भटके हैं और देह में ही आत्मबुद्धि करके हमने दैहिक सुखों के लिए ही निरन्तर प्रयत्न और पुरुषार्थ किया है ।

वर्तमान में भी यदि अपने जीवन का निरीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि अपना अधिकांश समय दैहिक/भौतिक सुखों के पीछे ही व्यतीत हो जाता है । खाना, पीना, सोना, घूमना इत्यादि-इत्यादि क्रियाएँ देह के सुख के लिए ही तो होती हैं । आत्मा के विकास की क्रियाओं के लिए समय ही कहाँ है ?

दुनिया में भी चारों ओर लोगों से बातचीत करेंगे या सुनेंगे तो अधिकांशतः अर्थ और काम के पोषण की ही बातें होंगी । 'कैसे धनार्जन किया जावे और वैसे इच्छाओं की पूर्ति दी जायें' ?

(How to earn money and how to satisfy our desires ?)

बस ! ये ही दो प्रश्न हर व्यक्ति के सामने खड़े हैं और इन्हीं के समाधान के लिए सारे प्रयत्न पुरुषार्थपूर्वक होते हैं ।

एवमतिदुर्लभात् प्राप्य दुर्लभतमं,
बोधिरत्नं सकलगुणनिधानम् ।
कुरु गुरुप्राज्यविनयप्रसादोदितम्,
शान्तरससरसपीयूषपानम् ।।बुध्य० ।।170।।

अर्थ :- इस प्रकार अत्यन्त दुर्लभ, सकल गुण के आधार रूप और जो श्रेष्ठ विनय गुण के प्रसाद रूप में प्राप्त हुआ है, ऐसे बोधिरत्न का उपयोग करो और शान्तरस रूप अमृतरस का पान करो ।।170।।

विवेचन

बोधिप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करो

अन्त में **पूज्यपाद उपाध्यायजी म.** यही फरमाते हैं कि हे भव्यात्मन् !

इस अनन्त संसार में बोधि की दुर्लभता को तू समझ और उसकी प्राप्ति के लिए तू पुरुषार्थ कर। क्योंकि यह बोधि सकल गुणों के निधान स्वरूप है। इस एक गुणरत्न की प्राप्ति होने के बाद अन्य गुणों को प्राप्त करना कठिन नहीं है।

जिसे बहुमूल्य रत्न की प्राप्ति हो जाय उसके जीवन में दरिद्रता कहाँ से हो ?

बस, इसी प्रकार जिसने सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को पा लिया है, उसके जीवन में दुर्गुण व दरिद्रता नहीं आ सकती है।

बोधिरत्न तो सर्व गुणों का बीज-भूत है। जिस प्रकार वट के एक बीज में विराट् वृक्ष छिपा हुआ है, उसी प्रकार इस **'बोधि'** गुण में अनेक गुण समाहित हुए हैं, जो आत्मा सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करती है उसके जीवन में प्रशम, संवेग, निर्वेद आदि उत्तम गुणों का वास होता है और उस आत्मा के गुण निरन्तर बढ़ते जाते हैं।

हे भव्यात्मन् ! तू **शान्त अमृतरस** का पान कर और श्रेष्ठ विनय की प्रसादी रूप बोधिरत्न का सेवन कर।

शान्त अमृतरस के पान के द्वारा **पूज्य उपाध्यायजी म.** ने अपने ग्रन्थ का भी नाम निर्देश कर दिया है और **'श्रेष्ठ विनय की प्रसादी रूप'** पद से ग्रन्थकार ने अपने नाम का भी निर्देश कर दिया है।

वास्तव में, शान्तरस यह अमृतरस तुल्य है। जब अन्तरात्मा में कषायों की आग सर्वथा शान्त हो जाती है तभी आत्मा प्रशम रस के आनन्द का अनुभव कर सकती है।

13 मैत्री भावना

सद्धर्मध्यानसंधान-हेतवः श्रीजिनेश्वरैः ।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्त्रो भावनाः पराः ।।171।।
मैत्री-प्रमोदकारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ।।172।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- सद्धर्म-ध्यान में अच्छी तरह से जुड़ने के लिए श्री जिनेश्वरदेवों ने मैत्री प्रमुख चार श्रेष्ठ भावनाएँ कही हैं ।।171।।

अर्थ :- मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ धर्मध्यान को स्थिर करने के लिए सर्वदा सेवन करने योग्य जरूरी हैं, क्योंकि यह वास्तविक रसायन है ।।172।।

विवेचन

धर्मध्यान का रसायन चार भावनाएँ

अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवन्तों ने आत्महित के लिए अनित्यादि बारह भावनाएँ और मैत्री आदि चार भावनाएँ बतलाई हैं ।

जब तक आत्मा का चरमावर्त में प्रवेश नहीं होता है और जब तक वह ग्रंथि-भेद नहीं करती है, तब तक आत्मा में राग-द्वेष की अत्यन्त प्रबलता रहती है । अचरमावर्ती और दीर्घसंसारी आत्मा में तीव्र राग और तीव्र द्वेष रहा हुआ होता है । उसे सांसारिक सुख और उस सुख के साधनों के प्रति तीव्र राग होता है और दुःख और दुःख के साधनों के प्रति तीव्र द्वेष होता है । सांसारिक सुख को पाने की तीव्र लालसा होने के कारण उसका अधिकांश प्रयत्न भी इसी के लिए होता है । इसके साथ ही वह दुःखमुक्ति के लिए भी अत्यन्त प्रयत्नशील होती है ।

परन्तु आश्चर्य है कि सुख का तीव्र राग और दुःख का तीव्र द्वेष होने पर भी वह आत्मा न तो पूर्ण सुख को प्राप्त कर पाती है और न ही वह दुःख से मुक्त बन पाती है ।

पूज्य वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी ने कहा है-

दुःखद्विट्सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्ट-गुणदोषाः ।
यां यां करोति चेष्टां, तया तया दुःखमादत्ते ।।

मोह के अन्धत्व के कारण वस्तु के वास्तविक गुण-दोष को नहीं समझने के कारण दुःख के प्रति तीव्र द्वेष और सुख की तीव्र लालसा होने पर भी यह आत्मा ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, त्यों-त्यों नवीन दुःखों को ही प्राप्त करती है ।

अनन्त ज्ञानी महापुरुषों ने बतलाया है कि `इस भौतिक संसार में वास्तव में सुख नाम की कोई चीज नहीं है । इस संसार में जहाँ-जहाँ सुख दिखाई देता है, वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास ही है । मृग-मरीचिका की भाँति आत्मा को इस संसार में सुख दिखाई देता है, परन्तु वह भ्रम मात्र ही है । वास्तव में, सुख तो आत्मा का धर्म है और वह आत्मा से ही प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु मोहान्धता के कारण जीवात्मा की दृष्टि आत्मा की ओर न होकर बहिर्जगत् की ओर ही होती है और वह उसी से सुख पाना चाहती है ।

क्या मूंगफली के छिलकों को पीसने से तैल निकल सकता है ?

क्या पत्तों के सिंचन से वृक्ष का सिंचन हो सकता है ?

क्या जल का बिलौना करने से घी निकल सकता है ?

कदापि नहीं,..... तो इसी प्रकार संसार के भौतिक पदार्थों से भी सुख पाने की आशा करना व्यर्थ ही है ।

जब तक आत्मा से मोह का आवरण नहीं हटता है, तब तक वह आत्मिक-सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं बन पाती है । राग, द्वेष और मोह की पराधीनता के कारण आत्मा सन्मार्गगामी नहीं बन पाती है ।

`रागी दोषान् न पश्यति । द्वेषी गुणान् न पश्यति । मोही तु विपर्यय पश्यति ।' के नियमानुसार रागी व्यक्ति वस्तु के दोष को और द्वेषी व्यक्ति

वस्तु के गुण को नहीं देख पाता है तथा मोहाधीन आत्मा वस्तु को विपरीत रूप में देखती है, वह गुण में दोषबुद्धि और दोष में गुणबुद्धि करती है ।

इस मोह के कारण ही आत्मा जड़तत्त्व से अनुराग करती है और जीवतत्त्व से द्वेष करती है; जबकि जीव के प्रति मैत्री और जड़ के प्रति विरक्ति होनी चाहिए । मोहाधीन अवस्था में आत्मा में जड़-राग और जीव-द्वेष की प्रबलता रहती है ।

दुनिया में जहाँ कहीं भी राग-प्रेम दिखाई देता है, वह वास्तव में जड़त्व का ही राग होता है । हाँ, कहीं व्यक्तियों की भी पारस्परिक प्रीति दिखाई देती है, परन्तु वहाँ भी कोई जीवत्व का प्रेम या राग नहीं है, वह राग-प्रीति भी स्वार्थजन्य ही है ।

पुरुष का स्त्री के प्रति राग रूप के कारण और स्त्री का पुरुष के प्रति राग प्रायः रुपए के कारण होता है । रूप और रुपया अथवा काम और अर्थ से जन्य प्रीति क्या कोई वास्तविक प्रीति है ? यह तो वास्तव में जड़ का ही राग है ।

आज के इस विज्ञान युग अथवा भौतिकवाद के युग में चारों ओर जड़-विज्ञान ही विकसित हुआ है और इसके द्वारा जड़ का ही राग पुष्ट बना है । जहाँ जड़ का तीव्र राग होगा, वहाँ जीवत्व का द्वेष देखने को मिलेगा ही ।

जड़ के राग और जीवत्व के द्वेष के विसर्जन और जड़-विरक्ति और जीवमैत्री के सर्जन के लिए परमात्मा ने **'भावना'** धर्म बतलाया है । अनित्यादि बारह भावनाओं से जड़-विरक्ति प्रगट होती है और मैत्री आदि भावनाओं से जीवत्व का अनुराग प्रबल होता है ।

धर्म कल्पवृक्ष का मूल

'योगसार' ग्रन्थ में पूर्वाचार्य महर्षि ने कहा है-

धर्मकल्पद्रुमस्यैता मूलं मैत्र्यादिभावनाः ।

ये मैत्री आदि भावनाएँ धर्म कल्पवृक्ष की मूल हैं । मूल के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता है, उसी प्रकार मैत्री आदि के बिना धर्म कल्पवृक्ष का अस्तित्व सम्भव नहीं है ।

जापान की राजधानी तोक्यो में एक माली रहता था । उसने अत्यन्त पुरुषार्थ करके एक बगीचे का निर्माण किया था । एक बार उसके पेट में शूल की भयंकर पीड़ा हो गई । इस हेतु ऑपरेशन कराना अनिवार्य हो गया । ऑपरेशन व ऑपरेशन के बाद एक मास तक आराम करना अनिवार्य हो गया । माली के दिल में बगीचे की चिन्ता पैदा हो गई । **'बगीचे का एक मास तक सिंचन नहीं होगा तो मेरा बगीचा सूख जाएगा ?'** माली के 15 वर्ष का एक बच्चा था, उसने अपने पिता को व्यथित देखकर पूछा-``पिताजी ! आप इतने उदास क्यों हो ?''

पिता ने अपने दिल की बात कह दी । बेटे ने कहा-``पिताजी ! आप चिन्ता न करें, बगीचे का सिंचन मैं कर दूँगा ।''

माली के बेटे ने बगीचे का कार्यभार संभाल लिया । माली निश्चिन्त हो गया । वह बालक वृक्ष-सिंचन की कला से अनभिज्ञ था, अतः उसने अपनी कल्पनानुसार एक बाल्टी में जल लिया और एक कपड़ा लेकर एक वृक्ष पर चढ़ गया । तत्पश्चात् उसने कपड़े से वृक्ष की पत्तियाँ साफ कीं और कपड़े को जल में भिगोकर, पत्तियों पर जल सिंचन करने लगा । दिन भर वह यही कार्य करता रहा ।

दिन पर दिन बीतने लगे और वे पौधे धीरे-धीरे कुम्हलाने लगे । यह देखकर उस बालक को बड़ा आश्चर्य हुआ, ``जल सिंचन करने के बाद भी ये पौधे क्यों सूख रहे हैं ?''

धीरे-धीरे एक मास व्यतीत हो गया । माली का स्वास्थ्य ठीक हो गया । उसके दिल में बगीचे को देखने की इच्छा प्रगट हुई और वह अपने बेटे को लेकर उद्यान की ओर चल पड़ा ।

थोड़ी ही देर में वह उद्यान के निकट पहुँच गया । उसने देखा- **'उद्यान के सब पौधे सूख रहे हैं..... ।'** यह देखते ही उसने अपने बेटे को धमकाते हुए कहा-``नालायक ! तूने यह क्या कर दिया ? बगीचे को समाप्त कर दिया ? बगीचे का सिंचन क्यों नहीं किया ?''

बेटा घबरा गया । अत्यन्त घबराते हुए उसने कहा- ``पिताजी ! मैंने प्रतिदिन इस उद्यान का सिंचन किया है, परन्तु पता नहीं, ये पौधे क्यों सूख रहे हैं ?''

माली ने पूछा-``तूने इन पौधों का सिंचन कैसे किया था ? बताओ जरा ।''

पिता की आज्ञा पाते ही माली के बेटे ने एक बाल्टी में जल लिया और हाथ में एक वस्त्र लेकर वह एक पौधे के निकट जा पहुँचा और अपने वस्त्र से सर्वप्रथम वृक्ष की पत्तियों को साफ करने लगा, पत्तियों पर लगी धूल को साफ करने के बाद वस्त्र को जल में भिगोकर पत्तियों का सिंचन करने लगा ।

माली ने यह दृश्य अपनी आँखों से देखा । उसने कहा-``बेटा ! तेरा यह सब परिश्रम व्यर्थ गया है ? सिंचन पत्तों का नहीं, बल्कि जड़ का होना चाहिए । यदि जड़ का सिंचन होगा तो वह जल पत्तों तक पहुँच जाएगा और पत्तों का सिंचन तो पत्तों को ही समाप्त कर देगा ।''

बस, आध्यात्मिक जगत् में हमारी स्थिति उस बालक की तरह ही है । हम भी धर्म-वृक्ष के मूल का सिंचन तो भूल रहे हैं और धर्म के अन्य अंगों के सिंचन का प्रदर्शन कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में धर्म का वास्तविक फल कहाँ से मिल सकेगा ।

अध्यात्म-उपासक किसी महात्मा के जीवन की एक घटना है । वे प्रतिदिन संध्या समय परमात्मा का ध्यान करते थे । एक बार वे संध्या समय ध्यान में बैठे, किन्तु आज उनका मन ध्यान में एकाग्र नहीं बन पा रहा था । उन्होंने बहुत प्रयत्न किए, परन्तु वे सब प्रयत्न विफल गए । वे सोचने लगे-``आज ध्यान में एकाग्रता क्यों नहीं आ रही है ?'' कुछ सोचने के बाद उन्हें पता चला-``आज किसी निरपराध के साथ सामान्य झगड़ा हो गया था और आक्रोश में मैंने अत्यन्त कटु शब्द कह दिए थे ।''

तत्काल वे अपने स्थान से खड़े हो गये और उन्होंने जाकर उस निरपराध व्यक्ति से क्षमायाचना की ।

बस, इस क्षमायाचना का एक जादुई असर हुआ । वे ज्योंही ध्यान में बैठे, उनका मन ध्यान में केन्द्रित हो गया ।

'मैत्री भावना' हमें सर्व जीवात्माओं के साथ आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना सिखाती है । **'मैत्री'** अर्थात् अन्य का हितचिन्तन । इस भावना के पात्र जगत् के समस्त जीव हैं अर्थात् इस भावना के द्वारा जगत् में रहे समस्त जीवों के कल्याण की कामना की जाती है ।

पूज्यपाद सूरिपुरन्दर हरिभद्र सूरिजी म. ने भी धर्म की व्याख्या करते समय **'मैत्र्यादिभावसंयुक्' तद्धर्म इति कीर्त्यते'** । कहकर मैत्री आदि भावनाओं की महत्ता बतलाई है ।

वास्तव में, वही अनुष्ठान धर्मानुष्ठान है, जिसके गर्भ में मैत्री आदि भावनाएँ रही हुई हैं । मैत्री आदि भावनाओं से रहित अनुष्ठान धर्मानुष्ठान नहीं है ।

अपनी आत्मा को शुभध्यान (धर्मध्यान) से जोड़ने के लिए मैत्री आदि भावनाएँ अनिवार्य हैं ।

अपनी आत्मा ज्यों-ज्यों इन मैत्री आदि भावनाओं से भावित/ओतप्रोत बनती है, त्यों-त्यों वह धर्मध्यान में स्थिर बनती जाती है ।

मात्र स्व-सुख का चिन्तन आर्त्तध्यान है । मात्र स्व-सुख के रक्षण और दुःख के निवारण का चिन्तन आर्त्तध्यान है, जो अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में डालता है; जबकि जगत् में रही सर्व जीवात्माओं का हित-चिन्तन, सर्व की सुखप्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का चिन्तन धर्मध्यान है ।

'स्व-सुख' की इच्छा आर्त्तध्यान है ।

सर्व-सुख की इच्छा धर्मध्यान है ।

आर्त्तध्यान से धर्मध्यान में जाने के लिए ये भावनाएँ सेतु का काम करती हैं ।

जिनेश्वर भगवन्तों ने मैत्री आदि भावनाएँ बतलाकर भव्यात्माओं पर महान् उपकार किया है ।

ये मैत्री भावनाएँ धर्मध्यान का रसायन हैं ।

जिस प्रकार सुवर्णभस्म, कस्तूरी, लोहभस्म आदि का उपयोग करने से देह की पुष्टि होती है, उसी प्रकार मैत्री आदि भावनाओं के भावन से आत्मा पुष्ट बनती है ।

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यत्,
भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः ।
कारुण्यमार्ताऽङ्गिगरुजां जिहीर्षे-
त्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा ।।173।।

(उपजाति)

अर्थ :- अन्य जीवों का हित-चिन्तन मैत्री भावना है, गुण का पक्ष करना प्रमोद भावना है, दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने की इच्छा करुणा भावना है और दुष्ट बुद्धि वाले जीवों पर राग-द्वेष रहित होकर रहना माध्यस्थ्य भावना है ।।173।।

विवेचन

चार भावनाओं का स्वरूप

प्रस्तुत गाथा में ग्रन्थकार महर्षि ने अत्यन्त ही संक्षेप में किन्तु बहुत अर्थगम्भीर व्याख्या प्रस्तुत की है ।

मैत्री अर्थात् पर-हित-चिन्तन ।

प्रमोद अर्थात् गुण का पक्षपात ।

करुणा अर्थात् दुःखी के दुःख को दूर करने की इच्छा ।

माध्यस्थ्य अर्थात् दुष्टबुद्धि वालों की उपेक्षा ।

ये चारों भावनाएँ जीव सम्बन्धी हैं । इस संसार में जो अनन्तानन्त आत्माएँ हैं, उन आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में कौन-सी भावना होनी चाहिए और उस भावना का स्वरूप क्या है ? यह बात हमें **पूज्य उपाध्यायजी म.** सिखा रहे हैं ।

मैत्री भावना :- यह मैत्री भावना जगत् में रहे हुए समस्त प्राणियों के प्रति रखने की है । चाहे वह जीव एकेन्द्रिय अवस्था में हो, चाहे बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय अवस्था में हो । वह जीव सूक्ष्म हो या बादर हो, पर्याप्त हो अथवा अपर्याप्त हो, त्रस हो या स्थावर हो । मनुष्य हो या तिर्यंच हो, देव हो या नारक हो । व्यवहारराशि वाला हो या अव्यवहारराशि वाला हो, उन सब जीवों के प्रति हमारे हृदय में मैत्री भावना होनी चाहिए ।

जीवत्व के प्रति द्वेष या वैर भाव हमारी अन्तरंग साधना में बाधक है, जब तक इस संसार में एक भी जीवात्मा के प्रति वैर भाव रहेगा, तब तक आत्मा की मुक्ति होने वाली नहीं है ।

इसीलिए तो दोनों संध्या-प्रतिक्रमण करते समय **'मित्ती मे सव्व**

भूएसु, वेरं मज्झं न केण वि' पाठ बोला जाता है ।

(1) मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है और (2) किसी के साथ वैर नहीं है ।

मैत्री भावना का स्वरूप है-परहित-चिन्तन । इस भावना के द्वारा जगत् के सर्व जीवों के हित की कामना की जाती है ।

(इस भावना का विशद विवेचन आगे की गाथाओं में होगा ।)

प्रमोद भावना :- इस दुनिया में कई जीव अपने से अधिक गुणवान हैं । ऐसी गुणवन्त आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में प्रमोद/बहुमान का भाव होना चाहिए । गुणवान आत्माओं के प्रति ईर्ष्या का भाव न रखकर सम्मान का भाव रखना चाहिए ।

गुणवान आत्माओं के गुणों के प्रति पक्ष भाव रखने से उन आत्माओं में रहे हुए गुण हमें भी प्राप्त होते हैं ।

जिस वृत्ति/प्रवृत्ति के प्रति हमारे हृदय में आदर-बहुमान का भाव होता है वह वृत्ति/प्रवृत्ति धीरे-धीरे हमारे जीवन में भी आ जाती है । आज तक मोहाधीनता के कारण हमने संसार के सुख के राग व द्वेष को ही अच्छा माना है, अतः वही वृत्ति हमारे जीवन में घर कर गई है, अब उस वृत्ति के बजाय गुणीजनों के गुणों के प्रति बहुमान/आदर भाव को जागृत करना है और इस हेतु प्रमोद भावना से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिए ।

करुणा भावना :- इस संसार में अनेक जीवात्माएँ दुःख, दर्द और यातनाओं से पीड़ित हैं, उन दुःखी जीवों के दुःख निवारण के लिए हमारे हृदय में करुणा भावना होनी चाहिए । दुःखी के प्रति करुणा रखने से हमारा हृदय आर्द्र/कोमल बनता है । कोमलहृदयी आत्मा ही जीवदया/अहिंसा, क्षमा आदि धर्मों का पालन कर सकती है, जिसका हृदय कठोर व निर्दय है, वह अहिंसादि धर्मों की आराधना नहीं कर सकता है ।

अतः हृदय को कोमल बनाये रखने के लिए उसे करुणा भावना से भावित करना चाहिए ।

4. **माध्यस्थ्य भावना :-** अपने तीव्रतम पापोदय के कारण कई आत्माओं को

धर्म के प्रति रुचि नहीं होती है । वे अत्यन्त निर्दय, क्रूर और कठोर होती हैं, उनको धर्मोपदेश देना सर्प को दूध पिलाने तुल्य होता है ।

अतः ऐसी पापात्माओं के प्रति जिनको धर्मोपदेश देना भी व्यर्थ है, अपने हृदय में माध्यस्थ्य भावना होनी चाहिए । अर्थात् ऐसी पापी आत्माओं के प्रति भी हमारे हृदय में द्वेष भाव नहीं आना चाहिए, बल्कि उनके प्रति मध्यस्थ भाव धारण करना चाहिए ।

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मन् !
चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः ।
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन्,
किं खिद्यते वैरिधिया परस्मिन् ।।174।।

(उपजाति)

अर्थ :- हे आत्मन् ! सर्व जीवों पर मैत्री भाव धारण करो । इस जगत् में किसी को शत्रु न मानो । इस जीवन में कितने दिन रहने का है ? अन्य पर शत्रुबुद्धि करके व्यर्थ ही क्यों खेद पाते हो ? ।।174।।

विवेचन

अल्पकालीन जीवन में किसी से वैर क्यों रखें

हे आत्मन् ! इस जगत् में रहे हुए सर्व जीवों के प्रति तू मैत्री भाव धारण कर । किसी के प्रति भी द्वेष मत कर । तेरा यह जीवन तो क्षणभंगुर है । तू व्यर्थ ही अन्य जीवों के प्रति वैर भाव को धारण कर क्यों खेद पाता है ?

यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जब भी हम किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष या वैर भाव को धारण करते हैं, तब हमारा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, चित्त की प्रसन्नता समाप्त हो जाती है और चित्त अत्यन्त ही चंचल हो जाता है, फिर अनेकविध व्यर्थ-विचार चित्त में पैदा होते हैं ।

`.....वह तो मेरा दुश्मन है .....उसने मेरा यह बिगाड़ दिया ..... अब मैं उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं करूंगा, ...वह मुझे कमजोर समझता है ? .....अब मैं भी उसे देख लूंगा .....अपने वैर का

बदला बराबर लूंगा ।' .....इत्यादि-इत्यादि वैर-भावनाओं के विचार से हमारा मन कलुषित हो जाता है और हमारी आत्मा में कर्म का आस्रव-द्वार खुल जाता है । कई बार हमारे मन में किसी व्यक्ति विशेष के लिए जो कुछ बुरे विचार पैदा होते हैं, उनमें से हम कुछ भी कर नहीं पाते हैं .....फिर भी आत्मा व्यर्थ ही परेशान होती है ।

वाचकवर्य **श्री उमास्वातिजी म.** ने **'प्रशमरति'** में कहा है-

'क्रोधः परितापकरः, ...वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः ।' अर्थात् क्रोध अत्यन्त परिताप/सन्ताप पैदा करने वाला है .....तथा वैर की परम्परा को जन्म देने वाला है ।

अतः **'हे आत्मन् ! इस संसार में तू किसी को शत्रु मत मान ।'** क्योंकि किसी को शत्रु मानने पर ही क्रोध पैदा होता है और क्रोध से वैर-भाव पैदा होता है । क्रोध से वैर भाव बढ़ता है और वैर भाव से क्रोध पैदा होता है । इस प्रकार एक बार किसी जीव को शत्रु/दुश्मन मान लेने से हमारी वैर की परम्परा अनेक भवों तक बढ़ जाती है ।

'समराइच्च कहा' इस बात का जीता-जागता दृष्टान्त है । अग्निशर्मा के हृदय में गुणसेन राजा के प्रति द्वेष भाव पैदा हो गया । फलस्वरूप अग्निशर्मा के हृदय में रही वैर भाव की परम्परा नौ भवों तक चलती रही और नौ भवों तक इसने गुणसेन राजा के जीव को मारने का प्रयत्न किया ।

इस वैर भावना का फल क्या हुआ ? .....एक मात्र अनन्त संसार की वृद्धि ही न ?

अग्निशर्मा की आत्मा ने लाखों पूर्व वर्षों तक मासक्षमण के पारणे मासक्षमण की उग्र तपस्या की थी, परन्तु गुणसेन राजा के प्रति द्वेष/वैर भाव पैदा हो जाने से वह तप का सब फल हार गया ।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

क्रोधे क्रोड पूरव तणुं, संयम फल जाय ।
क्रोध सहित तप जे करे, ते तो लेखे न थाय ।।

एक महात्मा मासक्षमण के पारणे मासक्षमण करते थे । एक बार बालमुनि के साथ वे गोचरी जा रहे थे, उनके पैर के नीचे एक मेंढ़क दबकर

मर गया.....बालमुनि ने याद दिलाया-`आपके पैर के नीचे यह मेंढ़क दबकर मर गया है ।'

बालमुनि की बात सुनते ही तपस्वी मुनि का पारा आसमान चढ़ गया और वे उसे फटकारते हुए, मरे हुए अन्य मेंढक को दिखाते हुए बोले-``क्या यह सब मैंने मारा है ?''

संध्याकालीन प्रतिक्रमण मे समय अन्य मुनियों की उपस्थिति में जब बालमुनि ने तपस्वीमुनि को अपनी भूल याद दिलाई तो वे झल्ला उठे, अत्यन्त आवेश में आ गये और उस बालमुनि को रजोहरण से मारने के लिए दौड़ पड़े ।

भावी जो होना था.....बालमुनि दौड़े.....तपस्वीमुनि भी दौड़े.....रात्रि का अन्धकार था.....उपाश्रय में पत्थर का स्तम्भ था.....तपस्वीमुनि उससे टकरा गए और उसी क्रोधावस्था में उनके प्राणपखेरू उड़ गए.....ज्योतिष देव के भव के बाद वे कोशिक नामक तापस बने, उस भव में भी क्रोधावस्था में उनकी मुत्यु हुई और वहाँ से मरकर वे चण्डकोशिक दृष्टिविष सर्प बने ।

उस सर्प की दृष्टि में ही विष था, जिस पर वह दृष्टि डालता, वह वहीं पर धराशायी हो जाता ।

इस प्रकार बालमुनि पर क्रोध भाव धारण करने से तपस्वी महात्मा का पतन हो गया । यह तो कुछ अहोभाग्य था कि उस सर्प को भगवान महावीर का संगम हो गया और प्रभु की वाणी को सुनकर वह प्रतिबुद्ध हो गया ।

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के समय स्कन्दिलाचार्य नामक आचार्य़ हुए, जिनके 500 शिष्य थे ।

किसी वैर की भावना से पालक मंत्री ने स्कन्दिलाचार्य के 500 शिष्यों को घाणी (यंत्र) में पिलवा दिया ।

(तिलहत का तेल निकालने का यंत्र)

स्कन्दिलाचार्य़ ने सबको समत्व धर्म का उपदेश दिया । उनके उपदेश से भावित बने सभी शिष्य सर्व घाती-अघाती कर्मों से मुक्त होकर मुक्ति में चले गए.....और स्कन्दिलाचार्य ?

उनके हृदय में पालक के प्रति वैर/क्रोध की भावना जाग उठी और उन्होंने अपने संसार की अभिवृद्धि कर ली ।

किसी भी जीव के प्रति किए हुए क्रोध का विपाक अत्यन्त भयंकर होता है ।

एक बार एक स्त्री अपनी पड़ोसी स्त्री से भयंकर झगड़ा करके अपने घर आई । घर आकर उसने अपने बच्चे को स्तनपान कराया । थोड़ी ही देर में बच्चा मर गया । डॉक्टर ने आकर बच्चे के शरीर की जाँच की । अन्त में उसने कहा-``अत्यन्त क्रोध के कारण उस बच्चे की माँ का दूध जहरीला हो गया और उस स्तनपान से ही बच्चे की मृत्यु हुई है ।''

अपने इहलौकिक और पारलौकिक जीवन पर क्रोध का अत्यधिक असर होता है । क्रोधी व्यक्ति सभी का अप्रिय बन जाता है । कोई भी व्यक्ति उसके साथ व्यवहार करने में हिचकिचाता है ।

क्रोधयुक्त अवस्था में मृत्यु होने पर आत्मा की दुर्गति ही होती है ।

इस प्रकार किसी भी जीव के प्रति वैरभाव रखना अत्यन्त अहितकर है । अतः हे आत्मन् ! तू किसी भी जीवात्मा के प्रति वैर भाव धारण मत कर, क्योंकि तेरा यह जीवन तो कितना क्षणिक है ! जब तेरे जीवन-अस्तित्व का ही कोई भरोसा नहीं है, तो तू व्यर्थ इस जीवन के क्षणिक सुखों के लिए किसी व्यक्ति पर क्रोध कर अपनी आत्मिक शान्ति को क्यों नष्ट करता है ?

सर्वेऽप्यमी बन्धुतयाऽनुभूताः,
सहस्त्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ ।
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे,
न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि ।।175।।

(उपजाति)

अर्थ :- इस संसार रूपी सागर में ये सभी जीव हजारों बार बन्धु रूप से अनुभव किए हुए हैं, अतः ये सब तुम्हारे बन्धु हैं । कोई भी जीव तुम्हारा शत्रु नहीं है, इस बात का मन में निश्चय करो ।।175।।

विवेचन

जगत् के सभी जीव अपने मित्र हैं

हे आत्मन् ! इस संसार में सभी जीव तेरे बन्धु/भाई हैं, क्योंकि इस अनन्त संसार में सभी जीवों के साथ भाई के सम्बन्ध किये हैं ।

इस संसार में अपनी आत्मा का अस्तित्व अनादि काल से है । सभी आत्माएँ अनादि से हैं । इस संसार में अपनी आत्मा ने अनन्त बार मनुष्य आदि का जीवन भी पाया है और उन जीवनों में अनेकानेक जीवों के साथ भाईचारे के सम्बन्ध भी किये हैं । अतः हे आत्मन् ! आज तू जिस आत्मा/व्यक्ति के प्रति शत्रु भाव को धारण कर रहा है, वह तो गत जन्मों में तेरा बन्धु था, अतः वर्तमान में शत्रु भाव को धारण कर तू उस (गत जन्म की) बन्धुता को नष्ट क्यों कर रहा है ?

अपने भाई के साथ तो भ्रातृत्व भाव होना चाहिए ! उसके प्रति वैर भाव रखना तो मूर्खता ही है । अतः आज तू जिसे शत्रु मान रहा है, उसके प्रति तेरे हृदय में रही हुई शत्रुता का तू त्याग कर दे और उसके प्रति भी मैत्री भाव को धारण कर । जब वह तेरा भाई ही है, तो फिर उस पर शत्रु भाव क्यों ? भाई के प्रति तो स्नेह प्रेम होना चाहिए । वैर भाव का त्याग कर अब उस शत्रु को भी गले लगाना सीख । उसके आत्म-हित का चिन्तन कर ।

सर्वे पितृ-भ्रातृ-पितृव्य-मातृ-
पुत्राङ्गजास्त्रीभगिनीस्नुषात्वम् ।
जीवाः प्रपन्ना बहुशस्तदेतत्,
कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित् ।।176।।

(उपजाति)

अर्थ :- (इस संसार में) ये सभी जीव पिता, भ्राता, चाचा, माता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, बहिन तथा पुत्रवधू के रूप में बहुत बार प्राप्त हुए हैं अतः यह सब तुम्हारा ही कुटुम्ब है, पराया या दुश्मन नहीं है ।।176।।

विवेचन

जगत् के सभी जीव अपने ही कुटुम्बी हैं

हे आत्मन् ! इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब तेरे परिवार के ही अंग हैं । गत जन्मों में उन जीवों के साथ माता, पिता, चाचा, भाई, बहिन, स्त्री तथा पुत्रवधू आदि के सम्बन्ध किये हैं । अतः यह समस्त विश्व तेरा परिवार ही है । उन सभी जीवों को अपने परिवार का अंग मानकर उनके प्रति तू समुचित व्यवहार कर । किसी के प्रति द्वेष या वैर भाव धारण मत कर ।

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए हमारी आत्मा ने हर जीव के साथ हर प्रकार के सम्बन्ध बाँधे हैं । हर जीव के साथ किसी-न-किसी भव में हमारा पारिवारिक घनिष्ट सम्बन्ध भी रहा हुआ है, अतः ये सभी जीव तेरे आत्मीय जन ही हैं, तेरे लिए कोई जीव पराया नहीं है । अतः किसी को भी तू शत्रु मत मान । सबको अपना स्वजन मानकर उनके प्रति हितबुद्धि धारण कर ।

आज तू जिसे शत्रु मान रहा है, वह गत जन्म का तेरा पिता भी हो सकता है.....माँ भी हो सकती है.....पुत्र भी हो सकता है । अतः तू उससे शत्रुता का त्याग कर दे ।

एकेन्द्रियाद्या अपि हन्त जीवाः,
पञ्चेन्द्रियत्वाद्यधिगत्य सम्यक् ।
बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते,
भूयो भवभ्रान्तिभियां विरामम् ।।177।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ :- एकेन्द्रिय आदि जीव भी पंचेन्द्रिय आदि विशिष्ट सामग्री को प्राप्त कर बोधिरत्न की आराधना कर भवभ्रमण के भय से कब विराम पाएंगे ? ।।177।।

विवेचन

सभी आत्माएँ बोधि प्राप्त करें

हे आत्मन् ! तू सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव को धारण कर । वे

एकेन्द्रिय आदि प्राणी भी शीघ्र पंचेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करें और बोधि की आराधना कर अपने भव-भ्रमण को सीमित कर दें ।

अहो ! इस भीषण संसार में एकेन्द्रिय आदि जीवों की कैसी भयंकर हालत है ?

निगोद के जीव निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं । अपने एक श्वासोच्छ्वास में उनके 17 बार जन्म-मरण और 18 वीं बार पुनः जन्म हो जाता है ।

अनन्तकाल से वे इस पीड़ा को भोग रहे हैं । कब वे इस भयंकर पीड़ा से मुक्त बनेंगे ?

.....और इधर पृथ्वीकाय के जीव सर्दी-गर्मी के कारण पीड़ित हैं.....पैरों तले रौंदे जा रहे हैं.....अप्काय के जीवों की भी कैसी बुरी हालत है, कई परस्पर टकराकर मर रहे हैं.....तो कई धूप से मर रहे हैं.....अहो ! कई जीव उन्हें ऐसे ही निगल रहे हैं । अग्निकाय के जीवों की भी यही दुर्दशा है जल के प्रतिकार से वे नष्ट हो रहे हैं ।

वायुकाय के जीव भी परस्पर संघर्ष द्वारा नष्ट हो रहे हैं । मनुष्य आदि के श्वासोच्छ्वास द्वारा उनका जीवन समाप्त हो रहा है ।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं-साधारण और प्रत्येक ।

साधारण वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव एक साथ रहे हुए हैं । उनका जीवन एक साथ है, वे निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा भोग रहे हैं । उनकी काय-स्थिति अनन्तकाल की है ।

प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव भी निरन्तर सर्दी, गर्मी व वर्षा की पीड़ा सहन कर रहे हैं ।

इस संसार में बेइन्द्रिय आदि जीवों की भी अत्यन्त दयनीय स्थिति है ।

चींटी सुगन्ध व स्वाद पाने के लिए घी की ओर दौड़ती है, परन्तु घी के निकट पहुँचते ही उसका जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाता है । उस बेचारी को कहाँ पता है कि यहाँ मुझे स्वाद नहीं, बल्कि मौत ही मिलने वाली है ।

दूध-घी की सुगन्ध से आकर्षित होकर मक्खी ज्यों ही दूध-घी पर

बैठती है, त्योंही उसका जीवन समाप्त हो जाता है । बैठी थी कुछ पाने के लिए, परन्तु वहीं पर सब कुछ खो देती है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की भी कैसी बुरी हालत है ? मत्स्यगलागलन्याय के अनुसार बड़े प्राणी छोटे प्राणियों का भक्षण करते जा रहे हैं ।

चूहे को बिल्ली का डर है, बिल्ली को कुत्ते का डर है, कुत्ते को अन्य हिंसक प्राणी का डर है, इस प्रकार सभी तिर्यंच अत्यन्त भयभीत होकर ही जी रहे होते हैं । साथ ही, उन्हें भूख और प्यास की भी अत्यन्त पीड़ा है ।

अत्यन्त भूख लगी है, चारा थोड़ी सी दूरी पर पड़ा है, परन्तु खूंटे से बँधे होने के कारण वह बैल चारा नहीं खा पाता है और उसे भूख-प्यास सहन करनी ही पड़ती है ।

उन गाय, भैंस, बैल, बकरे, बकरी आदि की कैसी दयनीय स्थिति है ? जब तक उनसे अपने स्वार्थ की सिद्धि होती है, तब तक तो उन्हें अनुकूल चारा आदि दिया जाता है और उसके बाद उनकी कौन परवाह करता है ? या तो वे वैसे ही भूखे-प्यासे प्राण छोड़ देते हैं, अथवा उन्हें कत्लखाने में भेज दिया जाता है ।

इस संसार में नरक के जीवों की भी कैसी भयंकर दर्दनाक स्थिति है ? निरन्तर परमाधामी देवों के द्वारा उन्हें सताया जाता है । वे अपने रक्षण के लिए सतत उपाय शोधते रहते हैं, परन्तु कहीं भी उन्हें अपने रक्षण का उपाय नहीं मिल पाता है.....इस कारण ही वे मृत्यु की इच्छा करते हैं ।

देवों की दुनिया भी कोई अनुमोदनीय नहीं है । राग-द्वेष, लोभ और ईर्ष्या के फन्दे में फँसे देवों की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय ही है ।

सुख में पागल होकर वे अपनी आत्मा की अधोगति खड़ी कर रहे हैं ।

अनार्य आदि देशों में जन्म प्राप्त मनुष्यों की भी स्थिति कहाँ अच्छी है ? हिंसा, झूठ-व्यभिचार, शराब, मांसाहार आदि पापाचरण द्वारा वे अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में डाल रहे हैं ।

धन्य तो वे आत्माएँ हैं, जिन्हें भाव से जिनशासन की प्राप्ति हुई है और उस जिनशासन की आराधना कर वे अपने संसार-भ्रमण को समाप्त कर रही हैं ।

धर्महीन और दुःखी उन समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव को धारण करने के लिए पूज्य उपाध्याय जी म. फरमाते हैं कि हे आत्मन् ! तू इस प्रकार की शुभ भावना कर कि वे सभी जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यादि अवस्था को प्राप्त कर जिनशासन की आराधना करें और बोधिरत्न को प्राप्त कर, अपनी आत्मा के भव-भ्रमण को सदा के लिए मिटा दें ।

इस संसार में जिनशासन/परमात्म-शासन ही आत्मा को सच्चे सुख का मार्ग दिखलाता है । उसकी प्राप्ति और उसके आराधन से ही आत्मा भव-भ्रमण के बन्धन से मुक्त बन सकती है । उसकी प्राप्ति से रहित चक्रवर्तीपना भी आत्मा के लिए हितकर नहीं है ।

या रागरोषादिरुजो जनानां,
शाम्यन्तु वाक्काय-मनोद्रुहस्ताः ।
सर्वेऽप्युदासीनरसं रसन्तु,
सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु ।।178।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ :- सभी प्राणियों के मन, वचन और काया को दुःख देनेवाले राग-द्वेष आदि सभी रोग शान्त हो जायें । सभी जीव समतारस का पान करें और सभी जीव सर्वत्र सुखी बनें ।।178।।

विवेचन

जगत् के सभी जीव सुखी हों

इस संसार में जीवात्मा को सबसे बुरा रोग लगा है-राग और द्वेष का; यदि राग और द्वेष न हों तो आत्मा का इस संसार में परिभ्रमण भी नहीं होगा । राग एक ऐसा स्नेह (चिकनाई) है, जिसके कारण ही कर्मवर्गणाएँ आकर आत्मा पर चिपकती हैं ।

राग और द्वेष के अध्यवसाय करके आत्मा कर्मों को अपनी ओर खींचती है । यदि आत्मा में राग-द्वेष की स्निग्धता नहीं है, तो कर्म आकर कभी नहीं चिपकेंगे ।

आत्मा के संसार का मूल कारण राग ही है । जहाँ राग है, वहाँ द्वेष का अस्तित्व भी अवश्य होगा । जिसके हृदय में सानुकूल पदार्थों के प्रति राग रहा हुआ है, उसके हृदय में प्रतिकूल वस्तुओं के प्रति अवश्य द्वेष होगा ही ।

राग-द्वेष की अभिव्यक्ति मन, वचन और काया के द्वारा होती है । अनुकूल वस्तु मिलने पर मन का प्रसन्न होना, मन का राग है, राग-युक्त वचन बोलना वचन का राग है और देह के अनुकूल वस्तु का भोग करना, काया का राग है । इसी प्रकार प्रतिकूल वस्तु मिलने पर अप्रसन्न बनना, मन का द्वेष है । किसी को अहितकर कटुवचन बोलना वचनद्वेष है और प्रतिकूल प्रसंग में न रहना, उससे दूर भागना आदि काया का द्वेष है ।

मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित करने के लिए इस प्रकार विचार करें कि-

`जगत् में रहे सर्व जीवों के राग-द्वेष रूप शत्रु शान्त हो जायें । सभी जीव उदासीन/वीतराग अवस्था को प्राप्त करें और सभी जीव सदा काल सुखी बनें ।'

राग-द्वेष के उपशमन से, वीतराग अवस्था पाने पर सभी जीव सदा के लिए सुखी बन सकते हैं ।

`इस संसार में कोई भी जीव पाप न करे । कोई भी जीव दुःखी न हो । सभी जीव मुक्ति-पद को प्राप्त करें ।'

इस प्रकार की मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित करने से आत्मा कर्म के बन्धन से मुक्त बनती है, तत्काल चित्त-प्रसन्नता का अनुभव करती है और परम्परा से मुक्ति-पद को प्राप्त करती है ।

अपने सुख-दुःख के प्रति, शत्रु-मित्र के प्रति, अनुकूलता-प्रतिकूलता के प्रति जब मध्यस्थ भाव पैदा होता है, तब वास्तविक उदासीनता (तटस्थता) गुण की प्राप्ति होती है, इस गुण की प्राप्ति होने पर जीवन में वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है, इस संसार में सभी जीव इस प्रकार के उदासीन भाव को प्राप्त करें और सभी जीव सदा काल सुखी बनें ।

त्रयोदशभावनाष्टकम्

(राग-टोडी)

विनय विचिन्तय मित्रतां,
त्रिजगति जनतासु ।
कर्मविचित्रतया गतिं,
विविधां गमितासु ।।विनय० ।।179।।

अर्थ :- हे विनय ! कर्म की विचित्रता से विविध गतियों में जाने वाले त्रिजगत् के प्राणियों के विषय में मैत्री का चिन्तन कर ।।189।।

विवेचन

जगत् के जीवों के प्रति मैत्री रखो

पूज्य उपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी म. अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि हे विनय ! हे आत्मन् ! संसार के समस्त जीवों के प्रति तू मैत्री भाव धारण कर । किसी पशु आदि के मलिन देह को देखकर तू उससे घृणा मत कर । किसी को विकलाङ्ग देखकर उसका उपहास मत कर । किसी को मूर्ख या बुद्धिहीन जानकर उसका तिरस्कार मत कर । किसी को अत्यन्त दु:खी जानकर उसकी उपेक्षा मत कर बल्कि जगत् के सर्व जीवों को तू अपना मित्र मान । आज वे जीव जिस विकृत अवस्था में तुझे दिखाई दे रहे हैं, यह तो उनकी कर्म-कृत अवस्था है । स्व-स्व-कर्म की भिन्नता के कारण सभी आत्माओं की भिन्न-भिन्न स्थिति है । कोई शुभ पुण्योदय से राजा बना हुआ है, तो कोई पापोदय से रंक बना हुआ है । किसी के यश नामकर्म का उदय होने से चारों ओर उसका यश फैल रहा है तो किसी के अपयश नामकर्म का उदय होने से चारों ओर उसकी निन्दा हो रही है ।

किसी के सुस्वर नामकर्म का उदय होने से जब वह गाता है, तब हजारों लोग इकट्ठे हो जाते हैं और मस्ती से झूमने लगते हैं तो किसी के

दुस्वर का उदय होने से उसकी वाणी सभी को कर्णकटु लगती है ।

किसी के आदेय नामकर्म का उदय है तो उसकी हर सच्ची-झूठी बात सबके द्वारा स्वीकार कर ली जाती है, तो किसी के अनादेय नामकर्म का उदय होने से, उसकी सच्ची बात की भी उपेक्षा की जाती है, कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता है ।

किसी के शातावेदनीय कर्म का उदय है तो वह दुर्घटना होने पर भी बच जाता है और किसी के अशाता का उदय है तो वह बिना किसी निमित्त के भी बीमार हो जाता है ।

कर्म की इस विचित्रता के विविध परिणाम हमें इस दुनिया में चारों ओर दिखाई देते हैं ।

संसारी जीवों की यह सब विविधता कर्म की आभारी है । वास्तव में, यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है । आत्मा तो ज्ञानमय, दर्शनमय और चारित्रमय है ।

द्रव्य दृष्टि से इस संसार में रही सभी आत्माएँ एक समान हैं । आचारांग सूत्र में जो **'एगे आया'** सूत्र है, वह द्रव्य दृष्टि से ही विश्व की समस्त आत्माओं की एकता सिद्ध करता है । पर्याय दृष्टि से आत्माएँ भिन्न होने पर भी द्रव्य दृष्टि से सभी आत्माएँ एक अर्थात् एक समान हैं ।

अतः हे आत्मन् ! जगत् के जीवों की कर्मकृत अवस्था की ओर ध्यान न देकर, उन समस्त जीवों के मूल स्वरूप का चिन्तन कर; उन सब जीवों के प्रति मैत्री भाव धारण कर ।

आत्मत्व जाति एक होने से जैसा तेरा स्वरूप है, वैसा ही उन सब आत्माओं का स्वरूप है । भले ही पर्याय दृष्टि से तू मनुष्य है, धनवान है, बुद्धिमान् है, साहूकार है और वह तिर्यंच है, बीमार है, गरीब है-इत्यादि ।

जैसे किसी नाट्यमण्डली में काम करने वाले दो सगे भाई भी जब नाटक करते हैं, तब एक राजा का पात्र भजता है तो एक सेवक का ।

नाटक में राजा और सेवक का पात्र भजने पर भी वास्तव में तो वे सगे भाई ही हैं, उसी प्रकार इस संसार की रंगभूमि पर कर्म सत्ता के अधीन बनी

सभी आत्माएँ विविध पात्रों के रूप धारण करती हैं, परन्तु वास्तव में, उनका स्वरूप तो एक समान है ।

इस प्रकार का चिन्तन कर जगत् के सर्व जीवों के प्रति तू मैत्री भाव को धारण कर ।

सर्वे ते प्रियबान्धवाः,
नहि रिपुरिह कोऽपि ।
मा कुरु कलिकलुषं मनो,
निजसुकृतविलोपि ।।विनय० 180।।

अर्थ :- ये सब तुम्हारे प्रिय बन्धु हैं, इनमें कोई तुम्हारा दुश्मन नहीं है । कलह से कलुषित मन सुकृत का लोप करने वाला होता है (अतः अपने मन को कलुषित मत करो) ।।180।।

विवेचन

मन को कलुषित मत करो

हे आत्मन् ! इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब तेरे प्रिय बान्धव हैं, उनमें एक भी जीव वास्तव में तेरा शत्रु नहीं है ।

वर्तमान में तुझे कोई व्यक्ति शत्रु प्रतीत हो रहा है, तो यह तेरी द्वेष भावना का ही फल है । अथवा कोई व्यक्ति तुझ पर शत्रुता धारण कर रहा है, तो यह उसकी द्वेष भावना का तथा तेरे पापोदय का ही फल है ।

राग और द्वेषजन्य अवस्थाएँ वास्तविक नहीं हैं, वे तो कर्मकृत हैं । जिस प्रकार रेगिस्तान की मरुभूमि में गर्मी के दिनों में जब गर्म हवा (लू) चलती है, तब दूर से वहाँ जल बहता हुआ दिखाई देता है, परन्तु वहाँ निकट जाने पर जल की एक बूंद भी हमें नहीं मिल पाती है, क्योंकि वहाँ वास्तव में जल नहीं है, किन्तु जल का आभास मात्र है । उसी प्रकार इस संसार में यदि कोई हमें शत्रु प्रतीत हो रहा है, तो यह भी हमारी दृष्टि का ही दोष है ।

जिस प्रकार माइक्रोस्कोप से छोटी वस्तु भी बड़ी दिखाई देती है, परन्तु दिखने मात्र से वह वस्तु बड़ी नहीं हो जाती है । उसी प्रकार हे

आत्मन् ! किसी भी व्यक्ति को शत्रु मानना, यह तो तेरी भ्रमबुद्धि है, कल्पना है । वास्तव में, तो वह जातीय बन्धु है, मित्र है ।

तू अपने मित्र के प्रति द्वेष भाव धारण कर अपने पुण्य को भस्मीभूत करने वाले पाप का आचरण मत कर । किसी भी व्यक्ति पर द्वेषभाव धारण करने से अपना मन कलुषित बनता है और कलुषित मन अपने सुकृतों का नाश करता है ।

हे आत्मन् ! तूने बड़ी कठिनाई से तो सुकृत/पुण्य का संचय किया है, मन के कालुष्य के द्वारा तू उसे नष्ट मत कर ।

बड़ी कठिनाई से तूने विशाल भवन का निर्माण किया है, अब एक ईंट की आवश्यकता के लिए तू इस भवन को गिराने के लिए उद्यत हुआ है, यह तेरी कैसी मूर्खता है ?

बस, इसी प्रकार तूने बड़ी कठिनाई से पुण्य का अर्जन किया है, उसे तू व्यर्थ ही नष्ट मत कर ।

यदि कोपं कुरुते परो,
निजकर्मवशेन ।
अपि भवता किं भूयते
हृदि रोषवशेन ।।विनय० 181।।

अर्थ :- यदि कोई अपने कर्म के वशीभूत होकर क्रोध करता है, तो तुम हृदय में क्रोध के वशीभूत क्यों बनते हो ? ।।181।।

विवेचन

किसी पर क्रोध मत करो

हे आत्मन् ! यदि कोई व्यक्ति तुझ पर क्रोध करता है, तो तू उस पर क्रोध मत कर । यदि कोई व्यक्ति अपने कषाय के उदय से तुझ पर गुस्सा करता है, तो तू उस समय यह विचार कर-

(1) कि यह व्यक्ति मुझ पर गुस्सा कर रहा है, इसमें किसका दोष है ? यदि तेरी भूल के कारण वह व्यक्ति तुझ पर गुस्सा कर रहा है, तो

इसमें तुझे नाराज होने की क्या आवश्यकता है, तुझे अपनी भूल स्वीकार करनी ही चाहिए ।

(2) यदि तूने कोई अपराध नहीं किया है, तो भी तुझे गुस्सा करने की क्या आवश्यकता है ? निरपराध को डरने की क्या जरूरत है ? आखिर तो **'सत्य की ही जीत होती है ।' 'सत्यमेव जयते'** इस वचन पर विश्वास कर और गुस्सा करने में जल्द-बाजी मत कर ।

(3) वह व्यक्ति गुस्सा करके स्वयं का ही नुकसान कर रहा है, तो फिर तू गुस्सा करके अपना नुकसान क्यों करता है ?

(4) गुस्सा तो कषायोदय का कारण है । जब पाप का उदय होता है, तभी व्यक्ति क्रोध के अधीन बनता है, वह व्यक्ति तो गुस्सा करके अपने पापोदय के फल को भोग रहा है । तू क्यों गुस्सा करके अपने पाप को उदय में ला रहा है ?

(5) क्रोध करने वाला व्यक्ति स्वयं का ही नुकसान कर रहा है । **'मैं भी गुस्सा करके अपना नुकसान क्यों करूँ ?'**

(6) क्रोध आत्मा की विकृत अवस्था है । क्रोध करने से आत्मा के स्वभाव गुण की हानि होती है । **'मैं व्यर्थ ही गुस्सा करके अपनी आत्मा को विकृत क्यों करूँ ?'**

(7) क्रोध करने से आँखें गर्म हो जाती हैं, मुँह लाल हो जाता है । शारीरिक तनाव बढ़ जाता है । **'मैं गुस्सा करके अपने स्वास्थ्य का नुकसान क्यों करूँ ?'**

(8) क्रोध करने से आत्मा नवीन कर्मों का बन्ध करती है और नवीन कर्मों के बन्ध से आत्मा अपना ही अनर्थ करती है । अतः किसी के गुस्सा करने पर यह विचार करना चाहिए कि **'मैं गुस्सा करके अपनी आत्मा को कर्मबंधन से ग्रस्त क्यों करूँ ?'**

(9) यदि इस क्रोध के प्रसंग में मैं समता रखूंगा, तो स्वतः उस व्यक्ति को अपनी भूल ख्याल में आने पर पश्चाताप होगा ।

(10) क्रोध के प्रसंग में भी यदि मैं क्रोध नहीं करूंगा तो **'मैं समता की साधना में आगे बढ़ सकूँगा और मेरे कर्मों की भी निर्जरा होगी ।'**

(11) क्रोध के प्रसंग में शान्ति रखने पर व्यक्ति लोकप्रिय बनता है । ऐसे शान्त व्यक्ति से सभी प्रेम करना चाहते हैं ।

इस प्रकार क्रोध के प्रसंग में, क्रोध से होने वाले नुकसानों का विचार किया जाय तो व्यक्ति अवश्य ही क्रोध कषाय से बच सकता है और अपनी आत्म-हानि को रोककर आत्म-लाभ प्राप्त कर सकता है ।

अनुचितमिह कलहं सतां,
त्यज समरसमीन ।
भज विवेककलहंसतां,
गुणपरिचयपीन ।।विनय० 182।।

अर्थ :- हे समत्वरस के मीन ! सज्जनों के लिए कलह अनुचित है, अतः तू उसका त्याग कर । सद्गुण के परिचय से पुष्ट बने हे चेतन ! तू विवेकरूपी कल हंसता को भज । (अर्थात् हंस की तरह विवेकी बन) ।।182।।

विवेचन

कलह का त्याग करो

हे आत्मन् ! सज्जन व्यक्ति के लिए कलह करना उचित नहीं है । कलह और क्लेश से आत्मा के परिणाम बिगड़ते हैं और आत्मा दुर्ध्यान करती है । दुर्ध्यान से दुष्कर्म का बन्ध होता है और दुष्कर्म से आत्मा की दुर्गति होती है । अतः हे आत्मन् ! तू समतारस का पान कर । समत्व की साधना से आत्मा अल्पकाल में ही कर्मबन्धन से मुक्त बन जाती है । ममत्व के कारण कलह पैदा होती है और समत्व के कारण मैत्री पैदा होती है ।

ममता कर्मबन्धन का हेतु है ।
समता कर्ममुक्ति का मार्ग है ।
कलह कर्मबन्धन का हेतु है ।
मैत्री कर्म-मुक्ति की हेतु है ।

मानसरोवर के हंस की यह विशेषता होती है कि जलमिश्रित दूध देने पर भी वह जल और दूध का भेद कर देता है । उसकी चोंच में यह विशेषता होती है कि वह दूध का पान कर लेता है और जल को छोड़ देता है ।

हे आत्मन् ! तू मानसरोवर के हंस की तरह विवेक को धारण कर; उस विवेक के द्वारा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार कर और कलह का त्याग कर, समतारस का पान कर। इस हेतु तू गुणवान व्यक्तियों का संग कर। गुणवानों के संग से अपनी आत्मा में भी गुण का रंग आता है और आत्मा गुणों से पुष्ट बनती है।

हे आत्मन् ! गुण के परिचय/संग से पुष्ट बनकर तू विवेक को धारण कर। ममता का त्याग कर, कलह-वृत्ति का त्याग कर और समतारस का पान कर। समत्व के आसेवन से हे आत्मन् ! तू कर्म के बन्धन से मुक्त हो सकेगा।

विवेकी व्यक्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद कर सकता है और कर्त्तव्य का आचरण और अकर्त्तव्य का त्याग कर सकता है। अतः हे आत्मन् ! तू विवेक को धारण कर, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद कर, उन्मार्ग का त्याग कर और सन्मार्ग का आचरण कर।

शत्रुजनाः सुखिनः समे,
मत्सरमपहाय।
सन्तु गन्तुमनसोऽप्यमी,
शिव - सौख्यगृहाय ।।विनय० 183।।

अर्थ :- मत्सर भाव का त्याग कर सभी शत्रुजन भी सुखी बनें और शिवसुख के गृह रूप मुक्ति-पद की प्राप्ति के लिए इच्छुक बनें ।।183।।

विवेचन

सभी आत्माएँ सभी की हितैषी बनें

हे आत्मन् ! तू इस प्रकार की भावना कर कि इस दुनिया में जो शत्रुजन हैं, वे भी अपनी शत्रुता/मत्सर भाव का त्याग कर सुखी बनें।

मत्सर भाव-ईर्ष्या भाव व्यक्ति को दुःखी करता है। ईर्ष्या ऐसी आग है, जो अन्तःकरण को जलाती है। ईर्ष्या की आग से सन्तप्त बनी आत्मा, अपने सुकृतों का लोप करती है, और पुण्य को समाप्त करती है।

उन शत्रुजनों के हृदय में भी मुक्ति पाने की भावना जागृत हो और

वे भी मुक्ति पाने के लिए उत्कण्ठित बनें । इस प्रकार की शुभ भावना के भावन से आत्मा में शुभ भाव पैदा होता है और आत्मा क्रमशः शुद्ध बनती जाती है ।

स्व-सुख की प्राप्ति की इच्छा तो जगत् में सर्व प्राणियों के हृदय में है, परन्तु सर्व के सुख की इच्छा करने वाले विरल ही होते हैं । स्व सुख की इच्छा स्वार्थवृत्ति है, सर्व-सुख की इच्छा परार्थवृत्ति है ।

जब हृदय में शत्रु के कल्याण की कामना पैदा होती है, तब आत्मा का वास्तविक विकास होता है । शत्रु के कल्याण की भावना होना सरल बात नहीं है । द्वेष भाव इस प्रकार की भावना में बाधक है । जब हृदय में द्वेष की मन्दता होती है, तभी अन्य (शत्रु) के कल्याण की कामना पैदा हो सकती है ।

शास्त्र में भी कहा है-**'भावना भवनाशिनी'** । सर्व जीवों के प्रति मैत्री आदि भावनाओं के भावन से अपनी आत्मा का परिभ्रमण टलता है ।

दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व महाराजा गुणसेन ने **'रात्रि प्रतिमा'** स्वीकार की थी और उसी रात्रि में देव बने अग्निशर्मा (विद्युत् कुमार) ने गर्मागर्म रेती की वृष्टि कर गुणसेन राजा पर मरणान्त उपसर्ग किया था । इस मरणान्त उपसर्ग में भी गुणसेन महाराजा ने सर्व जीवों के प्रति मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित किया था और इसके साथ **'अग्निशर्मा'** को याद कर विशेषकर उससे क्षमायाचना की थी । अग्निशर्मा ने गुणसेन राजा को अपना दुश्मन माना, परन्तु गुणसेन महाराजा ने अग्निशर्मा को अपना दुश्मन नहीं माना, बल्कि मित्र ही माना ।

शत्रु के प्रति भी मैत्री भाव को धारण करने से गुणसेन की आत्मा ने अल्प भवों में ही अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया और अग्निशर्मा की आत्मा ने गुणसेन राजा के प्रति द्वेष भाव को धारण कर अपनी आत्मा का अनन्त संसार बढ़ा लिया ।

मैत्री आदि भावना के भावन में न तो धन का खर्च है और न ही काया कष्ट है । बस, एक मात्र विचारों की उदारता धारण करनी है । इस प्रकार संकीर्ण विचारों की दरिद्रता का त्याग करने से और शत्रु आदि के भी कल्याण की कामना से अपनी आत्मा अल्प काल में ही शुद्ध बनने लगती है ।

सकृदपि यदि समतालवं,
हृदयेन लिहन्ति ।
विदितरसास्तत इह रतिं,
स्वत एव वहन्ति ।।विनय० 184।।

अर्थ :- एक बार भी प्राणी यदि समता के सुख का आस्वादन कर लेता है, तो फिर उस सुख को जानने के बाद स्वतः समत्वरस की प्रीति पैदा होती है ।।184।।

विवेचन

समता के प्रति प्रीति रखो

एक बार मफतलाल सेठ को अपने ससुराल जाना था । वे अपने घर से पैदल ही निकल पड़े, परन्तु मार्ग भूल गए । उन्हें एक ग्रामीण दिखाई दिया । उन्होंने उस ग्रामीण को कहा-``भाई ! तू मुझे अमुक गाँव का रास्ता बताएगा ? यदि तू मेरे साथ चलेगा तो तुझे..... ।''

``हाँ ! आप कहाँ जा रहे हैं ?'' ग्रामीण ने पूछा ।

सेठ ने कहा-``मैं अपने श्वसुरगृह जा रहा हूँ ।''

``तो मुझे आप गुड़ की राब खिलाओगे ?''

सेठ ने कहा-``जरूर ।''

``अच्छा ! तो मैं आपके साथ चलता हूँ ?'' ग्रामीण ने कहा ।

मफतलाल सेठ उस ग्रामीण के मार्गनिर्देशानुसार अपने श्वसुर के गाँव पहुँच गए । सेठजी के वहाँ पहुँचने पर उनका भव्य स्वागत किया गया और उनके लिए सुन्दर पकवान युक्त भोजन बनाया गया ।

सेठ भोजन करने बैठे । साथ में आए ग्रामीण के लिए भी भोजन का थाल परोसा गया । थाल में गुलाबजामुन, हलवा, बर्फी आदि विविध मिष्टान्न थे । उस ग्रामीण ने थाल में गुड़ की राब नहीं देखी तो उसको बड़ा गुस्सा आ गया, उसने कहा-``से.....ठ.....जी ! गुड़ की राब कहाँ है ?''

उसके इस प्रश्न को सुनकर सेठ ने सोचा-``बेचारे ने कभी गुड़ की राब को छोड़ इन मिष्टान्नों का स्वाद कहाँ चखा है ?'' ज्योंही उस ग्रामीण ने

बोलने के लिए अपना मुँह खोला-सेठ ने उसके मुँह में एक गुलाबजामुन डाल दिया ।

बस ! अब क्या था ?

गुलाबजामुन का स्वाद वह जान गया था । थोड़ी ही देर में उसने वह थाली साफ कर दी ।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि समतारस का स्वाद भी ऐसा है, जिसकी एक बार अनुभूति हो जाने के बाद, उसके आस्वादन की इच्छा स्वतः पैदा होती है । प्रशमरस के सुख का आनन्द कुछ अनोखा ही है । इस सुख के अनुभव के बाद व्यक्ति की भौतिक इच्छाएँ मन्द हो जाती हैं । वास्तव में, समतारस एक ऐसा सुख है, जिसका एक बार स्वाद लेने के बाद व्यक्ति कभी उसे छोड़ना नहीं चाहेगा । इस सुख के आस्वादि के लिए हृदय को मैत्री भाव से ओतप्रोत करना अनिवार्य है । सच पूछो तो मैत्री भावना ही समत्व की जननी है । मैत्री भाव के अभाव में हृदय में समता की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

सम्यक्ज्ञान से सम्यक् इच्छा पैदा होती है और सम्यक् इच्छा होने पर उसकी प्राप्ति के लिए योग्य पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है, यदि समता के सुख का ज्ञान हो जाय तो उसको पाने की इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी और उसे पाने की तीव्र इच्छा होगी तो उसकी प्राप्ति भी अवश्य होगी ।

किमुत कुमतमदमूर्च्छिताः,
दुरितेषु पतन्ति ।
जिनवचनानि कथं हहा,
न रसादुपयन्ति ।।विनय० 185।।

अर्थ :- कुमत रूपी मद से मूर्च्छित बनकर प्राणी दुर्गति के गर्त में क्यों पड़ते हैं ? वे जिनवचन रूप अमृत रस का प्रेम से पान क्यों नहीं करते हैं ? ।। 185 ।।

विवेचन

जिनवचन रूपी अमृत का पान करो

अहो ! इस संसार में वे जीव दया के पात्र हैं, जिनको जिनवचन श्रवण की सुलभता होने पर भी वे उसका लाभ नहीं उठाते हैं ।

सरोवर के निकट होने पर भी कोई प्यासा मर जाय; भोजन होने पर भी कोई भूखा मर जाय; इसी प्रकार जिनवाणी के श्रवण की सुलभता मिलने पर भी जो आत्माएँ उसकी उपेक्षा करती हैं, उन आत्माओं की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है ।

जिनवचन तो अमृतरस के समान हैं, जिनके श्रवण से आत्मा की अनादि की तृषा शान्त हो जाती है । जिनवाणी के श्रवण से ही संसार की वास्तविक स्थिति का बोध होता है ।

लोहखुर चोर ने अपने पुत्र रोहिणेय को महावीर वाणी का श्रवण नहीं करने की प्रतिज्ञा कराई थी । रोहिणेय चोर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल था और कभी भी महावीर वाणी का श्रवण नहीं करता था । एक बार वह राजगृही की ओर जा रहा था, मार्ग में भगवान महावीर समवसरण में बैठकर देशना दे रहे थे । रोहिणेय ने अपने कानों में अंगुली डाल ली और वह चल पड़ा । परन्तु चलते हुए उसके पैर में एक तीक्ष्ण काँटा चुभ गया, उस काँटे को निकालने के लिए उसने एक कान पर से एक हाथ हटाया और इसी बीच प्रभु की वाणी उसके कानों में पड़ी । प्रभु उस समय देवों के स्वरूप का वर्णन कर रहे थे । रोहिणेय को अनचाहे वह वाणी सुननी पड़ी । परन्तु उस वाणी ने उसे मौत के मुँह में जाने से बचा लिया । उसे फँसाने के लिए अभयकुमार ने षड्यंत्र रचा था, परन्तु प्रभु महावीर की वाणी के कारण उस जाल में से वह बच गया ।

इसके बाद उसने सोचा `अनचाहे भी मैंने प्रभु महावीर की वाणी सुनी.....और उसने मेरे प्राण बचा दिए.....यदि मैं उनके प्रति पूर्ण समर्पित बन जाऊँ तो.....अवश्य ही इस भवसागर से तिर जाऊँगा'.....और उसने प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण कर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया ।

प्रभु की वाणी अमृतवाणी है । शास्त्र में कहा गया है-प्रभु की वाणी के श्रवण से छह मास की भूख और प्यास भी शान्त हो जाती है । आत्मा के समस्त सन्देहों को छेदने वाली यह जिनवाणी है ।

जिनवाणी का भावपूर्वक पान करने वाली आत्मा अल्पभवों में ही भव-

सागर से पार हो जाती है ।

अपूर्व महिमा है जिनवाणी श्रवण की । भोगी को योगी और शैतान को सन्त बनाने वाली यह जिनवाणी है ।

किन्तु कुमत मद की मदिरा का पान करने वाले इस जिनवाणी के अमृत का पान नहीं कर पाते हैं और वे कुमत की मदिरा का पान कर अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में धकेल देते हैं ।

बेचारी वे आत्माएँ दया की पात्र हैं, जो अमृत का त्याग कर कुमत मत की मदिरा का पान कर रही हैं ।

परमात्मनि विमलात्मना,
परिणम्य वसन्तु ।
विनय समामृतपानतो,
जनता विलसन्तु ।।विनय० 186।।

अर्थ :- हे विनय ! (तू यह चिन्तन कर) निर्मल आशय वाले जीवों के मन परमात्म-स्वरूप में मग्न बनें तथा जगत् के प्राणी समता रूपी अमृत रस का पान कर सदा सुखी बनें ।।186।।

विवेचन

जगत् के सभी जीव सुखी बनें

हे आत्मन् ! तू इस प्रकार की भावना से अपनी आत्मा को भावित कर कि सभी निर्मल आत्माओं के हृदय में परमात्मा का वास हो ।

जिसके हृदय में परमात्मा का वास है, अर्थात् जो निरन्तर परमात्मा का ध्यान करता है, उसके हृदय में मलिन भावनाएँ/वासनाएँ पैदा ही नहीं होती हैं । वह आत्मा, परमात्म-स्वरूप के ध्यान से परमात्ममय बन जाती है ।

आत्मा अपने उपयोग के अनुसार तदाकार रूप में परिणत होती है । अशुभ/अशुद्ध वस्तु के चिन्तन से अपनी आत्मा भी अशुद्ध व अपवित्र बनती है और सर्वकर्ममल से मुक्त परमात्मा के ध्यान से अपनी आत्मा भी निर्मल

स्वरूप को प्राप्त होती है ।

इस विश्व में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व तारक तीर्थंकर परमात्मा ही है । उनके ध्यान में तन्मय बनने से अपनी आत्मा भी निर्मल स्वरूप को प्राप्त करती है ।

एक बार महान् साहित्यकार टॉलस्टॉय किसी गरीब की झोंपड़ी में पहुँचे । उस झोंपड़ी में खड़े एक व्यक्ति से उन्होंने पूछा-`यह किसका घर है ?'

उसने कहा-`एक धनी का ।'

जवाब सुनकर टॉलस्टॉय को बड़ा आश्चर्य हुआ-`धनी का घर और ऐसा जीर्ण शीर्ण ?' उसने कहा-`यह कैसे ?'

उस व्यक्ति ने कहा-`जिस झोंपड़ी में विश्व के महान् साहित्यकार टॉलस्टॉय खड़े हैं, वह घर गरीब का कैसे हो सकता है ?'

यह जवाब सुनकर टॉलस्टॉय प्रसन्न हो गए और उन्होंने उस गरीब का दारिद्रय दूर कर दिया ।

बस, इसी प्रकार जिसके हृदय में परमात्मा का वास है, उसके जीवन में दीनता/हीनता की भावना कैसे आ सकती है !

जिसके हृदय में परमात्मा का वास है, वह व्यक्ति तो विश्व में सबसे अधिक धनाढ्य है ।

हे आत्मन् ! इस संसार में जितनी भी निर्मल आत्माएँ हैं, उन सबके हृदय में परमात्मा का वास हो और वे सब समता रूपी अमृत का पान कर सदा सुख में लीन बनी रहें ।

14 प्रमोद भावना

धन्यास्ते वीतरागाः क्षपकपथगतिक्षीणकर्मोपरागा-
स्त्रैलोक्ये गन्धनागाः सहजसमुदितज्ञानजाग्रद्विरागाः ।
अध्यारुह्यात्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा-
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जितार्हन्त्यलक्ष्मीम् ।।187।।

(स्त्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ :- क्षपकश्रेणि के द्वारा जिन्होंने कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर दिया है, साहजिक और निरन्तर उदय प्राप्त ज्ञान से जागृत वैराग्यवन्त होने से त्रिलोक में जो गन्धहस्ती के समान हैं, ऐसे वीतराग परमात्मा, जो अपनी आत्मशुद्धि से चन्द्रकला के समान निर्मल ध्यान धारा पर आरूढ़ होकर, पूर्वकृत सुकृतों से उपार्जित तीर्थंकर पदवी को प्राप्त कर मोक्ष के निकट जा रहे हैं, वे धन्य हैं ।।187।।

विवेचन

तीर्थंकर परमात्मा धन्य हैं

इस भीषण संसार में आत्मगुणों के विकास के लिए गुणानुराग/प्रमोद भावना अनिवार्य है । गुण के अनुराग बिना आत्मगुणों का विकास सम्भव नहीं है । परन्तु इस संसार में **'ईर्ष्या'** एक ऐसा तत्त्व है, जो जीवात्मा के गुणानुरागी बनने में अत्यन्त बाधक है । ईर्ष्यालु व्यक्ति पर के उत्कर्ष को सहन नहीं कर पाता है ।

व्यक्ति को जितना आनन्द स्व-प्रशंसा, स्व-मान और स्व-कीर्ति के श्रवण आदि में आता है, उतना आनन्द उसे अन्य की प्रशंसा आदि सुनने में नहीं आता है । इस सन्दर्भ में एक घटना याद आ जाती है ।

किसी नगर में हरिशंकर नामक व्यक्ति रहता था । उसकी स्थिति अत्यन्त सामान्य थी । नगर के बाहर किसी चमत्कारी यक्ष का मन्दिर था ।

हरिशंकर ने सोचा-``बड़ी कठिनाई से दिन गुजर रहे हैं, तो क्यों न मैं उस यक्ष को प्रसन्न करूँ ?'' ऐसा विचार कर वह पूजा की सामग्री लेकर यक्षमंदिर में चला गया । उसने अत्यन्त भक्तिपूर्वक यक्ष की पूजा की । इस प्रकार वह निरन्तर 7 दिन तक उस यक्ष की पूजा करता रहा ।

सातवें दिन यक्ष प्रसन्न हो गया । यक्ष ने कहा-``तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी, परन्तु तुम्हें जितना मिलेगा, उससे दुगुना तुम्हारे पड़ोसी `रविशंकर' को मिलेगा ।''

रविशंकर की बात सुनकर हरिशंकर विचार में पड़ गया-``अहो ! उसे मुझ से दुगुना ?''

संसार की यह कितनी विचित्रता है ! उसे स्व सुख में जितना आनन्द है, उतना अन्य के सुख में नहीं है ।

हरिशंकर के दिल में रविशंकर के प्रति ईर्ष्या पैदा हो गई, परन्तु वह कर भी क्या सकता था । उसने यक्ष की बात स्वीकार कर ली ।

घर आकर उसने अपने नवीन भवन के निर्माण के लिए यक्ष से प्रार्थना की । तत्काल यक्ष ने उसके लिए एकमंजिले भवन का निर्माण कर दिया.....और इसके साथ ही रविशंकर के लिए दो मंजिला भवन भी तैयार कर दिया ।

हरिशंकर ने अपने लिए एक हजार मोहरें माँगीं, उसी समय उसे हजार सोना मोहरें.....मिल गईं, परन्तु रविशंकर को उससे दुगुनी मिल गईं ।

इस प्रकार रविशंकर को हर वस्तु दुगुनी-दुगुनी मिलने से हरिशंकर का मन ईर्ष्या से जलने लगा ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य के उत्कर्ष को देखकर बहुत जलता है । वह अपने दुःख को सहन कर लेगा, किन्तु अन्य के उत्कर्ष को सहन नहीं कर पाता है । ईर्ष्यालु व्यक्ति अपना थोड़ा नुकसान करके भी अन्य का बड़ा नुकसान करना चाहता है । हरिशंकर ने यक्ष से प्रार्थना की कि **'मेरे घर के सामने एक कुआ खोदा जाय ।'** तत्काल यक्ष ने उसके घर के सामने एक कुआ खोद दिया और पड़ोसी रविशंकर के घर के सामने दो कुए खोद दिये ।

फिर उसने यक्ष से प्रार्थना की-``मेरी एक आँख फोड़ दी जाय ।'' यक्ष ने उसकी एक आँख फोड़ दी और इसके साथ ही रविशंकर की दोनों आँखें फोड़ दीं ।

खुद काना बन गया, परन्तु उसे इस बात का अधिक दुःख नहीं था, किन्तु पड़ोसी अन्धा हो गया, इस बात का उसे अत्यन्त हर्ष था । थोड़ी देर बाद अन्धा रविशंकर ज्योंही अपने घर से बाहर निकला, वह कुए में गिर पड़ा ।

रविशंकर का जीवन-दीप बुझ गया, परन्तु इससे हरिशंकर को अत्यन्त ही आनन्द हुआ ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य को दुःखी देखकर ही सुख पाता है ।

प्रमोद भावना का मुख्य विषय है-अन्य के गुण को देखकर, अन्य के सुख आदि को देखकर प्रसन्न बनना ।

अन्य के गुण देखकर वही व्यक्ति प्रसन्न बन सकता है, जिसमें गुणानुराग हो, जिसके हृदय में प्रमोद भावना विकसित बनी हो ।

गुणानुराग एक ऐसा चुम्बक है, जो दूर रहे गुण को खींचकर निकट ले आता है ।

गुणानुरागी ही गुणवान बन सकता है । गुणवान बनने के लिए गुणानुरागी बनना अनिवार्य है ।

आज गुण-प्राप्ति के लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, परन्तु गुणानुरागी बनने के लिए नहीं । इसका यही फल होता है कि या तो व्यक्ति गुण प्राप्त ही नहीं कर पाता है अथवा गुणाभास में गुण की कल्पना कर बैठता है ।

जब तक दोषदृष्टि है, तब तक गुणानुरागी बनना सम्भव नहीं है, गुणानुरागी बनने के लिए गुणदृष्टि का विकास अनिवार्य है ।

एक बार कृष्ण महाराजा ने युधिष्ठिर को कहा-``जाओ ! इस नगर में जितने भी खराब व्यक्ति हैं, उनके नाम लिखकर लाओ ।'' युधिष्ठिर कागज और कलम लेकर चल पड़े ।

थोड़ी देर बाद कृष्ण महाराजा ने दुर्योधन को कहा-``जाओ ! इस नगर में जितने अच्छे व्यक्ति हैं, उनके नाम लिखकर ले आओ ।''

युधिष्ठिर पूरे नगर में घूमे, परन्तु कहीं भी उन्हें एक भी खराब व्यक्ति नजर नहीं आया । सभी व्यक्तियों में उन्हें कोई-न-कोई गुण दिखाई देता, इस कारण वे एक भी व्यक्ति का नाम नहीं लिख पाए । उनका कागज वैसा ही कोरा था ।

दुर्योधन भी नगर में घूमा, परन्तु दोष-दृष्टि के कारण उसे एक भी व्यक्ति अच्छा या गुणवान नजर नहीं आया । हर व्यक्ति में उसे कोई-न-कोई दोष नजर आ जाता, इस कारण उसने भी किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिखा ।

दूसरे दिन युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों राजसभा में उपस्थित हुए, परन्तु दोनों के कागज कोरे देखकर कृष्ण महाराजा के आश्चर्य का पार न रहा ।

उन्होंने यही निर्णय लिया कि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है, उसे वह वस्तु वैसी ही दिखाई देती है । गुणदृष्टि वाले को सर्वत्र गुण ही दिखाई देते हैं और दोषदृष्टि वाले को सर्वत्र दोष ही दिखाई देते हैं ।

'पंचसूत्र' में कहा गया है-**'अन्य के सुकृत की अनुमोदना करने से, उनके गुणों के प्रति प्रमोदभाव धारण करने से अपनी भवितव्यता का परिपाक होता है अर्थात् आत्मा में मुक्ति-गमन की योग्यता प्रगट होती है ।'**

यह प्रमोदभाव जगत् में रहे हुए समस्त गुणवान जीवों के प्रति होना चाहिए ।

ग्रन्थकार महर्षि **'प्रमोद भावना'** के प्रारम्भ में सर्वप्रथम सर्वगुण सम्पन्न और सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति के भोक्ता तीर्थंकर परमात्मा के गुणों का कीर्त्तन करते हुए फरमाते हैं कि क्षपकश्रेणि पर चढ़कर कर्मों का क्षय करने वाले तीर्थंकर भगवन्तों की जय हो ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के क्षय और उपशमन के लिए क्रमशः क्षपकश्रेणि और उपशमश्रेणि है । क्षपकश्रेणि के द्वारा आत्मा उन घातिकर्मों का मूल से क्षय करती है और एक बार उन घातिकर्मों का क्षय हो जाने के बाद आत्मा पुनः उन कर्मों को नहीं बाँधती है, जबकि उपशमश्रेणि के द्वारा आत्मा कर्मों का मात्र उपशमन करती है । इस उपशमश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त ही है । उस अन्तर्मुहूर्त काल की समाप्ति के बाद आत्मा उस उपशमश्रेणि से नीचे उतर आती है और पुनः उन कर्मों का बन्ध प्रारम्भ कर देती है । उपशान्त वीतराग बनी आत्मा कुछ देर के बाद पुनः रागी बन जाती है, जबकि क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर आत्मा ने जिन कर्मों का क्षय कर दिया है, वह आत्मा उन कर्मों का पुनः बंध नहीं करती है । क्षपकश्रेणिगत आत्मा मोहनीयादि कर्मों का क्षय कर पूर्ण वीतराग बन जाती है ।

वीतराग बन जाने के बाद उस महान् आत्मा को संसार के पदार्थों के प्रति न तो राग होता है और न ही द्वेष ।

ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाने से वे परमात्मा सर्वज्ञ बन जाते हैं । उन्हें जगत् के समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों का साक्षात् ज्ञान होता है । वे सम्पूर्ण जगत् को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं ।

ऐसे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को धन्य हो, जो अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग प्रदर्शित करते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा को **'शक्र-स्तव'** के अन्तर्गत **'गन्धहस्ती'** की उपमा दी गई है । जिस प्रकार गन्धहस्ती के आगमन के साथ अन्य हस्ती दूर-सुदूर पलायन कर जाते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर परमात्मा जहाँ-जहाँ विचरते हैं, वहाँ से मारी, मरकी, रोग, शोक, दुष्काल आदि सभी उपद्रव दूर हो जाते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा को जन्म से ही साहजिक वैराग्य होता है । पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करने के बाद जब वे देव के भव में होते हैं, तब देवलोक की दिव्य समृद्धि में भी उनकी आत्मा जल-कमलवत् सर्वथा अलिप्त रहती है । संसार के दिव्य सुखों में उन्हें लेश भी राग नहीं होता है । अन्तिम भव में ही धन-धान्य व राज्य समृद्धि से समृद्ध होने पर भी उनका मन वैराग्यरंग से इतना अधिक रंजित होता है कि भोगावली कर्म के उदय से संसार के दिव्य सुख भोगते हुए भी वे लेश भी कर्म का बन्ध नहीं करते हैं, बल्कि उन कर्मों की निर्जरा ही करते हैं, अर्थात् उनके जीवन में ज्वलन्त वैराग्य होने से वे हर प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों की निर्जरा ही करते हैं ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद जब परमात्मा ध्यान में लीन बनते हैं, तब उनकी ध्यान-साधना भी अपूर्व होती है । वे घंटों निरन्तर ध्यान में लीन रहते हैं । भयंकर उपसर्गों में भी वे अपनी ध्यान-धारा से चलित नहीं होते हैं ।

संगमदेव ने एक ही रात्रि में भगवान महावीर पर भयंकर उपसर्ग बीस बार किए थे.....यहाँ तक कि उसने प्रभु पर **'कालचक्र'** भी फेंक दिया था.....परन्तु फिर भी वह देव भगवान महावीर को ध्यान से चलित नहीं कर सका ।

भगवान महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के बाद 12– वर्ष तक त्याग-तप और ध्यान की साधना की । इन 12– वर्षों में भगवान महावीर एक अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण ही निद्राधीन (प्रमादावस्था) रहे, शेष समस्त काल उन्होंने शुभ-ध्यान में बिताया था ।

निर्मल शुक्लध्यान की धारा पर आरूढ़ होकर जब परमात्मा ने समस्त घातिकर्मों का क्षय कर दिया, उसके साथ पूर्व के तीसरे भव में उपार्जित **'तीर्थंकर नामकर्म'** उदय में आ गया । इस नामकर्म के प्रभाव से परमात्मा के 34 अतिशय और उनकी वाणी के 35 अतिशय प्रगट हो गए ।

अमृतपान के समान उस वाणी का श्रवण करते ही आत्मा तृप्त बन जाती है । छह माह की भूख-प्यास शान्त हो जाती है । उनकी वाणी में ऐसा अतिशय होता है कि सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में प्रभु की वाणी को समझ जाते हैं । आजन्म वैरी प्राणी भी अपने समस्त वैर-भावों को भूलकर एक मित्र की भाँति पास-पास में बैठ जाते हैं । ऐसे अनन्त गुणों के स्वामी तीर्थंकर परमात्मा का हम क्या गुणकीर्तन करें ? बृहस्पति भी उनके समस्त गुणों का कीर्तन करने में समर्थ नहीं है । ऐसे अनन्तज्ञान व शक्ति के पुञ, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर परमात्मा के समस्त सुकृतों की हम हार्दिक अनुमोदना करते हैं ।

तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनु - गुणगणैर्निर्मलात्मस्वभावै-
र्गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णास्पदानि ।
धन्यां मन्ये रसज्ञां जगति भगवतस्तोत्रवाणीरसज्ञा-
मज्ञां मन्ये तदन्यां वितथजनकथां कार्यमौखर्यमग्नाम् ।।188।।

(स्त्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ :- कर्मक्षय से उत्पन्न अनेक गुणों के समूह वाले, निर्मल आत्म-स्वभाव द्वारा परमात्मा की स्तवना में तल्लीन परिणति द्वारा बारम्बार प्रभु के गुणगान करके, आठ वर्ण के उच्चार स्थानों को हम पवित्र करते हैं तथा जगत् में भगवन्त के स्तोत्र वाणी के रस को जानने वाली जीभ को मैं रसज्ञा (जीभ) कहता हूँ, शेष लोककथा के कार्य में वाचाल बनी जीभ को मैं जड़ ही समझता हूँ ।।188।।

विवेचन

जीभ की सफलता किसमें ?

घातिकर्मों के क्षय से परमात्मा में अनेक गुणों का आविर्भाव हुआ है । उन समस्त गुणों का कथन या वर्णन इस लेखनी द्वारा अशक्य/असम्भव है ।

कोई केवलज्ञानी भी तीर्थंकर परमात्मा के समस्त गुणों का वर्णन करने में असमर्थ है, तो फिर अपनी तो ताकत ही क्या है ?

कलिकालसर्वज्ञ जैसे महर्षि भी प्रभुस्तवना के लिए अपने आपको पशुतुल्य मानते हैं । उन्होंने लिखा है-

क्वाहं पशोरपि पशुर्वीतरागस्तव क्व च ?

फिर भी इस जीवन में इस जिह्वा की सफलता परमात्मा के गुण-कीर्तन में ही है । महान् पुण्योदय से हमें इस जिह्वा की प्राप्ति हुई है । जिह्वा तो पशुओं को भी मिली है, परन्तु वे जीभ से एक ही काम करते हैं-खाने का । परन्तु मनुष्य उस जिह्वा के द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकता है ।

परमात्मा की गुण-स्तवना से बढ़कर इस जिह्वा का सच्चा सदुपयोग और क्या हो सकता है ?

वाणी के उच्चारण में जिह्वा के साथ-साथ अन्य स्थानों की भी आवश्यकता रहती है । वाणी के उच्चारण-स्थल आठ हैं-कण्ठ, तालु, मूर्धन्, दंत, ओष्ठ, जिह्वा, उर और नासिका । इन आठ स्थानों से स्वर-व्यंजनों का उच्चारण होता है । ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि इस जीवन में वाणी के उन आठ उच्चार-स्थलों की सफलता उन अनन्तज्ञानी परमात्मा के गुण-कीर्तन में ही है ।

किसी स्तवनकार ने कहा है-

'जे जीभ जिनवर ने स्तवे, ते जीभ ने पण धन्य छे' ।

जिस जीभ ने परमात्मा के गुणों का स्तवन नहीं किया, वह जीभ हकीकत में जीभ नहीं है, बल्कि जड़ ही है अर्थात् वह जीभ व्यर्थ है, जिस जीभ से परमात्मा की स्तवना नहीं होती ।

निर्ग्रन्थास्तेऽपि धन्या गिरिगहनगुहागह्वरान्तर्निविष्टा-
धर्मध्यानावधानाः समरससुहिताः पक्षमासोपवासाः ।
येऽन्येऽपि ज्ञानवन्तः श्रुतविततधियो दत्तधर्मोपदेशाः,
शान्ता दान्ता जिताक्षा जगति जिनपतेः शासनं भासयन्ति ।189।

(स्त्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ :- पर्वत, जंगल, गुफा तथा निकुंज में रहते हुए धर्मध्यान में दत्तचित्त रहने वाले, शमरस से सन्तुष्ट, पक्ष और मास (क्षमण) जैसे विशिष्ट तप करने वाले (महामुनियों को) तथा श्रुतज्ञान से विशाल बुद्धि वाले, उपदेशक, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय बनकर जो प्रभु-शासन की प्रभावना करते हैं, उन निर्ग्रन्थ मुनियों को भी धन्य है ।।189।।

विवेचन

निर्ग्रन्थ मुनियों को धन्य हो

ग्रन्थकार महर्षि पूर्वोक्त दो गाथाओं में तीर्थंकर परमात्मा के गुणों की अनुमोदना करके अब निर्ग्रन्थ गुरुतत्त्व के सुकृतों की अनुमोदना करते हुए फरमाते हैं कि उन महात्माओं को धन्य हो, जो संसार के समस्त बंधनों से मुक्त बनकर पर्वत, जंगल, गुफा अथवा किसी लतागृह में रहकर आत्मध्यान में लीन बने हुए हैं ।

आत्मध्यान में लीन बनने के लिए बहिर्भाव का त्याग अनिवार्य है । बहिर्भाव के त्याग के लिए बाह्य लोकसम्पर्क का भी त्याग हितकर ही है । लोकसम्पर्क का त्याग कर व्यक्ति ज्यों-ज्यों आत्म-तत्त्व के विचार में तल्लीन बनता है, त्यों-त्यों उसकी अन्तर्दृष्टि खुलने लगती है । आत्मध्यान में लीन बनने के लिए गिरि-गुफा आदि एकान्त स्थल सहायक बनते हैं । अपनी आत्मा के परिणाम निमित्ताधीन हैं । शुभ निमित्त के संग से हमारे मन में शुभ विचार/शुभ भाव आते हैं और अशुभ निमित्त के संग से अशुभ भाव । अतः अशुभ भावों से बचने के लिए अशुभ निमित्तों से दूर रहना भी आवश्यक है ।

प्राचीन समय में श्रमण-जीवन का अधिकांश भाग गिरि-गुफा व उद्यान में ही व्यतीत होता था, जहाँ उन्हें प्रायः अशुभ निमित्त नहीं मिलते थे, अतः वे आत्मध्यान में शीघ्र ही तल्लीन बन जाते थे ।

स्थूलभद्र महामुनि के चरित्र आदि पढ़ते हैं, तब पता चलता है कि उस समय कई मुनि कुए के घेरे की दीवार पर कायोत्सर्ग में खड़े रहकर चातुर्मास व्यतीत कर देते थे, कई मुनि सिंहगुफाओं के पास रहकर चातुर्मास व्यतीत करते थे । इस प्रकार अन्तरंग साधना के बल से वे अल्प समय में ही अपना आत्मकल्याण कर लेते थे ।

उन महात्माओं को धन्य है, जो सदैव धर्मध्यान में तल्लीन रहते हैं ।

अनादिकाल से आत्मा में संसार के सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष के तीव्र संस्कार होने के कारण वह आर्त्त और रौद्रध्यान में शीघ्र डूब जाती है ।

आर्त्तध्यान अर्थात् स्व-पीड़ा के निवारण और स्व-सुख की प्राप्ति की सतत चिन्ता ।

जब तक सांसारिक पदार्थों के प्रति राग और आकर्षण होगा, तब तक आत्मा आर्त्तध्यान के चंगुल से मुक्त नहीं बन सकती ।

धर्मध्यान हमें **'पर'** से हटाकर **'स्व'** की ओर ले जाता है । जिनाज्ञा का चिन्तन, जगत् के सर्व जीवों के सुख की कामना आदि धर्मध्यान है । धर्मध्यान में लीन हुए बिना आर्त्तध्यान का नाश सम्भव नहीं है ।

धन्य है उन महात्माओं को, जो आर्त्तध्यान से सर्वथा मुक्त बनकर धर्मध्यान में लीन बने हुए हैं ।

धर्मध्यान के साथ-साथ वे महात्मा प्रशमरस में निमग्न भी हैं । वे क्रोध की आग से सर्वथा मुक्त बन चुके हैं । प्रतिकूल प्रसंगों में भी उनकी चित्त-प्रसन्नता वैसी ही बनी रहती है । क्षमा गुण को उन्होंने इतना आत्मसात् कर लिया है कि भयंकर उपसर्ग और उपद्रव में भी वे अपने स्वभाव से चलित नहीं होते हैं । कोई समुद्र में पत्थर भी फेंकता है, परन्तु इससे समुद्र में खलबलाहट नहीं मचती है, वह तो उस पत्थर को भी अपने में समा लेता है । बस, इसी तरह धीर, गम्भीर महात्मा भी सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी धीरता-गम्भीरता का त्याग नहीं करते हैं ।

प्रशमरस की निमग्नता के साथ-साथ वे महात्मा तपस्वी भी होते हैं। उनके जीवन में नाना प्रकार की तपस्याएँ चालू ही होती हैं । बाह्य और अभ्यन्तर तप की उत्कृष्ट साधना से वे कर्म रूपी मैल को जलाकर भस्मसात् कर देते हैं । इसके फलस्वरूप उनकी आत्मा में विविध गुणों का आविर्भाव होने लगता है । वे महात्मा कभी मासक्षमण की उग्र तपस्या करते हैं, तो कभी पन्द्रह उपवास.....तो कभी छट्ठ, अट्ठम । बाह्य तप की उत्कृष्ट साधना से वे रसना-विजेता और इन्द्रिय-विजेता बन जाते हैं ।

तप धर्म की साधना के साथ-साथ वे अपना अधिकांश समय शास्त्र के पठन-पाठन और स्वाध्याय में ही व्यतीत करते हैं । वे शास्त्र के रहस्यों के पारगामी होते हैं ।

कहा भी है-**'साधवः शास्त्रचक्षुषा'** ।

वे शास्त्र रूपी चक्षु के बल से जगत् के स्वरूप को देखते हैं और अपने आत्मकल्याण के मार्ग का निश्चय करते हैं ।

शास्त्रज्ञान के बल से मोक्ष-मार्ग को जानकर, अन्य भव्य जीवों को भी वे मोक्षमार्ग की प्रेरणा देते हैं । अपनी शान्त, मधुर और प्रभावक वाणी के द्वारा वे अनेक भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग में जोड़ते हैं ।

मोक्षमार्ग दिखाकर वे भव्य जीवों पर एक महान् उपकार करते हैं ।

वे अत्यन्त शान्त होते हैं । उनकी सौम्य आकृति को देखकर अनेक जीवों के हृदय में उनके प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है ।

इसके साथ ही वे दान्त होते हैं । अपने मन पर उनका पूर्ण नियंत्रण होता है । मन से वे कभी अशुभ चिन्तन नहीं करते हैं ।

इसके साथ ही वे **'जिताक्ष'** अर्थात् इन्द्रियविजेता भी होते हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों से युक्त महात्माओं से ही यह जिन-शासन शोभता है । ऐसे महात्मा जिनशासन के श्रृंगार हैं । वे जिनशासन की प्रभावना में अभिवृद्धि करते हैं ।

दानं शीलं तपो ये विदधति गृहिणो भावनां भावयन्ति,
धर्मं धन्याश्चतुर्धा श्रुतसमुपचितश्रद्धयाऽऽराधयन्ति ।
साध्व्यः श्राद्ध्यश्च धन्याः श्रुतविशदधिया शीलमुद्भावयन्त्य-
स्तान् सर्वान् मुक्तगर्वाः प्रतिदिनमसकृद् भाग्यभाजः स्तुवन्ति ।।190।।

(स्त्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ :- जो सुश्रावक दान, शील और तप का आसेवन करते हैं और सुन्दर भावना का भावन करते हैं, इस प्रकार ज्ञान से पुष्ट श्रद्धा से चारों प्रकार के धर्म की आराधना करते हैं, तथा जो साध्वीगण और श्राविकाएँ ज्ञान से

निर्मल बुद्धी द्वारा शील/सदाचार का पालन करती हैं, वे भी धन्यवाद की पात्र हैं । इन सब की हमेशा अनेक बार जो गर्वरहित भाग्यवन्त स्तुति करते हैं, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।।190।।

विवेचन

जिनाज्ञापालक श्रावक भी धन्यवाद के पात्र हैं

साधु महात्माओं के सुकृतों की अनुमोदना के बाद अब इस गाथा के द्वारा गृहस्थ श्रावक-श्राविका तथा **साध्वीजी म.** के सुकृतों की अनुमोदना करते हुए ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि उन श्रावकों को धन्य है जो ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ श्रद्धा के द्वारा दान, शील, तप और भाव धर्म की आराधना करते हैं ।

धन्य है **श्रेयांसकुमार** को, जिन्होंने ऋषभदेव प्रभु को इक्षुरस से पारणा कराकर सुपात्रदान का मंगल प्रारम्भ किया था ।

धन्य है **धन्ना सार्थवाह** को, जिसने त्यागी महामुनियों को घी बहोरा कर सम्यक्त्व प्राप्त किया था ।

धन्य है **मेघरथ राजा** को, जो एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने देह का मांस देने के लिए तैयार हो गए थे ।

धन्य है **शालिभद्र** को, जिसने अपने पूर्व भव में क्षीर का सुपात्र दान कर पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन किया था ।

धन्य है **भरत** महाराजा और **कुमारपाल** महाराजा को, जिन्होंने अपूर्व साधर्मिक भक्ति की थी ।

धन्य है **विजय सेठ** और **सेठानी** को, जिन्होंने गृहस्थ जीवन में रहकर आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया था ।

धन्य हो **महामंत्री पेथड़शाह** को, जिन्होंने 32 वर्ष की भर यौवनवय में आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया था ।

धन्य है **सुदर्शन सेठ** को, जो परनारी-सहोदर और व्रतधारी महान् श्रावक थे, जिनके शील के प्रभाव से शूली का भी सिंहासन हो गया था.....जिनके शील के प्रभाव से अर्जुनमाली भी स्तंभित हो गया था ।

धन्य है **जंबुकुमार** को, जिन्होंने लग्न के पूर्व ही ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया था और लग्न की पहली रात्रि में ही अपनी सभी आठ स्त्रियों को प्रतिबोधित कर प्रातः 528 के साथ दीक्षा स्वीकार कर ली थी ।

धन्य है **धन्ना काकंदी** को, जिन्होंने छट्ठ के पारणे आयम्बिल का उग्र तप किया था । अत्यन्त नीरस और निरीह आहार लेने पर भी वे चढ़ते-परिणामी थे ।

धन्य है **ढंढण अणगार** को, जिन्होंने **'स्व-लब्धि से प्राप्त आहार'** लेने का घोर अभिग्रह किया था । छह मास तक आहार न मिलने पर भी उनके परिणाम की धारा खंडित नहीं हो पाई थी.....और अन्त में मोदक का परिष्ठापन करते-करते जिन्होंने कैवल्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया था ।

धन्य है **शालिभद्र महामुनि** को, जिन्होंने पादोपगमन अनशन स्वीकार कर लिया था ।

धन्य है **सुन्दरी** को, जिसने दीक्षा की अनुमति न मिलने पर 60,000 वर्ष तक निरन्तर आयंबिल तप की उग्र तपश्चर्या की थी ।

धन्य है **पूणिया श्रावक** को, जो अत्यन्त ही भावपूर्वक सामायिक धर्म की आराधना करते थे ।

धन्य है **जीर्ण श्रेष्ठी** को, जिसके हृदय में प्रभु को पारणा कराने की अपूर्व भावना थी ।

धन्य है **सुलसा श्राविका** को, जो दैविक परीक्षा में भी अपने सम्यक्त्व से चलित नहीं हुई थी ।

धन्य है **श्रेणिक महाराजा** को, जिनके हृदय में जिनशासन के प्रति गाढ़ प्रीति थी ।

उन **साध्वीजी म.** को भी धन्य है, जो निर्मल शील के पालन के साथ-साथ संयम के पालन में प्रयत्नशील रहती हैं और स्वाध्याय आदि की साधना के द्वारा सतत कर्मनिर्जरा की प्रवृत्ति करती रहती हैं ।

धन्य है उन **महान् सतियों** को, जिन्होंने मरणांत उपसर्ग में भी अपने शील को खण्डित नहीं होने दिया ।

लग्न के साथ 22 वर्ष तक **अंजना सती** को अपने पति का वियोग रहा, फिर भी उस महासती के हृदय में अपने पति के प्रति तनिक भी दुर्भाव पैदा नहीं हुआ ।

रामचन्द्रजी ने **सीता** का त्याग कर दिया था, फिर भी सीता के हृदय में रामचन्द्रजी के प्रति दुर्भावना पैदा नहीं हुई । सीता ने अपने संदेश में भी यही कहलाया-**'लोकप्रवाह में आकर आपने मेरा त्याग कर दिया, इसमें आपको कोई विशेष हानि नहीं होगी.....परन्तु लोकप्रवाह में आकर आप जिनधर्म का त्याग मत करना ।'**

धन्य है उस **मयणासुन्दरी** को, जो जिनेश्वर-निर्दिष्ट कर्म-सिद्धान्त पर अटल थी, भयंकर आपत्ति में भी वह जिनधर्म की श्रद्धा से विचलित नहीं हुई ।

उन समस्त महान् आत्माओं के समस्त-सुकृतों की हम भावपूर्वक अनुमोदना करते हैं । ऐसी महान् आत्माओं की जो अनुमोदना करते हैं, वे भी धन्यार्ह हैं ।

मिथ्यादृशामप्युपकारसारं,
सन्तोष-सत्यादि-गुणप्रसारम् ।
वदान्यता वैनयिकप्रकारम्,
मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः ।।191।।

(उपजातिवृत्तम्)

अर्थ :- मिथ्यादृष्टि के भी परोपकारप्रधान संतोष-सत्य आदि गुणसमूह तथा उदारता-विनयवृत्ति आदि मार्गानुसारी गुणों की हम अनुमोदना करते हैं ।।191।।

विवेचन

मिथ्यादृष्टि के मार्गानुसारी गुणों की अनुमोदना

प्रमोदभावना से भावित आत्मा जहाँ-जहाँ भी गुण देखती है, उन सबकी वह अवश्य अनुमोदना करती है । यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि में भी दया, दान, परोपकार की वृत्ति को देखकर वह उसकी अवश्य अनुमोदना करती है ।

जो आत्माएँ अभी तक जिनधर्म को प्राप्त नहीं हुई हैं, उन आत्माओं में भी मार्गानुसारिता आदि के गुण हो सकते हैं, उनके भी विनय, नम्रता, दया-दान आदि गुण अवश्य अनुमोदनीय हैं ।

गुणानुरागी आत्मा जहाँ-जहाँ गुण देखती है, उसे उस गुण के प्रति अवश्य अनुराग होता है । जिस प्रकार स्वर्ण का अभिलाषी कीचड़ को न देखकर स्वर्ण को ही देखता है और कीचड़ में पड़े हुए स्वर्ण को भी उठा लेता है ।

जिस प्रकार उद्यान के माली की दृष्टि गुलाब के फूलों पर होती है, न कि काँटों पर ।

जिस प्रकार कमल के इच्छुक की दृष्टि कमल पर होती है, न कि कीचड़ पर; उसी प्रकार गुणग्राही व्यक्ति की दृष्टि भी गुणों पर ही होती है । अनेक दोषों के बीच भी यदि उसे एक भी गुण दिखाई देता है, तो वह समस्त दोषों की उपेक्षा करके गुण को ग्रहण कर लेता है । एक बार किसी देव ने गुणानुरागी कृष्ण महाराजा की परीक्षा करनी चाही । कृष्ण महाराजा रथ में बैठकर जा रहे थे । मार्ग में वह देव अपनी देवमाया से मरे हुए कुत्ते का रूप धारण कर मार्ग के बीच में पड़ गया । मरे हुए कुत्ते की दुर्गन्ध से वहाँ समस्त वातावरण दुर्गन्धमय बन गया । सभी लोग उस कुत्ते से घृणा करने लगे, परन्तु कृष्ण महाराजा ने कहा-``अहो ! इस कुत्ते के दाँत कितने चमकीले हैं ?''

गुणग्राही व्यक्ति सर्वत्र गुण ही देखता है ।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजय जी म. ने भी गाया है-

अन्य मां पण दयाधिक गुणो, जे जिनवचन अनुसार रे ।
सर्व ते चित्त अनुमोदिए, समकित बीज निरधार रे ।।

.....और भी कहा है-

थोडलो पण गुण पर तणो, सांभली हर्ष मन आण रे ।

अन्य में रहे अल्प गुण को भी देखकर प्रसन्न होना चाहिए, उसके प्रति हृदय में आदर भाव होना चाहिए ।

जिह्वे ! प्रह्वीभव त्वं सुकृतिसुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,
भूयास्तामन्यकीर्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौ सुकर्णौ ।
वीक्ष्याऽन्यप्रौढलक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुतां लोचने रोचनत्वं,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो-मुख्यमेव ।।192।।

(स्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ :- हे जिह्वा ! सत्कर्म करने वाले पुरुषों के सुचरित्र का उच्चारण करने में प्रसन्न होकर सरल बन । अन्य पुरुषों की कीर्ति-यश के श्रवण करने में रसिकपने से मेरे दोनों कान सुकर्ण बनें । अन्यजनों की प्रौढ़ संपत्ति को देखकर मेरी दोनों आँखें प्रसन्न बनें इस असार संसार में आपके जन्म का यही मुख्य फल है, ऐसा मैं मानता हूँ ।।192।।

विवेचन

जीभ की सच्ची सफलता

मानव-जीवन में हमें अनेक अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं । हम इच्छानुसार देख सकते हैं.....इच्छानुसार बोल सकते हैं.....और इच्छानुसार सुन सकते हैं ।

परन्तु महापुरुषों ने कहा है-आँख, कान और जीभ इन तीनों इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए, अन्यथा ये इन्द्रियाँ अपनी आत्मा की अधोगति करा सकती हैं ।

अपनी इच्छानुसार ही हमें सुनना, बोलना अथवा देखना नहीं है, बल्कि जो श्रवण करने योग्य है, उसी का श्रवण करें । जो देखने योग्य है, उसी का दर्शन करें और जो कहने योग्य है, उसी का कथन करना चाहिए ।

महापुरुषों ने कहा है-इस वाणी (जीभ) की सफलता गुणीजनों के गुणगान करने में ही है । कानों की सफलता गुणीजनों के गुण-श्रवण में ही है और इन आँखों की सफलता महापुरुषों के दर्शन करने में ही है ।

जो आँखें प्रभु का दर्शन करके प्रसन्न बनती हैं, जो आँखें अन्य की समृद्धि को देखकर आनन्द पाती हैं, उन आँखों की प्राप्ति होना सार्थक है ।

पूज्य ग्रन्थकार महर्षि अपनी इन इन्द्रियों को समझाते हुए कहते हैं कि हे जीभ ! तू महापुरुषों के सुकृतों के उच्चारण करने में प्रसन्न और उत्साहित हो ।

रे कर्ण ! तुम जिनवाणी और अन्य की कीर्ति-प्रशंसा आदि के श्रवण में प्रसन्न बनो ।

ए आँखो ! तुम अन्य की सुख-समृद्धि को देखकर प्रसन्न बनो ।

प्रमोदमासाद्य गुणैः परेषां,
येषां मतिर्मज्जति साम्यसिन्धौ ।
देदीप्यते तेषु मनःप्रसादो,
गुणास्तथैते विशदीभवन्ति ।।193।।

(उपजातिवृत्तम्)

अर्थ :- अन्य पुरुषों के सुयोग्य गुणों से प्रमोद पाकर जिनकी बुद्धि समता रूपी समुद्र में मग्न बनी है, उनमें मनःप्रसन्नता उल्लसित बनती है । गुणों की प्रशंसा से वे गुण अपने जीवन में भी विकास पाते हैं ।।193।।

विवेचन

गुणानुमोदन से गुण-प्राप्ति

जो व्यक्ति अन्य के गुणों को देखकर प्रसन्न होते हैं और जिनकी बुद्धि समता रूपी सागर में मग्न रहती है, वे आत्माएँ मनःप्रसन्नता प्राप्त करती हैं ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति का मन सदैव उद्विग्न रहता है, उसे ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते हैं । वह तो अन्य की छोटी-मोटी भूलों को देखकर जलता ही रहता है । उसे अन्य में रहे गुण दिखाई नहीं देते हैं । उसे तो दोष-दर्शन में ही रस आता है । इस प्रकार अन्य के दोषों को देखकर वह अपने चित्त की प्रसन्नता खो देता है । उसे दूसरों की निन्दा में ही रस आता है, जबकि गुणवान व्यक्ति अन्य के गुणों को देख-देखकर हर्ष पाता है, इस हर्ष के फलस्वरूप उसका चित्त प्रसन्न बनता है और वह भी उस गुण को अल्प समय में आत्मसात् कर लेता है । प्रमोदभावना से/अन्य के गुणों की प्रशंसा करने से यदि वह गुण अपने में हो, तो दृढ़ बनता है और न हो, तो प्राप्त होता है ।

चतुर्दशभावनाष्टकम्

विनय ! विभावय गुणपरितोषं,
विनय ! विभावय गुणपरितोषम् ।
निज - सुकृताप्तवरेषु परेषु,
परिहर दूरं मत्सरदोषम् ।।विनय० 194।।

अर्थ :- हे विनय ! गुणों के द्वारा तू आनन्द/परितोष को धारण कर और अपने सुकृत के बल से जिन्हें श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, ऐसे अन्य पुण्यवन्त प्राणियों के प्रति द्वेष भाव मत कर । मत्सर भाव का त्याग कर ।।194।।

विवेचन

ईर्ष्या मत करो ! गुणों की अनुमोदना करो

हे आत्मन् ! अन्य गुणीजनों के गुण आदि को देखकर तू प्रसन्न बन । इस दुनिया में जिन-जिन आत्माओं को जो-जो सुख-समृद्धि प्राप्त हुई है, यह सब उनके पूर्वकृत सुकृतों का ही परिणाम है । अतः हे आत्मन् ! उन आत्माओं की सुख-समृद्धि को देखकर तू ईर्ष्या मत कर । हृदय में मत्सर भाव को धारण मत कर ।

ईर्ष्या एक ऐसी आग है, जो अपने सुकृत को जलाकर नष्ट कर देती है । ईर्ष्या से सन्तप्त प्राणी राख से ढके हुए, अंगारे के समान हैं, जो अन्दर ही अन्दर जल रहे होते हैं ।

हे आत्मन् ! तू अन्य की गुण-समृद्धि को देखकर प्रसन्न बन ।

दिष्ट्याऽयं वितरति बहुदानं,
वरमयमिह लभते बहुमानम् ।
किमिति न विमृशसि परपरभागं,
यद्विभजसि तत्सुकृतविभागम् ।।विनय० 195।।

अर्थ :- कोई पुण्यशाली व्यक्ति बहुत दान देता है, तो कोई भाग्यशाली बहुत मान पाता है । **'यह सब अच्छा है ।'** इस प्रकार तू दूसरे के उज्ज्वल भाग को क्यों नहीं देखता है ? इस प्रकार सुन्दर विचार करने से उसके सुकृत का भाग तुझे भी प्राप्त हो जाएगा ।।195।।

विवेचन

गुणानुमोदन से सुकृत में सहभागी बनते हैं

पूज्य वीरविजय जी म. ने गाया है-

करण, करावण ने अनुमोदन, सरखा फल निपजावे रे ।

कोई व्यक्ति अपनी शक्ति अनुसार शुभ कर्म करता है, कोई व्यक्ति अन्य को सुकृत करने की प्रेरणा करता है और एक व्यक्ति जो स्वयं सुकृत करने में असमर्थ है, वह अन्य के सुकृत की अनुमोदना करता है, तो जैनदर्शन के अनुसार वे तीनों व्यक्ति समान पुण्य के भागी बनते हैं ।

कई बार तो सुकृत करने वाले की अपेक्षा भी अनुमोदन करने वाला अधिक पुण्य का भागी बन जाता है । करण और करावण की अपेक्षा अनुमोदन का क्षेत्र विशाल है । व्यक्ति के स्वयं सुकृत करने की एक सीमा होती है, अन्य को प्रेरणा भी मर्यादित क्षेत्र में ही की जा सकती है, परन्तु अनुमोदना तो त्रैकालिक हो सकती है । दूर-देशान्तरवर्ती महान् आत्माओं के सुकृत की भी हम अनुमोदना कर सकते हैं ।

अनुमोदना मन से होती है । मन का क्षेत्र व्यापक है । मन के द्वारा हम सभी के समस्त सुकृतों की अनुमोदना कर सकते हैं ।

इस संसार में किसी व्यक्ति के पास बहुत सा धन हो और वह उस धन का किसी धार्मिक संस्था आदि में दान करता है, तो हमें उसके सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिए-**'धन्य है, उसने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग कर लिया ।'**

इस दुनिया में किसी व्यक्ति को बहुत सा मान-सम्मान मिलता हो तो भी उसकी हमें अनुमोदना करनी चाहिए न कि उससे ईर्ष्या ।

इस प्रकार गुणग्राहकता होगी तो सर्वत्र गुण ही नजर आएंगे, अन्यथा

दानी को देखकर भी यही सोचेंगे-``हम जानते हैं उसे, वह कितना ईमानदार है ? वाह ! अब दान देने चले हैं ।''

अथवा किसी के अत्यधिक आदर-सत्कार व मान-सम्मान को देखकर सोचेंगे-``मैं उसे अच्छी तरह से जानता हूँ.....पक्का बेईमान है.....लोगों को गफलत में डाल रहा है.....।'' इत्यादि-इत्यादि ।

हे आत्मन् ! जरा विचार कर । हर वस्तु के अपने दो पहलू होते हैं । तू उसके बुरे पक्ष को ही क्यों देखता है ? तू उसके अच्छे पक्ष को देखने का प्रयत्न क्यों नहीं करता है ?

एक फल आधा खराब है । एक व्यक्ति कहता है, अरे ! यह कोई फल है ? आधा तो बेकार है । दूसरा कहता है अहो ! इस फल का आधा भाग तो अच्छा है, अतः इसका उपयोग क्यों न करें ?

अतः हे आत्मन् ! तू गुणग्राही बनकर वस्तु के सुन्दर पहलू को ग्रहण करना सीख ।

इस प्रकार किसी के सुकृत को देखकर तू उसकी अनुमोदना करेगा तो उसके सुकृत का लाभ तुझे भी मिल सकेगा ।

येषां मन इह विगतविकारं,
ये विदधति भुवि जगदुपकारम् ।
तेषां वयमुचिताचरितानां,
नाम जपामो वारंवारम् ।।विनय० 196।।

अर्थ :- जिनका मन यहाँ विकाररहित है, तथा जो सर्वत्र उपकार कर रहे हैं, ऐसे उचित आचरण करने वाले सत्पुरुषों का नामस्मरण हम बारम्बार करते हैं ।। 196।।

विवेचन

सज्जनों का स्मरण

हे आत्मन् ! तू उन महान् आत्माओं का पुनःपुनः नामस्मरण कर । उनके चरित्रों को याद कर । उनकी बारम्बार स्तवना कर; जो महापुरुष इस

संसार से सर्वथा विरक्त बन चुके हैं, जिनके हृदय में संसार के सुखों के प्रति कोई राग नहीं है अर्थात् जिनके मन में कोई विकार नहीं है तथा जो निरन्तर जगत् के जीवों पर उपकार करने में तल्लीन है ।

याद करो-**बप्पभट्टसूरिजी म.** को, जिन्होंने आजीवन छह विगई के त्याग तथा भक्त के घर की गोचरी का त्याग किया था और इसके साथ ही **'आम राजा'** आदि को प्रतिबोध दिया था ।

धन्य है **सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी म.** को, जिन्होंने विक्रमादित्य को प्रतिबोध दिया था ।

धन्य है **कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** को, जिन्होंने कुमारपाल जैसे महाराजाओं को प्रतिबोधित कर अठारह देशों में अहिंसा का प्रचार कराया था ।

धन्य है उन महान् आचार्यों को, जिन्होंने अपने जीवन की बलि देकर भी जिनशासन की सेवा की है ।

अहह तितिक्षागुणमसमानं,
पश्यत भगवति मुक्तिनिदानम् ।
येन रुषा सह लसदभिमानं,
झटिति विघटते कर्मवितानम् ।।विनय० 197।।

अर्थ :- अहो ! भगवन्त (महावीर परमात्मा) में शिव-सुख के कारण रूप क्षमा गुण कितना अपूर्व कोटि का था, जिसके देखने पर, रोष सहित बड़े अभिमान पूर्वक संचित कर्मसमूह शीघ्र अदृश्य हो जाता है ।।197।।

विवेचन

प्रभु महावीर परमात्मा की क्षमा

अहो ! भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि उनके जीवन में एक क्षमा का गुण भी कितना अपूर्व कोटि का था । कटपूतना राक्षसी ने भयंकर शीत उपसर्ग किया, ग्वाले ने उनके कानों में खीले ठोके, चंडकोशिक विषधर ने उन्हें भयंकर दंश दिया, परन्तु भगवान महावीर ने उन

सब कष्टों को अत्यन्त ही समतापूर्वक सहन किया था । उपसर्ग करने वालों के प्रति उनके हृदय में लेश भी दुर्भाव पैदा नहीं हुआ था । वे तो उपसर्ग करने वाले को भी उपकारी मानते थे । शत्रु के प्रति भी उनके हृदय में वही प्रेम और स्नेह था, जो मित्र के प्रति था अर्थात् उनके जीवन में शत्रु-मित्र की कोई भेद-रेखा नहीं थी ।

परमात्मा ने एक क्षमा गुण के द्वारा अपनी आत्मा पर साम्राज्य फैलाने वाले कर्मसमूह को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

जो कर्म अन्य आत्माओं को अलग-2 ढंग से परेशान कर रहे हैं, उन सभी कर्मों को प्रभु ने एक क्षमा गुण के द्वारा नष्ट कर दिया ।

आत्मा यदि किसी एक गुण को भी पूर्ण रूप से आत्मसात् करले, तो वह अन्य सभी दोषों को नष्ट करने में समर्थ बन सकती है ।

'क्षमा/तितिक्षा' यह मुक्ति का अनन्य कारण है । यह गुण परमात्मा में असाधारण होता है ।

इस गुण को देखकर कर्मसत्ता प्रभु से दूर भाग गई । अर्थात् इस एक गुण के पूर्ण विकास से भी आत्मा परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेती है ।

अदधुः केचन शीलमुदारं,
गृहिणोऽपि हि परिहृतपरदारम् ।
यश इह सम्प्रत्यपि शुचि तेषां,
विलसति फलिताफलसहकारम् ।।विनय० 198।।

अर्थ-ऐसे अनेक सद्गृहस्थ हैं, जिन्होंने परस्त्री का सर्वथा त्याग कर उदार शीलव्रत धारण किया है, उनका निर्मल यश आज भी इस जगत् में फले-फूले आम्रवृक्ष की तरह विलसित हो रहा है ।।198।।

विवेचन

शीलव्रतधारियों की अनुमोदना

इस शासन में ऐसे अनेक श्रावक हुए हैं और हैं जिन्होंने परस्त्री का त्याग किया है और जो निर्मल शील को धारण किये हुए हैं ।

याद करें सुदर्शन सेठ को । जिसने मरणान्त उपसर्ग में भी अपने शीलव्रत का भंग नहीं किया था और अन्त में उन्होंने अपराधी का नाम बताने से भी इन्कार कर दिया था । **'मेरे निमित्त से किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे ।'** यह उनके जीवन का मुद्रा लेख था । राजा के द्वारा पूछने पर भी उन्होंने महारानी का अपराध प्रगट नहीं किया था; धन्य है उस महान् आत्मा को ।

इस जिनशासन में ऐसे अनेक व्रतधारी श्रावक व सद्गृहस्थ हैं, जो विकट, प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपने व्रत का भंग नहीं करते हैं और अपने ग्रहण किये हुए व्रत का पूर्णतया पालन करते हैं ।

भूतकाल के इतिहास में ऐसे अनेक सद्गृहस्थ हो गए हैं, जिन्होंने अपने जीवन की बलि देकर भी शीलव्रत की रक्षा की है । उन महान् सद्गृहस्थों का निर्मल यश इस संसार में फलेफूले आम्रवृक्ष की भाँति विलसित है ।

हे आत्मन् ! तू उन महान् आत्माओं का बारम्बार नाम स्मरण कर । उनके गुणों का कीर्तन कर और उनकी गुणसमृद्धि की हृदय से अनुमोदना कर, यही तेरे विकास का श्रेष्ठ उपाय है ।

या वनिता अपि यशसा साकं,
कुलयुगलं विदधति सुपताकम् ।
तासां सुचरितसञ्चितराकं,
दर्शनमपि कृतसुकृतविपाकम् ।।विनय० 199।।

अर्थ :- वे स्त्रियाँ भी निर्मल यश सहित अपने उभय कुल को सुशोभित करती हैं, सुचरित्र से सम्पूर्ण चन्द्रकला के समान उनका निर्मल दर्शन भी पूर्वकृत सुकृत के योग से ही होता है ।। 199 ।।

विवेचन

शीलव्रतधारी महासतियाँ धन्य हैं

उन शीलवती स्त्रियों को भी धन्य है, जो पतिव्रत धर्म का पालन कर अपने पिता और श्वसुर कुल की कीर्ति में चार चांद लगा रही हैं ।

स्त्री के लिए शील ही सबसे बड़ा धन है, यदि उसका शील सुरक्षित है तो उसका जीना भी सार्थक है और यदि उसने अपने शील को बेच दिया है, तो उसके देह की कोई कीमत नहीं है, वह हाड़-मांस का ढेर मात्र है ।

महासती अंजना, मदनरेखा, कलावती, सीता, मयणासुन्दरी, मलयसुन्दरी आदि के चरित्रों का अध्ययन करने पर हमें ख्याल आता है कि उन्होंने मरणान्त कष्ट में भी अपने शीलधर्म का पालन किया था ।

ऐसी शीलवती स्त्रियों के नामस्मरण से पाप का नाश होता है और पुण्य की वृद्धि होती है, इसीलिए प्रातःकाल में **'भरहेसर'** की सज्झाय के अन्तर्गत उन महान् सतियों का भी नाम-स्मरण किया जाता है ।

महासतियों का दर्शन भी पुण्य का कारण है । पुण्यशाली ही ऐसी सन्नारियों के दर्शन का लाभ उठा सकते हैं ।

तात्त्विक-सात्त्विक-सुजनवतंसाः,
केचन युक्तिविवेचनहंसाः ।
अलमकृषत किल भुवनाभोगं,
स्मरणममीषां कृतशुभयोगम् ।।विनय० 200।।

अर्थ-तथा कई तात्त्विक, सात्त्विक, सज्जन शिरोमणि पुरुष हैं तथा युक्तिपुरःसर विवेचन करने में हंस सदृश लोग हैं, उन दोनों से समस्त जगत् अलंकृत बना है ।।200।।

विवेचन

विवेकीजन धन्य हैं

इस जगत् में सर्वज्ञशासन को प्राप्त कर भूतकाल में अनेक तत्त्ववेत्ता महापुरुष हुए हैं । जिनेश्वरदेव के द्वारा प्ररूपित तत्त्वों के अभ्यास से जिन्होंने जगत् की वास्तविकता को पहचाना है । दार्शनिक चर्चाओं आदि के द्वारा जिन्होंने सत्य तत्त्व को पहचानने के लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ किया है, ऐसे तात्त्विक/तत्त्वज्ञानी महापुरुषों का भी हम पवित्र स्मरण करते हैं, क्योंकि तत्त्वों के गहनतम रहस्यों को जानकर वे आत्माभिमुखी बने हैं और आत्मस्वरूप में

लीन बनने के लिए ही उनका पुरुषार्थ रहा है । ऐसे तात्त्विक/तत्त्ववेत्ता पुरुष भूतकाल में अनेक हो चुके हैं । तार्किक शिरोमणि मल्लवादी **आचार्य सिद्धसेन दिवाकरजी, आचार्य हेमचन्द्र सूरिजी म., आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी म., पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म.** आदि तत्त्ववेत्ताओं के पुण्य नाम का हम स्मरण करते हैं ।

इस दुनिया में अनेक सात्त्विक पुरुष भी पाए जाते हैं, जिनमें सतोगुण की प्रधानता होती है । कलह-क्लेश के वातावरण से जो सदा दूर रहते हैं और आत्म-शान्ति चाहते हैं, ऐसे गुणवान सात्त्विक पुरुषों का भी हम बारम्बार स्मरण करते हैं ।

जिनकी बुद्धि हंस के समान है, अर्थात् जिस प्रकार हंस दूध और जल में भेद कर देता है, उसी प्रकार हंस-बुद्धि वाले विवेकीजन भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हेय-उपादेय, ग्राह्य-अग्राह्य का विवेक करने में पूर्ण कुशल होते हैं । ऐसे विवेकवन्त सत्पुरुषों का भी नाम स्मरण करने योग्य है ।

इति परगुणपरिभावनसारं,
सफलय सततं निजमवतारम् ।
कुरु सुविहितगुणनिधिगुणगानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम् ।।विनय० 201।।

अर्थ :- इस प्रकार अन्य के सद्गुणों का अनुमोदन करना यही जिसका सार है, ऐसे मानवभव को प्राप्त कर हे आत्मन् ! तू उसे सदा सफल कर । सदाचार में तल्लीन व सद्गुणों के समुद्र समान ऐसे सत्पुरुषों का गुणगान कर और राग-द्वेषादिक विकारवर्जित निरामय **शान्त सुधारस** का पान कर ।।201।।

विवेचन

जीवन का सार

ग्रन्थकार महर्षि प्रमोद भावना के उपसंहार के रूप में दुर्लभता से प्राप्त मानव-जीवन की सार्थकता को बतलाते हुए फरमाते हैं कि इस जीवन की वास्तविक सफलता अन्य में रहे गुणों के अनुमोदन करने में ही है । आज तक

दोषदृष्टि के कारण हमारी आत्मा ने सर्वत्र अवगुणों का ही दर्शन किया है । महान् गुणी आत्माओं में भी हमने अनेक बार दोषारोपण किया है, परन्तु अब हमें वह दोषदृष्टि बदल देनी होगी और आज से हमें सर्व गुणग्राही बन जाना है, जहाँ-जहाँ भी थोड़ा भी गुण दिखाई दे, उसका हृदय से बहुमान करना चाहिए.....उस गुण की अनुमोदना करनी चाहिए ।

इस प्रकार गुणीजनों के गुण की अनुमोदना करने से हमारी आत्मा में भी गुणों का संचय होने लगेगा ।

यह प्रमोद भावना एक प्रकार का **शान्त सुधारस**/अमृत है । जिस प्रकार अमृत के पान से तृप्ति, तुष्टि व पुष्टि का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रमोद भावना के भावन से हमारी आत्मा तृप्त बनती है । अनादि की कुवासनाएँ शान्त हो जाती हैं और आत्मिक गुणों की पुष्टि होने लगती है ।

इसी में मानव-जीवन की सफलता है । हे आत्मन् ! तू निरन्तर इस भावना से भावित बन ।

15 करुणा-भावना

प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता-
स्तदनु वसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ताः ।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान् -
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन् ।।202।।

(मालिनी)

अर्थ :- सर्वप्रथम प्राणी खाने-पीने की लालसा से आकुल-व्याकुल बनते हैं, उसके बाद वे वस्त्र, गृह और अलंकार में व्यग्र चित्त वाले बनते हैं, उसके बाद लग्न, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति तथा इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की सतत अभिलाषा करते रहते हैं, अतः वे बेचारे किस प्रकार स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं ? ।।202।।

विवेचन

संसार दुःख से भरा है

संसार और सुख; असम्भव बात है । क्या आग और पानी एक साथ रह सकते हैं ? क्या धूप और छाया एक स्थान पर एक साथ सम्भव हैं ? बस, इसी प्रकार इस संसार में सुख की आशा करना व्यर्थ है । वास्तव में, इस संसार में आत्मा को जहाँ भी पौद्गलिक पदार्थों में सुख दिखाई देता है, वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास है । परन्तु अज्ञानता और मोह के वश होकर आत्मा सांसारिक पदार्थों से ही सुख पाना चाहती है और इसके लिए ही वह सतत प्रयत्नशील है, परन्तु हम देखते हैं कि आत्मा ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, त्यों-त्यों नवीन दुःखों का ही सर्जन करती है । सुख पाने की आशा से वह दौड़ती है, प्रयत्न करती है ।

आगम में कहा है-**'इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं ।'** जिस प्रकार आकाश का कहीं अन्त नजर नहीं आता है, उसी प्रकार इच्छाओं का भी कोई

अन्त नहीं है । एक इच्छा पूर्ण होते ही दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है । इस प्रकार इच्छाओं की श्रृंखला चलती ही रहती है और मनुष्य की सुख-प्राप्ति की आशा अधूरी की अधूरी बनी रहती है ।

सर्वप्रथम तो मनुष्य को भूख सताती है, अतः वह क्षुधा की तृप्ति के लिए प्रयत्न करता है । परन्तु जब उसे क्षुधा-तृप्ति योग्य सामग्री मिल जाती है, फिर भी वह विराम नहीं पाता है, उसके हृदय में नवीन इच्छा जागृत हो जाती है । दुनिया में दिन-रात व्यस्त लोगों से जब हम यह प्रश्न करते हैं कि ``भाई ! इतने व्यस्त क्यों हो ?''

.....तो सर्वप्रथम तो वे यही जवाब देते हैं कि ``भाई ! यह सब पेट के लिए करते हैं ।''

परन्तु क्षुधा-तृप्ति के अनुरूप धन-सामग्री मिल जाने के बाद भी उन्हें सन्तोष कहाँ है ?

पेट तृप्त हो जाय तो फिर पेटी को भरने की चिन्ता रहती है ।

इस पेट की भूख को तो रोटी के टुकड़े से शान्त किया जा सकता है, परन्तु मन की भूख ऐसी है कि वह कभी शान्त नहीं होती है । **'जहा लाहो तहा लोहो'** की आगमोक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता ही जाता है ।

राजा ने कपिल पुरोहित को कहा-``जो चाहे, वह माँग ले ।''

बस, प्रारम्भ में तो कपिल पुरोहित की इच्छा मात्र दो सोना मोहर पाने की ही थी, परन्तु ज्यों ही उसे यह वरदान मिला कि उसकी इच्छाएँ हवा की तरह फैलने लगीं और लाखों करोड़ो सोना मोहर में भी उसे अतृप्ति का ही अनुभव होने लगा । लोभ की कोई सीमा नहीं है, वह असीमित है । ज्यों-ज्यों लाभ मिलता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता ही जाता है ।

क्षुधा-तृप्ति के बाद मनुष्य की आकांक्षाओं का जाल वस्त्र, घर और अलंकारों की ओर फैलने लगता है । उसके हृदय में नवीन, कीमती और नई फैशन के वस्त्र पाने की इच्छा पैदा होती है और उसके लिए वह दिन-रात धनार्जन आदि में व्यस्त रहता है ।

वस्त्र आदि की प्राप्ति के अनुरूप धन मिल जाय, फिर भी उसे तृप्ति कहाँ है ? उसके बाद उसके हृदय में `अपना मकान' बनाने की इच्छा पैदा होती है। परन्तु उसे कहाँ पता है कि जिसे अपना-अपना कह रहे हो, वह तो यहीं रह जाने वाला है और तुम्हें अकेले ही यहाँ से विदाई लेना पड़ेगी ।

एक बार किसी सेठ ने बहुत ही सुन्दर आलीशान भवन बनवाया । भवन में सुन्दर कलाकृतियाँ बनवाईं। उसके बाद सम्पूर्ण भवन में सुन्दर व कीमती रंग कराने का निश्चय किया । बुद्धिमान् और कुशल चित्रकारों को बुलाया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकार अपने-अपने काम में लग गए। चित्रकारों की चित्रकला से उस भवन की शोभा में चार चांद लगने लगे। सेठ भी उस कला को देखने के लिए आया। सुन्दर कला को देखकर मन ही मन मुस्कुराने लगा ।

सेठ ने चित्रकारों को आदेश दिया कि `इन दीवारों को ऐसे दिव्य रंगों से रंगा जाय कि 50 वर्ष तक इनकी शोभा में कोई फर्क न पड़े ।'

सेठ यह बात कर ही रहे थे कि इस बीच एक दिव्य ज्ञानी महात्मा जो वहाँ से गुजर रहे थे, सेठ की यह बात सुनकर तनिक मुस्कुराए ।

सेठ ने मुनि के हास्य को देखा। सेठ के दिल में शंका पैदा हुई। मुनि क्यों हँसे ? अन्त में वे सेठ मुनि के पास पहुँचे, उन्होंने मुनि को हँसी का कारण पूछा । सेठ के आग्रह पर मुनि ने कहा-``सेठजी ! आप भवन की शोभावृद्धि के लिए इतने प्रयत्नशील हो, परन्तु आपका जीवन तो मात्र 7 दिन का ही है.....फिर भी आप रंग की इतनी चिन्ता कर रहे हैं, यह जानकर मुझे हँसी आ गई ।''

मुनि की बात सुनकर सेठ चौंक गए ।

बस; इस दुनिया में अधिकांश जीवों की यही स्थिति है। जीवन की क्षण-भंगुरता को भूल कर हर व्यक्ति अपनी कामेच्छा को पूर्ण करने में लगा हुआ है ।

मानव को प्राप्त पाँचों इन्द्रियों की यह विचित्रता है कि वे अनुकूल सामग्री के मिलने पर भी कभी तृप्त नहीं बनती हैं ।

इस प्रकार सतत दौड़धूप कर रहे जीवात्मा को इस संसार में स्वस्थता व शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?

हर नई इच्छा मनुष्य की शान्ति को समाप्त कर देती है, फिर भी आश्चर्य है कि मनुष्य उन इच्छाओं पर रोक न लगाकर उन्हें बढ़ावा ही दे रहा है । इस प्रकार वासनाओं और इच्छाओं से अतृप्त मानव सदैव अशान्ति का ही अनुभव करता है ।

उपायानां लक्षैः कथमपि समासाद्य विभवं,
भवाभ्यासात्तत्र ध्रुवमिति निबध्नाति हृदयम् ।
अथाकस्मादस्मिन्विकिरति रजः क्रूरहृदयो,
रिपुर्वा रोगो वा भयमुत जरा मृत्युरथवा ।।203।।

(शिखरिणी)

अर्थ :- लाखों उपाय करके महाकष्ट से लक्ष्मी प्राप्त कर **'यह लक्ष्मी सदा रहने वाली है'** ऐसा मानकर गत भवों के अभ्यास के कारण आत्मा उसमें मोहित बनती है । परन्तु इतने में क्रूर हृदय वाले शत्रु, रोग, भय, जरा अथवा मृत्यु आकर अचानक ही उसमें धूल डाल देते हैं ।।203।।

विवेचन

रोग, जरा व मृत्यु का सतत भय

इस संसार में अधिकांश जीवों की यह मान्यता है कि ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-त्यों सुख बढ़ता है ।

धन की वृद्धि-सुख की वृद्धि, इस फार्मूले के अनुसार ही अधिकांश व्यक्तियों का जीवन चलता है ।

वर्तमान के इस भौतिकवाद में सारी दुनिया धन के पीछे पागल है । येन केन प्रकारेण वह धन के अर्जन में लगी हुई है, परन्तु दुनिया भूल गई है कि धन से सुख के साधन जुटाए जा सकते हैं किन्तु सुख नहीं । धन से वातानुकूलित शयनकक्ष खरीदा जा सकता है, किन्तु नींद नहीं । धन से मित्र खरीदे जा सकते हैं, किन्तु मैत्री नहीं । धन से दवा खरीदी जा सकती है, किन्तु जीवन नहीं । धन से भोजन खरीदा जा सकता है, किन्तु भूख नहीं ।

परन्तु अज्ञानी लोगों को यही भ्रान्ति है कि धन से सब कुछ खरीदा जा सकता है और इस मान्यतानुसार ही व्यक्ति धन को जुटाने में व्यस्त रहता है ।

परन्तु **'मृत्यु'** मनुष्य की आशाओं के महल को क्षण भर में धराशायी कर देती है ।

'रामू' नाम का एक हट्टा-कट्टा मजदूर था.....परन्तु मन्दभाग्य से उसे विशेष मजदूरी नहीं मिल पाती थी । एक बार एक सेठ बाजार में घी खरीदने के लिए आए । उन्होंने मिट्टी के एक पक्के घड़े में दस किलो घी खरीदा । घड़े को उठाने के लिए एक मजदूर की आवश्यकता थी ।

'रामू' थोड़ी ही दूरी पर बैठा था, सेठ ने आवाज दी । .....'रामू' तैयार हो गया । रामू ने अपने मस्तक पर घड़ा उठाया और चलने लगा ।

थोड़ी सी दूर चलने पर वह सोचने लगा-अहो ! आज तो मेरा भाग्य खुल गया, अब सेठजी मुझे 1 रु. देंगे.....उस रुपये से मैं थोड़े चने ले आऊंगा.....फिर उन चनों को बेचूंगा.....मेरे पास धीरे-धीरे दस रु. हो जायेंगे.....फिर मैं एक बकरी खरीद लूंगा.....फिर उस बकरी के बच्चे होंगे.....धीरे-धीरे मेरे पास काफी बकरियाँ हो जाएंगी.....फिर मैं एक भैंस खरीद लूंगा । भैंस के दूध का व्यापार करूंगा.....फिर मेरे पास काफी रुपए हो जाएंगे.....उसके बाद मेरी शादी हो जाएगी.....फिर मेरे बच्चे होंगे.....सब मेरी आज्ञा मानेंगे.....हाँ ! यदि बीबी ने मेरी आज्ञा नहीं मानी तो मैं यह घड़ा ही उस पर फोड़ दूंगा.....और यह सोचते ही उसने घी का घड़ा भूमि पर पटक दिया.....सारा घी धूल में मिल गया ।

रामू की सभी योजनाएँ एक ही क्षण में धरी-की-धरी रह गईं और साथ ही जूते पड़े वे अलग ।

बस, इस संसार में मानव नाना सुखों की कल्पना करके अनेकविध साधन जुटाने के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु **'मृत्यु'** उसके महल को धराशायी कर देती है और उसका इस दुनिया से अस्तित्व ही मिट जाता है । ठीक ही कहा है-

जिनके महलों में, हजारों रंग के फानूस जलते थे ।
उनकी कब्रों का आज, कोई निशां भी नहीं ।।

जिस प्रकार एक महल के निर्माण में कई वर्ष लगते हैं, किन्तु उसे धराशायी होने में कोई समय नहीं लगता है, उसी प्रकार सुख के साधन जुटाने में वर्षों लग जाते हैं, किन्तु मृत्यु, शत्रु का आक्रमण, दंगा, रोग आदि उस सुख के साधन को क्षण भर में समाप्त कर देते हैं, यही तो इस संसार की विचित्रता है ।

स्पर्द्धन्ते केऽपि केचिद्दधति हृदि मिथो मत्सरं क्रोधदग्धा,
युध्यन्ते केऽप्यरुद्धा धनयुवतिपशुक्षेत्रपद्रादिहेतोः ।
केचिल्लोभाल्लभन्ते विपदमनुपदं दूरदेशानटन्तः,
किं कुर्मः किं वदामो भृशमरतिशतैर्व्याकुलं विश्वमेतत् ।।204।।

(स्रग्धरा)

अर्थ :- यहाँ कई लोग परस्पर स्पर्द्धा करते हैं, कई क्रोध से दग्ध बने एक-दूसरे की ईर्ष्या करते हैं; कई धन, युवती, पशु, क्षेत्र तथा ग्रामादि के लिए निरन्तर लड़ते रहते हैं तथा कई लोभ के वशीभूत होकर दूर देशान्तर में भटकते हुए स्थान-स्थान पर क्लेश पाते हैं । इस प्रकार अनेकविध उद्वेग-संक्लेश से यह सम्पूर्ण विश्व व्याकुल बना हुआ है ।।204।।

विवेचन

संसार संक्लेश का अखाड़ा है

अहो ! इस संसार में जीवात्माएँ किस प्रकार आकुल-व्याकुल बनी हुई हैं ?

कितने ही प्राणी एक-दूसरे से अधिक पाने के लिए.....एक-दूसरे से आगे बढ़ने के लिए परस्पर स्पर्द्धा कर रहे हैं । कोई धन से स्पर्द्धा कर रहा है.....तो कोई सत्ता से.....तो कोई भौतिक सुख के साधनों से ।

'मैं उससे आगे बढ़ जाऊँ' 'मैं उससे अधिक सुखी बन जाऊँ', इस प्रकार की भावना से व्यक्ति परस्पर होड़ कर रहे हैं ।

कई प्राणी हृदय में क्रोध की आग लिये हुए हैं और वे एक-दूसरे के

सुख से ईर्ष्या कर रहे हैं। इस दुनिया में अधिकांश प्राणी ईर्ष्या के रोग से ग्रस्त बने हैं और इस प्रकार अन्दर ही अन्दर जल रहे हैं।

कई मनुष्य धन के लिए परस्पर लड़ रहे हैं, तो कोई सुन्दर स्त्री को पाने के लिए लड़ रहा है.....तो कोई जमीन व राज्य की सीमा के लिए लड़ रहा है।

भूतकाल के युद्धों के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे तो यही बात ख्याल में आएगी कि अधिकांश युद्ध, धन, स्त्री और जमीन के लिए हुए हैं। इस प्रकार धन, स्त्री और जमीन के लिए लड़कर व्यक्ति परस्पर खुद का ही विनाश करते हैं।

इस दुनिया में कई मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कष्ट सहन कर रहे हैं। धन के लिए वे पुत्र-परिवार तक का त्याग कर देते हैं, धन के लिए वे अपने देश का त्याग कर देते हैं और एकान्त-निर्जन प्रदेशों में जाकर कष्टप्रद जीवन व्यतीत कर धनार्जन में लगते हैं।

अहो ! इस प्रकार विश्व के ये प्राणी नाना प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त होकर यातनाएँ भोग रहे हैं।

हम क्या करें ? और क्या कहें ? विश्व के जीवों की यातनाओं का वर्णन अशक्य ही है। आश्चर्य तो इस बात का है कि ये अज्ञानी जीव अपने हाथों ही नई-नई समस्याएँ खड़ी कर रहे हैं।

स्वयं खनन्तः स्वकरेण गर्तां,
मध्ये स्वयं तत्र तथा पतन्ति ।
तथा ततो निष्क्रमणं तु दूरे-
ऽधोऽधः प्रपाताद् विरमन्ति नैव ।।205।।

(उपजाति)

अर्थ :- अपने ही हाथों से गड्ढा खोदकर मोहमूढ़ आत्माएँ उसमें इस प्रकार गिर पड़ती हैं कि उसमें से बाहर निकलना तो दूर रहा, बल्कि अधिकाधिक नीचे गिरती ही जाती हैं ।।205।।

विवेचन

अज्ञानता से पतन

इस संसार में जीवात्मा की जो दयनीय स्थिति है, उस दयनीय स्थिति का सर्जक आत्मा स्वयं है । दुनिया में दोनों मार्ग हैं-विकास के भी और विनाश के भी । व्यक्ति जिस मार्ग को पसन्द करता है, उस मार्ग में वह आगे बढ़ता है । मोहाधीन आत्माएँ विनाश-मार्ग का ही अनुसरण करती हैं, अतः वे उस मार्ग में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों नवीन दुःखों व आपत्तियों का ही सर्जन करती हैं ।

अध्यात्म सुख का मार्ग है । भौतिकवाद दुःख का मार्ग है ।

आज वर्तमान युग में मनुष्य अध्यात्ममार्ग से दूर हटता जा रहा है और भौतिकवाद में दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ता जा रहा है, इसका परिणाम हमारे सामने है । दिन-प्रतिदिन हमारे सामने नई-नई समस्याएँ खड़ी होती जा रही है ।

आत्मा अपने दुःख का गर्त भी स्वयं ही खोद रही है और दिन-प्रतिदिन वह नीचे ही जा रही है, क्योंकि उसके पास वासना-नियंत्रण का कोई साधन नहीं है । वासनाओं की प्रबलता के कारण वह अधोगमन करती जा रही है ।

व्यसन-सेवन एक ऐसा गर्त है, जिसमें फँसने के बाद आत्मा का उसमें से बाहर निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है ।

उदाहरणार्थ :- शराब एक ऐसा व्यसन है कि प्रारम्भ में तो व्यक्ति को लगता है कि **'मैं शराब पीता हूँ'** परन्तु समय बीतने पर व्यक्ति शराब का इतना अधिक गुलाम हो जाता है कि **'शराब ही उसे पीने लग जाती है । '**

यही स्थिति अन्य व्यसनों की भी है । व्यसन का गुलाम व्यक्ति गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने में असमर्थ हो जाता है और उसका पतन निश्चित हो जाता है ।

प्रकल्पयन् नास्तिकतादिवाद-
मेवं प्रमादं परिशीलयन्तः ।
मग्ना निगोदादिषु दोषदग्धा,
दुरन्त - दुःखानि हहा सहन्ते ।।206।।

(उपजाति)

अर्थ :- नास्तिकता आदि कुवादों की कल्पना करके निर्विवेक जीव इस प्रकार के प्रमाद का विशेष आचरण करने वाले स्वदोष से दग्ध बने निगोद आदि दुर्गति में गिरकर निरवधि असंख्यकाल तक दुरन्त दुःखों को सहन करते हैं ।।206।।

विवेचन

प्रमाद से पतन

प्रमाद आत्मा का सबसे भयंकर शत्रु है । आत्मा की विस्मृति सबसे भयंकर प्रमाद है । भौतिकवाद/नास्तिकवाद इस प्रमाद को बढ़ावा देते हैं । नास्तिकवाद से ग्रस्त व्यक्ति आत्म-हित को सर्वदा भूल जाता है और **'खाओ, पीओ और मौज करो'** (Eat, drink and be merry) में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है । मात्र इहलौकिक सुखों में आसक्त उन आत्माओं की परलोक में कैसी भयंकर दुर्दशा हो जाती है, इसका चित्रण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि इस प्रकार भौतिक सुख में आसक्त वे आत्माएँ मरकर नरक और निगोद के गर्त में डूब जाती हैं कि बेचारी अनन्तकाल तक पुनः ऊपर भी नहीं उठ पाती हैं ।

ओह ! निगोद के जीवों को जन्म-मरण की कैसी भयंकर पीड़ा/वेदना है ? अपने एक श्वासोच्छ्वास में उन जीवों के साढ़े सत्रह भव हो जाते हैं । एक अन्तर्मुहूर्त में तो उन जीवों के 65536 भव हो जाते हैं । सतत जन्म-मरण की ही पीड़ा भोग रहे हैं वे । निगोद के जीव जिस भयंकर पीड़ा का अनुभव करते हैं, उस पीड़ा का वर्णन केवलज्ञानी भी अपनी वाणी से नहीं कर सकते हैं ।

7वीं नरकभूमि के जीव जिस वेदना का अनुभव करते हैं, उससे भी अनन्त गुणी वेदना निगोद के जीव प्रति पल भोग रहे हैं ।

उस निगोद की कायस्थिति भी अनन्तकाल की है, एक बार वहाँ चले जाने के बाद वहाँ से ऊपर उठना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है ।

चौदहपूर्वी भी यदि प्रमाद के वशीभूत हो जाय तो वह भी मरकर निगोद में जा सकता है, तो फिर जो प्रमाद में ही लयलीन बने हुए हैं, उन आत्माओं की भावी दुर्दशा का क्या वर्णन करें ? वे बेचारे दया के पात्र ही हैं ।

शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं,
न धर्मलेशं मनसा स्पृशन्ति ।
रुजः कथंकारमथापनेया-
स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव ।।207।।

(उपजाति)

अर्थ :- जो हितोपदेश को सुनने के लिए तैयार ही नहीं हैं और लेश मात्र भी धर्म को मन में स्थान नहीं देते हैं, उनके दुर्गति आदि भाव-रोगों को कैसे दूर करें ? अतः उन जीवों के प्रति करुणा रखना, यही एक उपाय है ।।207।।

विवेचन

करुणापात्र कौन ?

महान् पुण्योदय से सद्गुरु का योग मिलता है । जिन आत्माओं को सद्गुरु का योग सुलभ हो, किन्तु मोह के अधीन बनकर जो सद्गुरु की उपेक्षा करके धर्मोपदेश नहीं सुनते हैं, वे जीव अत्यन्त ही दया के पात्र हैं ।

जैनदर्शन में करुणा के दो भेद बतलाए हैं-द्रव्यकरुणा और भावकरुणा ।

रोग, भूख तथा अन्य शारीरिक-मानसिक यातनाओं से जो ग्रस्त हैं, उनके बाह्य दुःख के निवारण की चिन्ता करना और यथाशक्य उनके दुःखों को दूर करना द्रव्यकरुणा है तथा जो धन-धान्य तथा बाह्य वैभव से समृद्ध होते हुए भी धर्म से विमुख हैं, उन जीवों पर भावकरुणा करनी चाहिए ।

धर्म से रहित चक्रवर्ती भी दया/करुणा का पात्र है, क्योंकि धर्म के सिवाय परलोक में सच्चा साथी और कौन है ? धर्म ही आत्मा का सच्चा रक्षक और हितचिन्तक है । अपने हितचिन्तक धर्म को छोड़कर जो आत्माएँ मौज-शौक और ऐशो-आराम में निमग्न हैं, उन जीवों पर भावकरुणा करनी चाहिए ।

धर्म औषधि तुल्य है । रोगी यदि औषधि लेने के लिए तैयार ही नहीं है, तो डॉक्टर भी क्या कर सकता है ? इसी प्रकार जिन जीवों में धर्म के प्रति कोई अनुराग या आस्था ही नहीं है, उन जीवों के दुःख-निवारण के लिए हम अधिक क्या कर सकते हैं ? एक मात्र उनके प्रति दया का चिन्तन करना, यही एक उपाय है ।

वर्तमानकाल में भौतिकवाद की आंधी तेजी से आगे बढ़ रही है । चारों ओर भौतिकवाद पनप रहा है, भौतिकवादी जीवों के हृदय में धर्म के प्रति अनुराग कहाँ से पैदा हो ?

ग्रन्थकार महर्षि ऐसे धर्महीन जीवों के प्रति भी भावकरुणा धारण करने का उपदेश देते हैं ।

परदुःखप्रतिकार - मेवं ध्यायन्ति ये हृदि ।
लभन्ते निर्विकारं ते, सुखमायतिसुन्दरम् ।।208।।

(अनुष्टुप्)

अर्थ :- जो इस प्रकार अन्य के दुःखों को दूर करने का चिन्तन करते हैं, वे सुन्दर परिणाम वाले निर्विकारी सुख को पाते हैं ।।208।।

विवेचन

करुणा से सुख-प्राप्ति

जो आत्मा अन्य के दुःख निवारण की चिन्ता करती है, वह आत्मा इस प्रकार की शुभ भावना से शुभ कर्म का बन्ध करती है । वह शुभ कर्म उस आत्मा को भविष्य में महान् सुख प्रदान करता है ।

स्व-पीड़ा-निवारण का चिन्तन आर्त्तध्यान है ।

पर-पीड़ा-निवारण का चिन्तन धर्मध्यान है ।

इस करुणा भावना के द्वारा आत्मा, जगत् में रहे हुए अन्य समस्त जीवों के दुःख-निवारण की भावना करती है, यह एक प्रकार की शुभ-भावना है । स्व-सुख के चिन्तन रूप आर्त्तध्यान से आत्मा अशुभ कर्म का बन्ध करती है, जबकि जगत् के सर्व जीवों के सुख-चिन्तन से आत्मा शुभध्यान के द्वारा शुभ कर्मों का उपार्जन करती है ।

इस शुभध्यान के फलस्वरूप भविष्य में आत्मा निर्विकार मोक्षसुख प्राप्त करने के लिए सुयोग्य बनती है और अन्त में वह उस शाश्वत सुख को प्राप्त कर अजर-अमर बन जाती है । उसके दुःख सदा के लिए दूर हो जाते हैं, वह शाश्वत सुख की भोक्ता बन जाती है । मोक्ष-प्राप्ति के बाद आत्मा को न जन्म की पीड़ा है न मृत्यु की । न भूख है, न प्यास है । आत्मा परमानन्द निज स्वरूप की मस्ती का अनुभव करती है । मोक्ष के सुख का वर्णन असम्भव ही है ।

संसार के अनुत्तरदेव आदि के सभी सुखों को पिण्डरूप बनाया जाय तो भी मुक्तात्मा के एक आत्म-प्रदेश के सुख का अनन्तवाँ भाग ही होता है, अर्थात् मुक्तात्मा अपने एक आत्मप्रदेश से जिस सुख का अनुभव करती है, उस सुख के अनन्तवें भाग जितना सुख भी इस संसार में नहीं है ।

पञ्चदशभावनाष्टकम्

सुजना ! भजत मुदा भगवन्तं,
सुजना ! भजत मुदा भगवन्तम् ।
शरणागतजनमिह निष्कारण-
करुणावन्तभवन्तं रे ।।सुजना० 209।।

अर्थ :- हे सज्जनो ! शरणागत प्राणियों पर निष्कारण अप्रतिम करुणा करने वाले भगवन्त को आप प्रेम से भजो ।।209।।

विवेचन

भगवन्त की भक्ति करो

जिस व्यक्ति का मन जिनशासन से भावित बना है, उस आत्मा में करुणा अवश्य होगी । संसार के सत्रस्त प्राणियों को देखकर ऐसी करुणावन्त आत्मा का हृदय द्रवित हो जाता है । उसके मन में एक ही भावना/कामना रहती है कि संसार के ये सभी प्राणी किस प्रकार दुःख से मुक्त बन जायें और शाश्वत सुख के भोक्ता बन जायें ।

द्रव्य और भाव रोगों से अत्यन्त संत्रस्त जीवों को देखकर करुणावन्त आत्मा पुकार उठती है-हे भव्यजनो ! हे सज्जनो ! भयंकर दुःख की पीड़ा से मुक्त बनने के लिए आप जिनेश्वरदेव की सेवा करो ।

इस संसार में आत्मा अपने राग-द्वेष के अध्यवसायों से ही कर्मबन्ध करती है और उसके फलस्वरूप नये-नये दुःखों को प्राप्त करती है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसार के समस्त दुःखों की जड़ राग और द्वेष ही हैं । यदि आत्मा में राग-द्वेष न हो तो तज्जन्य कर्म भी नहीं हो सकते हैं और कर्म का बन्ध न हो तो दुःख भी नहीं आ सकते हैं ।

राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त बनने के लिए जो वीतराग बन चुके हैं, उनकी सेवा, भक्ति और उनकी आज्ञा का पालन अनिवार्य है । धन का अर्थी धनी की आज्ञा का अनुसरण करता है । विद्या का अर्थी विद्यावन्त गुरु की

आज्ञा का अनुसरण करता है । आरोग्य का अर्थी वैद्य की आज्ञा का अनुसरण करता है, इसी प्रकार जो राग-द्वेष से मुक्त बनना चाहता है, उसे वीतराग की सेवा अवश्य करनी चाहिए ।

हे भव्यजनो ! हे सज्जनो ! भव-रोग से मुक्त बनने के लिए वीतराग-सेवा को छोड़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है ।

वीतराग-स्तोत्र में **कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी** ने कहा है–

'आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च ।'

परमात्मा की आज्ञा का पालन कल्याण (मोक्ष) के लिए है और उनकी आज्ञा की विराधना संसार के लिए है ।

ये वीतराग अरिहन्त परमात्मा निष्कारण अप्रतिम करुणावन्त हैं । पूर्व के तीसरे भव में **'सवि जीव करूँ शासनरसी'** की उत्कृष्ट भावना के बल से उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया है और इस कर्म के उदय से ही वे अपने अन्तिम भव में तीर्थंकर पद प्राप्त कर **'तीर्थ'** अर्थात् **'जिनशासन'** की स्थापना करते हैं ।

उनके हृदय में जगत् के सर्व जीवों के कल्याण की कामना उत्कृष्ट भाव से रही हुई है । इसी भावना के फलस्वरूप वे धर्म का उपदेश देते हैं । वे निष्कारण उपकारी हैं, उनके हृदय में प्रतिफल पाने की कोई वांछा नहीं है ।

जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव ही प्रकाश देने का है, वह प्रकाश देकर प्रतिफलस्वरूप कुछ भी नहीं मांगता है, इसी प्रकार **'परोपकार'** यह तीर्थंकर परमात्मा का स्वभाव बना होता है । वे भव्य जीवों को सर्व प्रकार से और सर्वदा दुःखमुक्त बनने का सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-मार्ग बतलाते हैं । मोक्षमार्ग का प्रदर्शन कर वे भव्य जीवों पर अद्वितीय असदृश उपकार करते हैं । ऐसे अनन्त करुणावन्त जिनेश्वरदेव की आज्ञा का तुम आराधन करो, यही भवरोग मुक्ति का सुन्दर उपाय है ।

क्षणमुपधाय मनःस्थिरतायां,
पिबत जिनागमसारम् ।
कापथघटनाविकृतविचारं,
त्यजत कृतान्तमसारं रे ।।सुजना० 210।।

अर्थ :- क्षण भर मन को स्थिर करके श्री जिनेश्वरदेव के आगम रूप अमृत का पान करो और उन्मार्ग की रचना से विषम विचार वाले असार और मिथ्याशास्त्रों का त्याग करो ।।210।।

विवेचन

आगम अमृत का पान करो

सुख-प्राप्ति और दु:ख-मुक्ति के लिए सभी प्राणी चारों ओर दौड़-धूप कर रहे हैं, परन्तु मार्ग की अनभिज्ञता के कारण वे अधिकाधिक नवीन दु:खों को ही प्राप्त करते हैं । सुख-प्राप्ति व दु:खमुक्ति की इतनी अधिक उत्सुकता रहती है कि व्यक्ति का मन सदैव चंचल और अस्थिर ही रहता है ।

अस्थिर चित्त वाले व्यक्ति की निर्णय शक्ति समाप्त हो जाती है, वह न तो वस्तु-स्थिति को पूर्णरूपेण समझ सकता है और न ही किसी बात का निर्णय ले सकता है ।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने **'ज्ञानसार'** में कहा है-

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ?
निधिं स्वसन्निधावेव, स्थिरता दर्शयिष्यति ।।

हे भव्यात्मन् ! चंचल चित्त वाले बनकर तुम इधर-उधर क्यों भटक रहे हो ? तुम जिस धन को खोज रहे हो, वह तो तुम्हारे पास ही है, तुम कुछ स्थिर बनो, वह स्थिरता ही तुम्हें वह निधि बता सकेगी ।

कई बार हम देखते हैं कि व्यक्ति का मन जब अत्यन्त अस्थिर होता है, तब उसे अपने हाथ में रही वस्तु भी दिखाई नहीं देती है और वह उसी वस्तु के लिए इधर-उधर तलाश कर रहा होता है ।

पूज्यपाद विनय विजयजी महाराज भव्यात्माओं को सन्मार्ग दिखलाते हुए कहते हैं कि हे भव्यात्माओ ! सर्वप्रथम तुम स्थिर बनो और स्थिर बनकर जिनागम रूप अमृत का कुछ आस्वादन करो ।

जिनागम को ग्रन्थकार ने अमृत की उपमा दी है । अमृत के पान से आत्मा तृप्त और पुष्ट बनती है, इसी प्रकार जिनेश्वरदेव द्वारा प्ररूपित जिनागमों का स्वाध्याय-अध्ययन करो । जिनागम यह जिनेश्वर की वाणी है ।

इस कलिकाल में हमें साक्षात् परमात्मा के दर्शन का तो सौभाग्य प्राप्त नहीं है, फिर भी इस कलिकाल में भी वीतराग-परमात्मा के अक्षरदेहरूप जिनागमों से अवश्य लाभान्वित हो सकते हैं ।

जिनागम का स्वाध्याय एक ऐसा अमृत भोजन है, जिसके आस्वादन से आत्मा में अनादिकाल से रही हुई वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं और आत्मानन्द का अनुभव होने लगता है ।

अतः हे भव्यात्मन् ! तू जिनागम का कुछ रसास्वादन कर, एक बार रसास्वादन करने के बाद फिर तुम उसे छोड़ नहीं सकोगे । इसके साथ ही उन्मार्गपोषक मिथ्याशास्त्रों का त्याग करो ।

जैन-दर्शन के सिवाय अन्य सभी दर्शन एकान्तवाद को पकड़े हुए हैं । उस एकान्तवाद के कारण ही उनके शास्त्र मिथ्या गिने गए हैं । एकान्तवाद के कदाग्रह के कारण वे शास्त्र मोक्षमार्ग के प्रेरक न बनकर संसार की ही अभिवृद्धि करने वाले हैं ।

मात्र अर्थ और काम का ही पोषण करने वाले भी अनेक शास्त्र हैं, ऐसे कुशास्त्रों का त्याग करना चाहिए ।

परिहरणीयो गुरुरविवेकी,
भ्रमयति यो मतिमन्दम् ।
सुगुरुवचः सकृदपि परिपीतं,
प्रथयति परमानन्दं रे ।।सुजना० 211।।

अर्थ :- जो मतिमन्द/मुग्धजनों को संसारचक्र में परिभ्रमण कराते हैं ऐसे अविवेकी गुरु का त्याग करना चाहिए और सद्गुरु का वचनामृत एक बार भी पीया है तो वह परमआनन्द को बढ़ाता है ।।211।।

विवेचन

सद्गुरु के वचन अमृत तुल्य हैं

मुमुक्षु आत्मा सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की उपासक होती है और वह कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करती है ।

जो वीतराग हैं, वे ही हमारे देव हैं, जो निर्ग्रन्थ हैं, वे ही हमारे गुरु हैं तथा जो जिनेश्वर प्ररूपित धर्म है, वही हमारा धर्म है ।

मोक्षमार्ग के साधक को सद्गुरु की साधना/उपासना करनी चाहिए और कुगुरु का त्याग करना चाहिए ।

मोक्षमार्ग की साधना में गुरुतत्त्व का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि गुरु ही मार्ग-दर्शक होते हैं । अधिकांश जीवों को सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति सद्गुरु के संग से ही होती है ।

सद्गुरु वे हैं, जो स्वयं मोक्षमार्ग के साधक हैं और दूसरों को भी मोक्षमार्ग बताते हैं ।

गुरु के चयन में सावधानी रखना अत्यन्त अनिवार्य है । गुरु तो नाविक तुल्य है । नाविक यदि होशियार हो तो भयंकर संकट में भी वह नाव को पार लगा देगा और यदि नाविक होशियार नहीं है तो वह स्वयं डूबेगा और सभी को डुबो देगा ।

भवसागर से पार उतरने के लिए सद्गुरु का संग चाहिए । इसके साथ-साथ कुगुरु का त्याग भी अनिवार्य है ।

कुगुरु वे हैं जो मोक्षमार्ग से विपरीत आचरण और प्ररूपणा करते हैं, वे स्वयं भवसागर में डूबते हैं और उनका जो भी आश्रय लेता है, उनको भी वे भवसागर में डुबोते हैं ।

इस संसार में गुरु का वेष पहने हुए तो बहुत मिलेंगे, परन्तु गुरु पद के लिए सुयोग्य साधु थोड़े ही मिलेंगे, अतः मात्र गुरु का वेष देखकर ही उन्हें अपनी जीवन-नैय्या नहीं सौंप देने की है, बल्कि उनके जीवन की भी परीक्षा होनी चाहिए । वे मोक्षमार्ग के साधक और प्ररूपक होने चाहिए ।

हे भव्यात्मन् ! तू कुगुरु का त्याग कर और सद्गुरु का आश्रय कर, उनकी वाणी का श्रवण कर ! सद्गुरु की वाणी के श्रवण से आत्मा के वास्तविक आनन्द की अनुभूति होगी ।

कुमततमोभरमीलितनयनं,
किमु पृच्छत पन्थानम् ।
दधिबुद्ध्या नर जलमन्थानं,
किमु निदधत मन्थानं रे ।।सुजना० 212।।

अर्थ :- कुमति रूपी अन्धकार से जिसके नेत्र मीलित हो गए हैं, ऐसे कुगुरु को मार्ग क्यों पूछते हो ? जल से परिपूर्ण भाजन में दही की बुद्धि से रवैया क्यों करते हो ? ।।212।।

विवेचन

कुगुरु का संग छोड़ दो

क्या अन्धा व्यक्ति आपको मार्ग बता सकता है ? क्या अन्धे व्यक्ति का अनुसरण कर आप अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच सकते हैं ?

यदि नहीं.....तो फिर कुमत के अन्धकार से जो अन्ध बने हुए हैं, आत्मकल्याण के लिए आप उनका मार्गदर्शन क्यों ले रहे हैं ?

हे आत्मन् । कुमत के कदाग्रह से जिनकी बुद्धि कुण्ठित हो गई है, ऐसे दुष्टजनों का मार्गदर्शन तुम्हारा हित नहीं कर सकता है ।

जल में दही की कल्पना कर उस जल का मन्थन करने से क्या घी की प्राप्ति हो सकती है ? कदापि नहीं । इसी प्रकार जो संसार के भोग-सुखों में अत्यन्त आसक्त हैं.....जिनके हृदय में संसार के भौतिक सुखों का तीव्र राग रहा हुआ है.....जो ऐशो-आराम में डूबे हुए हैं, ऐसे व्यक्तियों का तुम मार्गदर्शन ले रहे हो ? क्या उन व्यक्तियों का मार्गदर्शन तुम्हें उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है ? वे तो स्वयं डूबे हुए हैं और उनका अनुसरण करोगे तो तुम भी डूब जाओगे ।

दुनिया में ऐसे अनेक कुमत हैं, जिनकी प्ररूपणा मोक्ष-मार्ग से सर्वथा विपरीत है । कोई मात्र ज्ञान से मुक्ति मानते हैं तो कोई मात्र क्रिया से । कोई कायकष्ट से मुक्ति मान रहे हैं तो कोई मात्र वैराग्य से । कोई इच्छाओं की पूर्ति में ही आनन्द मानता है तो कोई मात्र ध्यान में आनन्द मानता है ।

इस प्रकार इस दुनिया में अनेक कुमत हैं और उनके प्रणेता मोह से ग्रस्त हैं । ऐसे कुमत प्ररूपकों से आत्मकल्याण के लिए मार्गदर्शन की इच्छा करना आत्मवञ्चना ही है ।

'थोथा चना बाजे घणा' के नियमानुसार उन कुमत-प्ररूपकों का आडम्बर भी अत्यधिक होता है । अतः भोली-भाली प्रजा उनके चंगुल में फँस जाती है ।

सर्वात्माओं के हितचिन्तक **पूज्य उपाध्याय जी म.** हमें जागृत कर रहे हैं और कह रहे हैं कि हे भव्यात्माओ ! तुम उन कुमत प्ररूपकों का त्याग करो और सद्गुरु का आश्रय कर उनका मार्गदर्शन प्राप्त कर आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ो ।

अनिरुद्धं मन एव जनानां,
जनयति विविधातङ्कम् ।
सपदि सुखानि तदेव विधत्ते,
आत्माराममशङ्कं रे ।।सुजना० 213।।

अर्थ :- अंकुशरहित मन मिथ्यात्व आदि विविध प्रकार की उपाधियाँ पैदा करता है और वही निग्रहित मन निःशंक रूप से सुख भी प्रदान करता है ।।213।।

विवेचन

मन का निग्रह करो

किसी महर्षि ने ठीक ही कहा है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण है ।

अनिग्रहित/अंकुशरहित मन आत्मा की अधोगति कराता है और निग्रहित मन आत्मा को ऊँचा उठाता है ।

आत्मा मन की सहायता से ही शुभ-अशुभ अध्यवसाय करती है । यदि मन शुभ विचारों में जुड़ा हुआ होता है तो आत्मा के अध्यवसाय भी शुभ होते

हैं । शुभ अध्यवसाय से आत्मा शुभ कर्म का बंध करती है और मन के अशुभ-अध्यवसायों से आत्मा अशुभ कर्मों का बन्ध करती है । अशुभ कर्मों के बन्ध से आत्मा नये-नये दु:खों का अनुभव करती है और यदि यह मन शुभध्यान में जुड़ जाय तो वह आत्मा पर से कर्मों की महान् निर्जरा भी करा सकता है । शुक्लध्यान के बल से आत्मा समस्त घातिकर्मों की निर्जरा कर सकती है ।

निग्रहित मन को शुभध्यान में जोड़ा जा सकता है, परन्तु यदि मन को वशीभूत करना नहीं सीखे हैं तो वह सदैव अशुभ विचारों में ही परिभ्रमण करेगा ।

अनादिकालीन कुसंस्कारों के कारण अपना मन अशुभ भावों/विचारों में शीघ्र प्रवेश कर जाता है, किन्तु उसको शुभ भावों में जोड़ने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है, क्यों ? आत्मा पर शुभ विचारों के संस्कार अत्यल्प प्रमाण में हैं । अतः यदि आप भव-बन्धन से मुक्त बनना चाहते हो तो सर्वप्रथम आपको अपने मन पर नियंत्रण लगाना होगा । नियंत्रित मन से ही आप शुभ विचार कर सकते हैं अथवा उसे शुभ विचारों में जोड़ सकते हैं, परन्तु यदि मन स्वच्छन्द और स्वतंत्र है तो उसे शुभ विचारों में केन्द्रित करना कठिन हो जाएगा ।

आत्म-विकास के लिए मन का संयमित होना अत्यन्त अनिवार्य है ।

परिहरतास्त्रवविकथागारव-
मदनमनादि - वयस्यम् ।
क्रियतां सांवर - साप्तपदीनं,
ध्रुवमिदमेव रहस्यं रे ।।सुजना० 214।।

अर्थ :- अनादिकाल से सहचारी बने आस्त्रव, विकथा, गारव तथा मदन का त्याग करो और संवर रूप सच्चे मित्र का आदर करो, यही सच्चा रहस्य है ।।214।।

विवेचन

संवर ही सच्चा मित्र है

करुणासिन्धु **पूज्य उपाध्यायजी म.** अत्यन्त ही संक्षेप में कल्याण की राह दिखलाते हुए फरमाते हैं कि हे भव्यात्मन् । तू अनादि के मित्र (?) स्वरूप आस्त्रव, विकथा, गौरव और काम का संग त्याग दे और संवर को अपना मित्र मान ले ।

आस्त्रव के 42 भेदों का विस्तार से वर्णन **'आस्त्रव-भावना'** में किया जा चुका है, अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं करते हैं ।

विकथा अर्थात् ऐसी बातचीत/वार्तालाप जिससे आत्मा का अहित हो । विकथा के चार भेद हैं-

(1) **स्त्री-कथा :-** जिसमें स्त्री के रूप, वैभव, अंग, उपांग, वस्त्र, अलंकार तथा सौन्दर्य आदि का वर्णन हो, ऐसी स्त्री-कथा करने से काम-वासना प्रज्वलित होती है और स्त्री सम्बन्धी राग बढ़ता है ।

(2) **देश-कथा :-** किसी देश या क्षेत्र की समृद्धि, वैभव आदि सम्बन्धी बातचीत करना । अहो ! उस देश में तो कितना धन है ! `अहो ! उस देश में आधुनिक फैशन के कितने अधिक साधन हैं !' इस प्रकार किसी क्षेत्र के भौतिक विकास सम्बन्धी वार्तालाप करने से उस क्षेत्र का अनुराग बढ़ता है, आधुनिक फैशन के साधनों को खरीदने की इच्छा पैदा होती है ।

(3) **भत्त-कथा :-** भोजन सम्बन्धी बातचीत को भत्त-कथा कहते हैं । ``अहो ! यह रसोइया कितना होशियार है !'' `इसने कितनी सुन्दर रसोई बनाई है ?' `अहो ! आज का भोजन कितना अच्छा है ?'
`वाह । इसे कहते हैं गुलाबजामुन । कितने सुन्दर बने हैं ।'
इस प्रकार भोजन के गुण-दोष सम्बन्धी वार्तालाप से राग-द्वेष भाव बढ़ते हैं और आहार की आसक्ति दृढ़ बनती है ।

(4) **राज-कथा :-** राज्य, शासक तथा राज्याधिकारी सम्बन्धी वार्तालाप को राज-कथा कहते हैं । `वह राजा कितना अच्छा है ।' `उस राजा ने अच्छा युद्ध किया ।' `वह राजा तो कायर है ।' इत्यादि वार्तालाप से व्यर्थ ही राग-द्वेष की परिणति बढ़ती है और आत्मा कर्म-बन्धन से ग्रस्त बनती है ।

गारव-(क) ऋद्धि गारव :- पूर्व के पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी, धन, वैभव आदि ऋद्धि का अभिमान करना, धन में आसक्त बनना इत्यादि ।

(ख) **रस गारव :-** खाने-पीने की अनुकूल वस्तुओं पर अभिमान करना, उनमें आसक्त बनना, इत्यादि ।

(ग) **शाता गारव :-** शरीर की हृष्टपुष्टता, स्वस्थता आदि का अभिमान करना तथा उसमें आसक्त होना ।

काम :- काम यह आत्मा का भयंकर शत्रु है, परन्तु हमने उसे मित्र मान लिया है । उसे अपना मित्र मानकर हम उसके अनुरूप आचरण कर रहे हैं । काम में आसक्त बनकर/कामान्ध बनकर आज तक अनेक आत्माओं ने अपना विनाश ही किया है ।

हे भव्यात्मन् ! उन काम आदि भयंकर शत्रुओं का तू त्याग कर और संवर के साधनों को अपना मित्र मान । संवर के साधनों का विस्तृत वर्णन **'संवर-भावना'** में हो चुका है, अतः उसका पुनः आलेखन यहाँ नहीं किया जा रहा है ।

सह्यत इह किं भवकान्तारे,
गद-निकुरम्ब-मपारम् ।
अनुसरता हितजगदुपकारं,
जिनपतिमगदङ्कारं रे ।।सुजना० 215।।

अर्थ :- इस भवाटवी में अपार द्रव्य और भाव रोगों को तुम क्यों सहन करते हो ? समस्त जगत् पर उपकार करने में दृढ़ प्रतिज्ञावन्त जिनेश्वरदेव रूप भाव वैद्य का अनुसरण करो, जिससे तुम्हारे समस्त द्रव्य और भाव रोग शान्त हो जायें और तुम्हें सुख प्राप्त हो ।।215।।

विवेचन

जिनेश्वरदेव भाव-वैद्य हैं

हे भव्यात्मन् ! तू अनन्त शक्ति का पुञ्ज है । तुझ में अनन्त शक्ति रही हुई है । तू अक्षय-सुख का भण्डार है । तेरा जीवन शाश्वत है.....परन्तु वर्तमान में तेरी यह दुर्दशा ? ओह ! रोटी के एक टुकड़े के लिए तू भीख मांग

रहा है.....थोड़ी सी धनसमृद्धि के लिए तू दीनता कर रहा है ? अहो ! इस प्रकार तेरा देह रोगों का शिकार बना हुआ है । तेरी यह कैसी दुर्दशा हो गई है ? तू दीन, हीन, रंक और दरिद्र अवस्था का अनुभव कर रहा है ।

अहो ! तू इस प्रकार के द्रव्य और भाव रोगों से क्यों दुःखी हो रहा है ?

जगत् के उपकारी जिनेश्वरदेव का अनुसरण क्यों नही करता है ? वे इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ वैद्य हैं, तू अपने रोगों का निदान उनके पास करा ले । वे कुशल वैद्य हैं । आत्मा के समस्त भाव रोगों को निर्मूल करने की औषधियाँ उनके पास है ।

हे भव्यात्मन् ! तू व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है । तीर्थंकर परमात्मा भाव-वैद्य हैं, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर तू भाव रोग से सदा के लिए मुक्त बन जा ।

जो आत्मा तीर्थंकर परमात्मा की शरणागति स्वीकार करती है.....उनकी आज्ञा का पूर्ण पालन करती है, वह आत्मा अल्प समय में ही भव रोग से सर्वथा मुक्त बन जाती है ।

तीर्थंकर परमात्मा एक कुशल वैद्य हैं, वे रोग के निदान और उसकी चिकित्सा को अच्छी तरह से जानते हैं ।

जिस आत्मा को जिस तरह का रोग लगा हुआ है, उस रोग को किस औषधि से दूर किया जा सकता है ? इस ज्ञान में वे पूर्ण कुशल हैं, अतः आत्म-हित चाहने वाले हे मुमुक्षु भव्यात्मन् ! तुम्हारे लिए तो जिनेश्वरदेव रूप कुशल वैद्य का अनुसरण करना ही हितकर है ।

श्रृणुतैकं विनयोदितवचनं,
नियतायतिहित - रचनम् ।
रचयत सुकृत-सुख-शतसन्धानं,
शान्त - सुधारसपानं रे ।।सुजना० 216।।

अर्थ :- अन्त में अवश्य हित करने वाले विनय के उपलक्षण से **(विनय विजयजी म. द्वारा)** कहा गया एक वचन तुम सुनो और सैकड़ों प्रकार से सुकृत तथा अनुपम के जोड़ने वाले **शान्त सुधारस** का पान करो ।।216।।

विवेचन

शान्त सुधारस का पान करो

अन्त में ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि परिणाम में एकान्त हितकर ऐसे मेरे एक वचन को सुनो । सैकड़ों सुकृतों के साथ अपनी आत्मा को जोड़ने वाले **'शान्त सुधारस'** का बारबार अमीपान करो ।

ग्रन्थकार ने **'विनय'** शब्द से अपना नाम निर्देश भी किया है और उसका दूसरा अर्थ **'विशेष प्रकार से नय को जानने वाले'** भी होता है ।

यह करुणा भावना **'शान्त सुधारस'** का ही एक अंग है । अतः अपनी आत्मा को पुष्ट करने के लिए बारंबार इस भावना को भावित करो । इस प्रकार करुणा आदि भावनाओं के भावन से आत्मा पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन करती है, यह पुण्य आत्मा को अनेकविध सुकृतों के साथ जोड़ देता है ।

'शान्त सुधारस' रूप इस ग्रन्थ के बारंबार स्वाध्याय से आत्मा शान्त-प्रशान्त बनती है ।

16 माध्यस्थ्य भावना

श्रान्ता यस्मिन् विश्रमं संश्रयन्ते,
रुग्णाः प्रीतिं यत्समासाद्य सद्यः ।
लभ्यं राग-द्वेषविद्वेषिरोधा-
दौदासीन्यं सर्वदा तत् प्रियं नः ।।217।।

(शालिनी)

अर्थ :- जिस उदासीनता को प्राप्त कर श्रमित जन विश्राम प्राप्त करते हैं और रोगी जन प्रीति प्राप्त करते हैं, राग-द्वेष रूप शत्रु का रोध करने से उसे (उदासीनता को) प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा औदासीन्य हमें सर्वदा प्रिय है ।।217।।

विवेचन

उदासीन/मध्यस्थ बनो

मुमुक्षु आत्मा के हृदय में अपार करुणा होती है, उसके हृदय में सभी दुःखी आत्माओं के प्रति करुणा होती है । वह उन सब आत्माओं को मोक्ष-अनुरागी देखना चाहती है । परन्तु दुनिया में ऐसी भी आत्माएँ हैं जो अपने तीव्र पापोदय के कारण मोक्षमार्ग से दूर ही रहती हैं, इतना ही नहीं यदि उन्हें धर्म का उपदेश दिया जाय तो भी वह उनके क्रोधादि की अभिवृद्धि का ही कारण बनता है । जिस प्रकार सर्प को पिलाया गया दूध भी विष में रूपान्तरित हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त पापी, क्रूर और निष्ठुर आत्माओं को दिया गया हितोपदेश भी अनर्थ की परम्परा का सर्जन करता है ।

पंचतंत्र में एक सुघरी पक्षी और एक बन्दर की कथा इस बात की साक्षी है । भयंकर वर्षा की ठण्डी लहरों से ठिठुरते हुए बन्दर को देख, उस पक्षी ने कहा-``अरे ! तुम इस प्रकार ठण्ड से ठिठुर रहे हो ? तुमने अपने रहने के लिए घोंसला क्यों नहीं बनाया ?''

उस पक्षी ने तो बन्दर को अच्छी सलाह दी थी, किन्तु इस सलाह को सुनकर उस बन्दर को गुस्सा आ गया और उसने कहा-``अरे ! तू कौन है मुझे कहने वाली ?'' इतना कहकर उसने एक छलांग लगाई और उस पक्षी के घोंसले को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ।

दुनिया में ऐसी क्रूर वृत्ति वाले बहुत से लोग होते हैं, जिन्हें भले ही अच्छी सलाह दी जाय, फिर भी परिणाम बुरा ही आता है ।

इस दुनिया में निष्कारण उपकारीजन बहुत कम मिलते हैं । अपने उपकारी के प्रति उपकार करने वाले जन कुछ मिल जाएंगे । इसके साथ दुनिया में कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जिन्हें दूसरे का अहित करने में ही आनन्द आता है । यदि कोई उन पर उपकार भी करे तो भी वे इस उपकार का बदला अपकार से ही देते हैं ।

ऐसे क्रूर, हिंसक, व्यभिचारी, पापी, शराबी, शिकारी जीवों को देखकर हमारे हृदय में उनके प्रति द्वेष अथवा दुर्भावना पैदा न हो जाय, इसके लिए तीर्थंकर भगवन्तों ने यह **'माध्यस्थ्य भावना'** बतलाई है, अर्थात् उन जीवों के प्रति भी हमारे हृदय में द्वेषभाव नहीं आना चाहिए; बल्कि उनके प्रति हमें मध्यस्थ/उदासीन रहना चाहिए ।

राग और द्वेष से मुक्त बनना यही मुक्ति का मार्ग है । संसार में रहते हुए हमें अनेकविध जीवों के सम्पर्क में आना पड़ता है, अतः पापी व क्रूर जीवों को देखकर, हमारे हृदय में द्वेष की भावना पैदा नहीं होनी चाहिए । उन जीवों की कर्म परिणति का विचार कर हमें मात्र उदासीन रह जाना है । यहाँ उदासीनता से तात्पर्य खेदग्रस्त बनना नहीं है, बल्कि उन क्रूर जीवों के प्रति उपेक्षा भाव, तटस्थ भाव, मौन भाव, मध्यस्थ भाव धारण करना है ।

इस औदासीन्य (मध्यस्थ) भाव की प्राप्ति राग और द्वेष के निरोध से होती है ।

राग और द्वेष के परिणामों से अपना मन चंचल हो जाता है, आत्म-स्थिरता समाप्त हो जाती है । राग-द्वेष की उपस्थिति में मध्यस्थ रहना शक्य नहीं है । राग-द्वेष के निरोध से ही आत्मा मध्यस्थ बन सकती है ।

जिस प्रकार भयंकर गर्मी में लम्बी पद-यात्रा करने से व्यक्ति थककर चूर हो जाता है, बदन में से पसीना छूटने लगता है और सम्पूर्ण देह श्रमित हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि मार्ग में छायादार वृक्ष और ठण्डा जल मिल जाय तो व्यक्ति का श्रम दूर हो जाता है और उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार इस संसार में अनन्त काल से परिभ्रमण करने के कारण हमारी आत्मा श्रमित बन चुकी है। औदासीन्य भावना के भावन से उसकी वह थकावट तुरन्त दूर हो जाती है।

रोगी व्यक्ति को औषधि मिलने पर जैसा आनन्द आता है, वैसा ही आनन्द मुमुक्षु आत्मा को इस औदासीन्य भावना से आता है।

यह माध्यस्थ्य भावना राग-द्वेष रुपी रोगों का सुन्दर इलाज है, इसके सेवन से आत्मा की थकावट दूर होती है और वह परमानन्द की अनुभूति करती है।

लोके लोका भिन्न-भिन्नस्वरूपाः,
भिन्नैर्भिन्नैः कर्मभिर्मर्मभिद्भीः।
रम्यारम्यैश्चेष्टितैः कस्य कस्य,
तद्विद्वद्भिः स्तूयते रुष्यते वा ।।218।।

(शालिनी)

अर्थ :- मर्मस्थल को भेदने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों को लेकर इस लोक में प्राणी भिन्न-भिन्न स्वरूप/आकार में दिखाई देते हैं। उनके सुन्दर और असुन्दर आचरणों को जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य इनमें किनकी प्रशंसा करे और किन पर रोष करे ? ।।218।।

विवेचन

जगत् की विचित्र स्थिति

इस विराट् संसार में अनन्तानन्त आत्माएँ हैं। वे सब कर्माधीन हैं। अपने-अपने कर्म के अनुसार सभी जीवात्माएँ सुख-दुःख आदि प्राप्त करती हैं।

सभी जीवात्माओं के कर्मों में तरतमता है, इस तरतमता के कारण ही सभी जीवों की स्थिति समान नहीं है।

किसी आत्मा के मोहनीय कर्म का तीव्र उदय है, इस कारण वह रागान्ध/कामान्ध बन गया है । अपने छोटे भाई की पत्नी के प्रति ही मोहित बन गया है, वह उसके रूप का पिपासु है । परन्तु छोटे भाई की पत्नी एक सती सन्नारी है, वह अपने ज्येष्ठ से हितकर बात करती है । परन्तु वह कामान्ध व्यक्ति भाई की पत्नी को पाने के लिए अपने हाथों ही भाई की हत्या कर देता है । परन्तु वह सती सन्नारी अपने शील के रक्षण के लिए जंगल में पलायन कर जाती है, इधर उस कामान्ध व्यक्ति की भी सर्पदंश से मृत्यु हो जाती है और वह मरकर नरक में चला जाता है ।

.....और देखो उस तापस को । कितना उग्र तप कर रहा है ! मासक्षमण के पारणे मासक्षमण ! लाखों वर्षों से वह यह तपस्या कर रहा है.....परन्तु आज वह क्रोध के अधीन बन गया है । तप से शरीर को कृश कर दिया है, परन्तु कषायों को कृश नहीं कर पाया ।

अहो ! उस हृदय में क्रोध की ज्वालाएँ कितनी भड़क रही हैं ? वह तापस उस राजा को हर भव में अपने हाथों से मारने का निदान कर रहा है ।

.....और वह मम्मण सेठ ! अहो ! अपार धन-सम्पत्ति उसके पास है, किन्तु उसके लोभ की सीमा नहीं है । भयंकर बाढ़ में बह रहे लकड़ों को वह खींच रहा है । इस प्रकार धन में आसक्त बना वह न दान देता है और न ही उस धन का उपभोग करता है । यह कैसी लोभान्धता है !

जरा सूर्यकान्ता महारानी को देखें । अहो ! कुछ समय पूर्व उसके हृदय में अपने पति के प्रति कितना अधिक राग था ! किन्तु आज वही महारानी अपने स्वामी को जहर का प्याला पिला रही है और गला दबोचकर पति की हत्या कर रही है ।

बड़ा ही विचित्र है यह संसार । कोई रागान्ध है तो कोई क्रोधान्ध है । कोई दीनता कर रहा है तो कोई अभिमान कर रहा है । कोई माया में लीन है तो कोई अत्यन्त ही सरल है । कोई अत्यन्त ही सन्तोषी है तो किसी के लोभ की कोई सीमा ही नहीं है ।

इस विचित्रता से परिपूर्ण संसार में सभी जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के वेष परिधान कर रहे हैं ।

इस प्रकार संसार की विचित्रता के दर्शन कर हे भव्यात्मन् ! तू राग और द्वेष का त्याग कर दे ।

सभी जीव अपने-अपने कर्मों के आधीन हैं और कर्म के अनुसार ही प्रवृत्ति-निवृत्ति कर रहे हैं, अतः किसकी स्तुति करें ? और किसकी निन्दा करें ? अर्थात् अन्य जीवों की वृत्ति-प्रवृत्ति को देखने के बजाय आत्म-निरीक्षण करना ही लाभकारी है । क्योंकि आत्म-निरीक्षण कर सत् में प्रवृत्ति और असत् से निवृत्ति लेना ही श्रेयस्कर है ।

मिथ्या शंसन् वीरतीर्थेश्वरेण,
रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो जमालिः ।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापात्,
तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम् ।।219।।

(शालिनी)

अर्थ :- स्वयं तीर्थंकर परमात्मा महावीर स्वामी भी अपने शिष्य जमाली को विरुद्ध प्ररूपणा करते हुए रोक नहीं सके, तो फिर कौन किसको पाप से रोक सकता है ? अतः उदासीनता ही आत्महितकर है ।।219।।

विवेचन

उदासीनता ही आत्महितकर है

हे भव्यात्मन् ! तेरी यह इच्छा है कि **'मैं सबको सुधार दूँ ।'** और इसी भावना से प्रेरित होकर तू उपदेश देता है और अन्य को बारबार प्रेरणा करता रहता है । परन्तु यह जरूरी नहीं है कि सभी तुम्हारी प्रेरणाओं को स्वीकार कर लें.....सभी तुम्हारे उपदेश का अनुसरण कर लें.....। क्योंकि सभी जीव अपने-अपने कर्म के आधीन हैं, सभी जीवों की भवितव्यता भिन्न है । सभी जीवों की योग्यता में अन्तर है, अतः कोई जीव जल्दी प्रतिबोध पा जाता है और कोई भारी कर्मी जीव प्रतिबोध देने पर भी प्रतिबोध नहीं पाता है । सांसारिक जीवों की इस विचित्र स्थिति को देखकर, यदि कोई आत्मा बोध न पाए तो भी तू खेद मत कर, बल्कि औदासीन्य भावना से अपनी आत्मा को भावित कर दे ।

तू याद कर, भगवान महावीर और उनके शिष्य जमाली को । उनका कितना घनिष्ट सम्बन्ध था ? सांसारिक दृष्टि से जमाली प्रभु महावीर के दामाद थे और धार्मिक दृष्टि से भगवान महावीर गुरु थे और जमाली उनके शिष्य ।

.....परन्तु कर्म की विचित्रता के कारण जमाली ने भगवान महावीर के एक वचन को स्वीकार नहीं किया । भगवान महावीर के **'कड़ेमाणे कड़े'** वचन को असिद्ध करने के लिए जमाली अनेक कुतर्क करने लगा । भगवान महावीर तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे, उनके वचनों में किसी प्रकार की संदिग्धता नहीं थी, उनके वचन असंदिग्ध थे । परन्तु मोह की विचित्र गति है । भगवान महावीर के शिष्यों ने जमाली को समझाने की बहुत कोशिश की, परन्तु वह नहीं समझा, उसने अपना कदाग्रह/हठाग्रह नहीं छोड़ा । हे भव्यात्मन् ! इस घटना पर तू कुछ विचार कर ।

भगवान महावीर सर्वज्ञ थे, अनन्त शक्ति के पुञ्ज थे, फिर भी उन्होंने जबरन जमाली को नहीं समझाया, तो फिर यदि कोई आत्मा तेरे हितकारी मार्गदर्शन को स्वीकार नहीं करता है, तो इसमें तुझे रोष करने की क्या आवश्यकता है ? अथवा निराश होने की भी क्या आवश्यकता है । तू उसकी भवितव्यता का विचार कर, उसके प्रति उदासीन बन जा । यही तेरे लिए हितकर मार्ग है ।

अर्हन्तोऽपि प्राज्यशक्तिस्पृशः किं,
धर्मोद्योगं कारयेयुः प्रसह्य ।
दद्युः शुद्धं किन्तु धर्मोपदेशं,
यत्कुर्वाणा दुस्तरं निस्तरन्ति ।।220।।

(शालिनी)

अर्थ :- तीर्थंकर परमात्मा असाधारण शक्ति सम्पन्न होते हैं, फिर भी क्या वे बलात्कार से किसी के पास धर्म कराते हैं ? अर्थात् नहीं कराते हैं । किंतु वे शुद्ध धर्म का उपदेश अवश्य देते हैं, जिसका पालन कर भव्य प्राणी भवसागर तैर जाते हैं ।।220।।

विवेचन

धर्म का ग्रहण स्वैच्छिक होता है

अरिहन्त परमात्मा अनन्तशक्ति के तेजस्वी पुञ्ज होते हैं । उनके पास अनन्त शक्तियाँ होती हैं । फिर भी वे किसी को धर्म स्वीकार करने के लिए जोर जबरदस्ती नहीं करते हैं । उनके हृदय में समस्त जीवों के प्रति करुणा होते हुए भी वे बलात्कार से किसी को धर्म नहीं देते हैं, बल्कि सहज भाव से शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं । इस प्रकार के धर्मोपदेश में न तो उनके हृदय में किसी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा होती है, न ही उन्हें अपने तीर्थ का राग ।

उनका विहार भी सहज भाव से होता है, उन्हें न द्रव्य का बन्धन है और न क्षेत्र का, उन्हें न काल का बन्धन है और न ही भाव का । वे सहज भाव से विचरते हैं.....सहज भाव से धर्मोपदेश देते हैं.....और सहज भाव से जीते हैं ।

इस प्रकार उनके साहजिक और विशुद्ध उपदेश का भावपूर्वक श्रवण करने से अनेक भव्यात्माओं को प्रतिबोध हो जाता है और वे संसार का त्याग कर अपना जीवन समर्पित कर देती हैं ।

धर्म कोई बलात्कार से देने की वस्तु नहीं है । धर्म कोई जैसे-तैसे वितरण करने की वस्तु नहीं है । धर्म तो घी के समान है । घी सबको नहीं पिलाया जाता है, जिसमें घी पचाने की ताकत हो, उसी के लिए घी लाभकारी है । जो व्यक्ति छाछ और दूध भी नहीं पचा सकता है, उसको घी पिला देने से तो नुकसान की ही सम्भावना रहती है ।

अतः धर्म भी योग्य और पात्र जीवों को ही देने का है । अपात्र जीव, धर्म को प्राप्त कर भी अपना अहित ही करता है ।

जिस प्रकार आग जिलाती भी है और जलाती भी है । जो आग का सदुपयोग करना जानता है, उसके लिए आग जीवन का अंग है और जिसे आग का उपयोग करना नहीं आता है, उस व्यक्ति को आग जलाकर समाप्त कर देती है ।

इसी प्रकार जो धर्म को बराबर समझता है, उसके लिए धर्म तारक है और जो धर्म को बराबर न समझकर, उसका स्वेच्छानुसार उपयोग करता है, उसके लिए धर्म घातक भी सिद्ध हो जाता है ।

अतः मात्र **'धर्म-प्रचार'** के एकांगी विचार को नहीं पकड़ना चाहिए, बल्कि पात्रता देखकर ही धर्म का दान करना चाहिए ।

तस्मादौदासीन्यपीयूषसारं,
वारं वारं हन्त सन्तो लिहन्तु ।
आनन्दानामुत्तरङ्गत्तरङ्गै-
र्जीवद्भिर्यद् भुज्यते मुक्तिसौख्यम् ।।221।।

(शालिनी)

अर्थ :- अतः सभी सन्त पुरुष उदासीनता रूपी अमृत का बारम्बार पान करें और आनन्द की उछलती तरंगों के द्वारा प्राणिमुक्ति के सुख को प्राप्त करें ।।221।।

विवेचन

उदासीन भाव अमृत तुल्य है

यह उदासीन भाव सारभूत अमृत तुल्य है । संत पुरुष इस अमृत का बारंबार पान करते हैं । जिसे यह संसार बन्धनरूप लगा हो और जो आत्मा संसार के बन्धनों से मुक्त बनना चाहती है, उसी आत्मा को यह भावना अमृत तुल्य लगती है । क्योंकि यह औदासीन्य भावना आत्मा को मध्यस्थ व तटस्थ बनाती है ।

हमारी आत्मा का झुकाव कभी राग की ओर होता है, तो कभी द्वेष की ओर । इस औदासीन्य भावना के अभ्यास से हमारी आत्मा मध्यस्थ-तटस्थ बनने लगती है, फिर हमारी आत्मा का झुकाव न राग की ओर होगा और न ही द्वेष की ओर । ऐसी स्थिति आने पर आत्मा प्रशम रस के महासागर में निमग्न हो जाएगी । प्रशम रस का सुख अनुपम सुख है, उस सुख का एक बार भी स्वाद आ जाय.....तो फिर सांसारिक सुख की इच्छा ही समाप्त हो

जाती है । जिस सुख का अनुभव देव, देवेन्द्र और चक्रवर्ती के लिए भी दुर्लभ है, उस सुख का अनुभव प्रशमरस में निमग्न आत्मा कर लेती है ।

मोक्ष का सुख परोक्ष और दुर्लभ है, किन्तु प्रशम का सुख तो सुलभ है न ! हे भव्यात्मन् ! तू इस सुख का आस्वादन कर । हाँ, इस सुख के आस्वादन के लिए एक शर्त है-`तुझे औदासीन्य भावना के अमृत का आस्वादन करना होगा ।'

उदासीनता से व्यक्ति मध्यस्थ बनता है-न राग की ओर झुकाव और न ही द्वेष की ओर झुकाव ।

इस आनन्द का अनुभव सन्त पुरुष करते हैं । एक बार इस आनन्द की अनुभूति हो जाने के बाद क्रमशः यह आनन्द दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जाता है और अन्त में आत्मा मुक्ति के परम सुख का अनुभव करती है; आत्मा शाश्वत सुख की भोक्ता बन जाती है ।

बस, एक मात्र शुद्ध, बुद्ध और परमानन्द स्वरूप को आत्मा प्राप्त कर लेती है । आनन्द.....आनन्द और आनन्द ही एक मात्र आत्मा का स्वरूप बन जाता है ।

षोडशभावनाष्टकम्

(प्रभाती राग)

अनुभव विनय ! सदा सुखमनुभव,
औदासीन्यमुदारं रे ।
कुशलसमागममागमसारं,
कामित - फलमन्दारं रे ।।अनुभव० 222।।

अर्थ :- हे विनय ! तू सदैव उदासीनता रूप उदार सुख का अनुभव कर । क्योंकि यह आगम-सिद्धान्त के सार रूप मोक्ष-पद की प्राप्ति कराने वाला है तथा इष्टफल को देने में कल्पवृक्ष के समान है ।।222।।

विवेचन

उदासीन भाव कल्पवृक्ष है

पूज्यपाद ग्रन्थकार महर्षि आत्मसम्बोधन करते हुए फरमाते हैं कि हे विनय ! हे आत्मन् ! तू उदासीनता के नित्य सुख का अनुभव कर ।

क्षणिक पदार्थों के राग भाव को दूर करने के लिए महापुरुषों ने अनित्य आदि भावनाओं का निर्देश किया है, जबकि जीवत्व के द्वेष को दूर करने के लिए महापुरुषों ने मैत्री आदि चार भावनाएँ बतलाई हैं ।

इस संसार में ऐसे अनेक प्राणी हैं, जिनको हितकर बात भी अत्यन्त कटु लगती है । वे आत्म-हित के प्रति पूर्णतया बेपरवाह होते हैं । उन्हें तो इस जीवन के क्षणिक सुखों में ही आनन्द आता है और येन केन प्रकारेण उन सुखों को पाने के लिए वे दौड़धूप करते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें भयंकर पापकर्म करने पड़ें । भयंकर पापप्रवृत्ति को करते हुए भी उनके हृदय में लेश भी पीड़ा नहीं होती है । साग और तरकारी की तरह वे बड़े-बड़े पशुओं को और मनुष्यों को भी चीर डालते हैं । किसी की हत्या करने में उन्हें तनिक भी

हिचकिचाहट नहीं होती है । उन्हें पाप से भय नहीं होता है, बल्कि वे उसमें पूर्णतया आसक्त होते हैं । किसी जीव को मरते हुए, तड़फते हुए देखने में ही उन्हें आनन्द आता है ।

ऐसी क्रूरवृत्ति वाले लोगों के प्रति हमारे मन में (अनादि के द्वेष भाव के संस्कारों के कारण) घृणा का भाव आना स्वाभाविक है, परन्तु वह घृणा का भाव हमारी आत्मा के लिए हितकर नहीं है, अतः ऐसी परिस्थिति में हमें उदासीन व तटस्थ रहना है और इस माध्यस्थ्य-औदासीन्य भावना से आत्मा को भावित करना है ।

यह उदासीनता परम आनन्ददायी है और आत्मा के शाश्वत सुख के साथ हमारा सम्बन्ध कराने वाली है । इष्टफल को देने में यह कल्पवृक्ष के समान है ।

यह औदासीन्य वृत्ति जिनागमों का सार है । उपशम भाव यह तो प्रवचन का सार है । जो आत्मा औदासीन्यभाव को आत्मसात् कर लेती है, उस आत्मा ने जिनागम के सारभूत तत्त्व को ग्रहण कर लिया है । वह आत्मा क्रमशः अपने इष्ट फल को पाने में तत्पर बनती जाती है ।

परिहर परचिन्तापरिवारं,
चिन्तय निजमविकारं रे ।
वदति कोऽपि चिनोति करीरं,
चिनुतेऽन्यः सहकारं रे ।।अनुभव० 223।।

अर्थ :- पर-पुद्गल की चिन्ता का तू त्याग कर दे और आत्मा के अविकारी आत्मस्वरूप का तू चिन्तन कर । कोई मुख से बड़ी-बड़ी बातें ही करते हैं, किन्तु वे कटीर ही पाते हैं, जबकि परिश्रम करने वाले आम्र की प्राप्ति करते हैं ।।223।।

विवेचन

आत्मा का चिन्तन करो

हे आत्मन् ! तू अन्य की चिन्ता का त्याग कर दे और अपनी आत्मा के अविकारी स्वरूप में लीन बन जा ।

एक ही पंक्ति में ग्रन्थकार महर्षि ने हमें आनन्द की चाबी दे दी है ।

इस संसार में आत्मा दुःखी बनती है पर-भाव में रमणता से । जो अपना नहीं है, उसे अपना मानकर, उसकी प्राप्ति, उसके संरक्षण आदि की चिन्ता में व्यग्र बनना परभाव-रमणता है । धन, धान्य, पत्नी, पुत्र, परिवार, मकान, दुकान, जायदाद, सम्पत्ति व यह देह अपने नहीं हैं । परन्तु हमने इन सबको अपना मान लिया है । विनाशी देह में ही हमने आत्मबुद्धि कर ली है । **'मैं आत्मा हूँ'** और **'ज्ञान-दर्शन-चारित्र मेरी आत्म-सम्पत्ति हैं'** इस बात को हम सर्वथा भूल गए हैं । सतत बहिर्भाव में ही जी रहे हैं । इसके परिणाम-स्वरूप हम सतत पौद्गलिक चीजों की चिन्ता से ग्रस्त बने हैं । हमें धनार्जन की चिन्ता है.....अर्जित धन के रक्षण की चिन्ता है.....पुत्र-परिवार की चिन्ता है.....उन्हें कोई तकलीफ न आ जाय, इसके लिए हम पूर्ण जागरूक हैं.....परन्तु दूसरी ओर हमारी आत्मसम्पत्ति सतत लूटी जा रही है और हम दरिद्र-कंगाल सी स्थिति में आ चुके हैं, इस बात की हमें लेश भी परवाह नहीं है ।

हे आत्मन् ! तू इन परभावों की चिन्ता छोड़ दे, क्योंकि इन चिन्ताओं से तुझे कुछ भी फायदा होने वाला नहीं है, तू अपने अविनाशी आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर । तू अजर है, अमर है.....अविनाशी है । आग तुझे जला नहीं सकती है, पवन तुझे उड़ा नहीं सकता है.....शस्त्र तुझे छेद नहीं सकते हैं । तू आनन्दमय है,.....ज्ञानमय है, ...सुखमय है..... ।

'तू निरंजन-निराकार ज्योतिस्वरूप है ।' इस प्रकार तू अपने स्वरूप का चिन्तन कर, आत्मानुभूति के लिए प्रयत्नशील बन और अन्य सब झंझट छोड़ दे । अन्य व्यक्ति क्या-क्या प्रवृत्ति करता है ? उस प्रवृत्ति के क्या-क्या परिणाम आएंगे ? इत्यादि विचार करने की तुझे आवश्यकता नहीं है । तुझे तो उसके प्रति उदासीन/मध्यस्थ हो जाना है ।

हे आत्मन् ! केवल बातें करने से काम नहीं चलेगा । मोक्ष अथवा निजानन्द की बातें करने से ही मोक्ष का अनुभव होने वाला नहीं है, इस हेतु तुझे प्रयत्न और पुरुषार्थ करना पड़ेगा । जो केवल बातें ही करता है, प्रयत्न नहीं करता है, उसे कुछ नहीं मिलता है और जो प्रयत्न-पुरुषार्थ करता है, उसे आम्रवृक्ष अर्थात् मीठा फल प्राप्त होता है, अतः तू भी आत्मस्वरूप के चिन्तन और अनुभव के लिए प्रयत्नशील बन ।

योऽपि न सहते हितमुपदेशं,
तदुपरि मा कुरु कोपं रे ।
निष्फलया किं परजनतप्त्या,
कुरुषे निजसुखलोपं रे ।।अनुभव० 224।।

अर्थ :- जो तुम्हारे हितकारी उपदेश को सहन नहीं करते हैं, उन पर तू क्रोध मत कर । व्यर्थ किसी पर क्रोध करके तू अपने स्वाभाविक सुख का लोप क्यों करता है ? ।।224।।

विवेचन

क्रोध न करो

'हे आत्मन् ! तू एक क्रोधी आत्मा को देखकर उसे शान्त बनाना चाहता है और इस हेतु तू उसे उपदेश देता है.....उसे योग्य सलाह देता है, परन्तु सम्भव है.....वह तेरी बात स्वीकार न भी करे, वह तेरी हितकारी बात की भी उपेक्षा कर दे.....शायद वह तेरी बात सुनने के लिए भी तैयार न हो ।' ऐसी परिस्थिति में भी हे आत्मन् ! तुझे उस पर क्रोध करने का अधिकार नहीं है ।

उन्मार्गगामी को मार्ग बतलाना तेरा कर्त्तव्य है । उन्मार्गगामी को मार्ग दिखलाकर तूने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया है.....अब तू उस पर व्यर्थ ही गुस्सा क्यों करता है ? इस प्रकार गुस्सा करने से क्या वह सुधर जाएगा ? शायद तू शान्त रहेगा तो भविष्य में उचित समय पर तू उसे सुधार भी सकेगा.....परन्तु आज और इस घड़ी ही उसे सुधारने की बात करना व्यर्थ ही है ।

'.....वह न सुधरे.....तो उसकी भवितव्यता ।' तू गुस्सा करके अपनी शान्ति को नष्ट मत कर । क्रोध करने से मन चंचल/अस्थिर बनता है और अस्थिर मन अशान्त हो जाता है ।

हे आत्मन् ! तू अपने मित्रजन को, स्वजन को, पुत्र आदि को सुधारना चाहता है और इसके लिए तू बहुत मेहनत भी करता है.....परन्तु संयोगवश तुझे सफलता न मिले, फिर भी तुझे सन्ताप करने की आवश्यकता नहीं है । ऐसी परिस्थिति में भी तुझे अपनी स्थिरता बनाए रखना है ।

सूत्रमपास्य जडा भासन्ते,
केचन मतमुत्सूत्रं रे ।
किं कुर्मस्ते परिहृतपयसो,
यदि पीयन्ते मूत्रं रे ।।अनुभव० 225।।

अर्थ :- कई जड़ बुद्धि वाले शास्त्र-वचन का त्याग कर मिथ्या (शास्त्रविरुद्ध) भाषण करते हैं, वे मूढ़ जीव निर्मल जल का त्याग कर मूत्र का पान करते हैं, तो इसमें हम क्या करें ? ।।225।।

विवेचन

मूढ़जन पर भी गुस्सा मत करो

इस दुनिया में ऐसे अनेक जड़-बुद्धि वाले कदाग्रही पुरुष होते हैं, जो मन्दमति वाले होने पर भी अपने आपको महान् बुद्धिमान समझते हैं और मतिकल्पना के अनुसार शास्त्र के विपरीत अर्थ कर बैठते हैं । उनकी बुद्धि शास्त्र-परिकर्मित न होने से वे शास्त्र-पंक्तियों का भी अपनी इच्छानुसार अर्थ कर लेते हैं ।

सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियों को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए । प्रेम से समझ जायें तो ठीक बात है, अन्यथा उनके साथ वाद भी कर सकते हैं । यह **'वाद'** भी आत्महित की बुद्धि से ही होना चाहिए, किसी को नीचा दिखाने की कुदृष्टि नहीं होनी चाहिये ।

इस प्रकार समझाने पर भी.....वाद करने पर भी.....सत्य तत्त्व को बतलाने पर भी वह न समझे तो भी उस पर गुस्सा न कर, उसके प्रति माध्यस्थ्य भाव धारण करना चाहिए । यही सोचना चाहिए कि एक व्यक्ति पवित्र दूध का त्याग करके यदि मूत्र पीने की दुश्चेष्टा करता है, तो उसका और क्या उपाय है ?

सूअर के सामने एक ओर क्षीर और दूसरी ओर विष्ठा-मलमूत्र रखा जाय तो वह विष्ठा में ही मुँह डालेगा, उसे क्षीरान्न का भोजन पसन्द नहीं

आता है । मधुर क्षीरान्न का त्याग कर वह विष्ठा में अपना मुँह डालता है तो इसमें हमारा क्या दोष है ? इसी प्रकार शास्त्र तो सन्मार्ग के प्रकाशक हैं, उनके आलम्बन से हम भवसागर पार कर सकते हैं, परन्तु उन शास्त्रों के शब्दों को पकड़कर जो उनके रहस्यार्थ/ऐदंपर्यार्थ को जानने का प्रयत्न नहीं करते हैं और शास्त्र-प्रवचन-विरुद्ध ही देशना देते हैं और शास्त्रविरुद्ध ही प्रवृत्ति करते हैं, तो आगे हम क्या कर सकते हैं ?

पश्यसि किं न मनःपरिणामं,
निजनिजगत्यनुसारं रे ।
येन जनेन यथा भवितव्यं,
तद्भवता दुर्वारं रे ।।अनुभव० 226।।

अर्थ :- अपनी-अपनी गति के अनुसार जीवों के (शुभाशुभ) परिणाम होते हैं, अतः हे आत्मन् ! तू क्यों नहीं समझता है ? जिस आत्मा की जो गति होने वाली है, उसे तू कैसे रोक सकेगा ? उसे तू नहीं मिटा सकता है ।।226।।

विवेचन

किसी की भावी को मिथ्या नहीं कर सकते

इस संसार में सभी जीवों के अन्तिम परिणाम उनकी आगामी गति के अनुसार ही होते हैं । **'यथा गति तथा मति ।'** आत्मा को जहाँ पैदा होना है, उस गति के अनुसार ही उसके अन्तिम परिणाम होते हैं ।

यदि किसी आत्मा की दुर्गति ही होने वाली है.....यदि कोई आत्मा नरकगामी ही है.....तो उसके अन्तिम परिणाम क्रूर ही होंगे.....उसे आत्मकल्याण की हितकर बातें अच्छी नहीं लगेंगी । नरकगति के अनुसार उस आत्मा के अशुभ-परिणाम हो जायेंगे.....वह आत्मा अशुभ विचारों में लीन हो जाएगी । उसे अच्छी बातें भी कड़वी लगेंगी ।

हर आत्मा अपनी भवितव्यता के अनुसार ही इस संसार में गमनागमन करती है । यदि उस आत्मा की भवितव्यता खराब है.....यदि वह आत्मा दीर्घसंसारी है.....तो उसे तुम्हारी अच्छी बात भी अच्छी नहीं लगेगी परन्तु

इतने मात्र से तुझे निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तुझे इस बात का पता है कि जो भवितव्यता-भविष्य में होने वाली घटना होती है, उसे किसी भी प्रकार से टाला नहीं जा सकता है । यावत् तीर्थंकर परमात्मा भी किसी की भवितव्यता को बदलने में समर्थ नहीं है । तो फिर अपनी क्या हैसियत है ? कई बार हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति ने जीवन भर धर्म की आराधना की हो.....परन्तु उस आत्मा ने दुर्गति के आयुष्य का बन्ध कर लिया हो तो उस आत्मा को अन्तिम समय में शायद धर्म की बात अच्छी न भी लगे, उसे समाधिदायक सूत्रों का श्रवण पसन्द न भी पड़े, धर्मीजन के जीवन में इस प्रकार के विपर्यास, विपरीत भावों को देखकर भी हे आत्मन् ! तू खेद मत कर । क्योंकि सबकी अपनी-अपनी भवितव्यता निश्चित है, उसी के अनुसार उनके परिणाम होते हैं ।

रमय हृदा हृदयंगमसमतां,
संवृणु मायाजालं रे ।
वृथा वहसि पुद्गल - परवशता-,
मायुः परिमितकालं रे ।।अनुभव० 227।।

अर्थ :- अपने दिल में आनन्ददायी समता को स्थिर कर और मायाजाल का त्याग कर दे, तू व्यर्थ ही पुद्गल की पराधीनता भोग रहा है, तेरा आयुष्य तो मर्यादित है ।।227।।

विवेचन

पुद्गल की पराधीनता छोड़ दो

हे आत्मन् ! तू क्रोधादि कषाय भावों का त्याग कर दे और समता से दिल जोड़ दे । समता से आत्मा अल्प क्षणों में ही भयंकर कर्मों की भी निर्जरा कर देती है ।

दृढ़प्रहारी ने चार-चार हत्याएँ की थीं, परन्तु संयम अंगीकार करने के बाद उसने इस प्रकार समता का अभ्यास किया कि मात्र छह मास की अल्प अवधि में ही उसने सर्व घातिकर्मों की निर्जरा कर दी ।

समता की अपूर्व साधना से गजसुकुमालमुनि ने अल्प समय में ही

सर्व कर्मों की निर्जरा कर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लिया ।

समत्व की साधना के द्वारा भगवान महावीर ने दृष्टि-विष सर्प को भी प्रतिबोध दिया ।

समत्व की साधना से स्कन्दकाचार्य के 500 शिष्यों ने मुक्तिपद प्राप्त कर लिया ।

समता के लाभों का क्या वर्णन करें ? समतावन्त महामुनियों को देवदेवेन्द्र और चक्रवर्ती भी प्रणाम करते हैं । अतः हे आत्मन् ! तू समता का अभ्यास कर ।

इसके साथ ही हे आत्मन् ! तू हर प्रकार के मायाजाल का त्याग कर दे । माया करने से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है । मल्लिनाथ ने पूर्वभव में तप के आचरण में माया की थी, इसके परिणामस्वरूप उन्हें तीर्थंकर के भव में भी स्त्री पर्याय प्राप्त हुई ।

मायावी व्यक्ति धर्म का अधिकारी नहीं है । जिस प्रकार धागे में गाँठ न हो तो ही उसे सुई में पिरोया जा सकता है, उसी प्रकार सरल व्यक्ति के हृदय में ही धर्म का अवतरण हो सकता है । अतः हे आत्मन् ! तू माया-प्रपंच का भी सर्वथा त्याग कर दे ।

हे आत्मन् ! तू पुद्गल की परवशता का भी त्याग कर दे । पुद्गल तो क्षणिक है, नाशवन्त है, उसके साथ अपना नाता जोड़ना उचित नहीं है । धन, मकान, दुकान, जायदाद आदि सब पुद्गल की ही तो पर्यायें हैं । पुद्गल की पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, अतः तू उनमें राग भाव का त्याग कर दे, तेरा जीवन अल्पकालीन है.....कुछ ही समय के बाद तुझे यहाँ से चल देना है, अतः पौद्गलिक भाव में तू क्यों नाच रहा है ? उनकी क्षणिकता का विचार कर तू उनका त्याग कर और आत्मा के साथ अपना प्रेम जोड़ दे ।

अनुपमतीर्थमिदं स्मर चेतन -
मन्तः स्थितमभिरामं रे ।
चिरं जीव विशदपरिणामं,
लभसे सुखमविरामं रे ।।अनुभव० 228।।

अर्थ :- तेरे अन्दर रही हुई आत्मा ही सुन्दर व अनुपम तीर्थ है, उसे तू याद कर और चिरकाल पर्यन्त निर्मल परिणामों को धारण कर जिससे तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति होगी ।।228।।

विवेचन

आत्मा ही तीर्थ है

यह आत्मा अनुपम तीर्थ है । तीर्थ अर्थात् जो आत्मा को भवसागर से पार लगाता है । तीर्थ के दो भेद हैं-(1) स्थावर तीर्थ और (2) जंगम तीर्थ । शत्रुंजय, गिरनार आदि स्थावर तीर्थ हैं, जो अपनी आत्मा को भवसागर पार उतरने के लिए श्रेष्ठ आलम्बन स्वरूप हैं । साधु-साध्वी आदि जंगम तीर्थस्वरूप हैं, जिनके आलम्बन से हम आसानी से भवसागर पार कर सकते हैं ।

ग्रन्थकार महर्षि अपनी आत्मा को अनुपम तीर्थ स्वरूप बतला रहे हैं । अपनी आत्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्म-तुल्य है, अत व्यक्ति जब अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन-ध्यान में मग्न बनता है, तब उसके लिए विशुद्धात्मा तीर्थस्वरूप बन जाती है । यह तीर्थ अनुपम है तथा अपनी आत्मा में ही स्थित है ।

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ध्यान एक सर्वोत्तम ध्यान है । विशुद्ध-आत्मा के ध्यान से हमें परमानन्द की अनुभूति होती है । आत्मा ही सुख का अक्षय भण्डार है, अतः जब आत्मा अपने स्वरूप में लीन बनती है, तब वह अलौकिक परम आनन्द का अनुभव करती है ।

आत्मानुभूति का जो आनन्द है, वह आनन्द हमें सांसारिक पदार्थों से कहीं कभी प्राप्त नहीं हो सकता है ।

आत्मा स्वयं ही सच्चिदानन्द स्वरूप है । आनन्द अपने पास-अत्यन्त पास ही है, परन्तु अनभिज्ञता के कारण हम उस आनन्द को अन्यत्र शोधते हैं ।

हे आत्मन् ! तू आत्मस्वरूप के चिन्तन में सतत जागरूक बन । आत्मा की स्मृति ही सच्चा जीवन है और आत्मा की विस्मृति ही मरण है । आत्मा के नित्य स्मरण से आत्मा अनुपम सुख का अनुभव करती है ।

परब्रह्मपरिणाम - निदानं,
स्फुटकेवलविज्ञानम् रे ।
विरचय विनयविवेचितज्ञानं,
शान्त सुधारसपानं रे ।। अनुभव० 229।।

अर्थ :- परब्रह्म-परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के निदान रूप तथा निर्मल केवलज्ञान प्रदान करने वाले विनय **(पू. उपा. श्री विनय विजयजी म.)** द्वारा विवेचित **'शान्त सुधारस'** का हे भद्र ! तू पान कर ।।229।।

विवेचन

शान्त सुधारस का पान करो

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना **महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी महाराज** ने की है । ग्रन्थकार महर्षि ग्रन्थ की समाप्ति पर अपने नाम का निर्देश करते हुए इस **शान्त सुधारस** का बारम्बार पान करने के लिए प्रेरणा कर रहे हैं ।

यह **'शान्त सुधारस'** वास्तव में एक अमृतकुम्भ है ।

ग्रन्थकार महर्षि औदासीन्य भावना का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह औदासीन्य भावना अपनी आत्मा को परब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली है ।

पर अर्थात् उत्कृष्ट ।

ब्रह्म अर्थात् विशुद्ध चैतन्य ।

जब आत्मा संसार के समस्त बाह्य भावों के प्रति उदासीन बन जाती है, तब उसकी दृष्टि शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में, अनुकूलता-प्रतिकूलता में, कंचन और काच में समान हो जाती है अर्थात् उसे न तो अनुकूलता में राग होता है और न ही प्रतिकूलता में द्वेष ।

इस औदासीन्य भावना की प्रकृष्ट दशा ही आत्मा की वीतराग अवस्था है । वीतराग बन जाने के बाद आत्मा पूर्ण उदासीन बन जाती है । इस प्रकार औदासीन्य भावना आत्मा को वीतराग दशा की ओर आगे बढ़ने का ही एक कदम है ।

वीतराग बनने के तुरन्त बाद आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर निर्मल केवलज्ञान को प्राप्त करती है, इस प्रकार यह भावना वीतरागदशा और केवलज्ञान की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है ।

अपने दैनिक जीवन-व्यवहार में यदि हम माध्यस्थ्य भावना को आत्मसात् कर लें तो हमारे जीवन की अनेकविध समस्याओं का समाधान हो सकता है । कोई व्यक्ति हमारी बात नहीं मानता है, तब हमें गुस्सा आ जाता है । किसी व्यक्ति को हम उसके हित की बात समझाते हैं, फिर भी वह हमारी उपेक्षा कर देता है, तब हमारे दिल में उसके प्रति नाराजगी पैदा हो जाती है ।

किसी पर हमने उपकार किया हो, फिर भी वह हमारा नुकसान करने के लिए तैयार होता हो तो उस समय हमें भयंकर गुस्सा आ जाता है ।

परन्तु उपर्युक्त सभी परिस्थितियों में अपने मन को बराबर संतुलित बनाए रखने के लिए यह माध्यस्थ्य भावना हमें एक सुन्दर प्रेरणा देती है । यदि हम इस भावना को आत्मसात् कर लें तो हम अपनी आत्मा को मुक्ति के साथ जोड़ सकते हैं ।

अथ प्रशस्तिः

एवं सद्भावनाभिः सुरभितहृदयाः संशयातीतगीतो-
न्नीतस्फीतात्मतत्त्वास्त्वरितमपसरन्मोहनिद्राममत्वाः ।
गत्वा सत्त्वाममत्वातिशयमनुपमां चक्रिशक्राधिकानां,
सौख्यानां मंक्षु लक्ष्मीं परिचितविनयाः स्फारकीर्तिं श्रयन्ते ।।230।।

(स्रग्धरा)

अर्थ :- इस प्रकार सद्भावनाओं से सुवासित हृदय वाले प्राणी संशयरहित हृदय से प्रशस्त आत्मतत्त्व की उन्नति कर शीघ्र ही मोहनिद्रा और ममत्व को दूर कर चक्रवर्ती और इन्द्र से भी अधिक अनुपम सुख-समृद्धि को सहज प्राप्त करते हैं और अति नम्रता को धारण करते हुए भी वे विस्तृत कीर्ति प्राप्त करते हैं ।।230।।

दुर्ध्यानप्रेतपीडा प्रभवति न मनाक् काचिदद्वन्द्वसौख्य-
स्फातिः प्रीणाति चित्तं प्रसरति परितः सौख्यसौहित्यसिन्धुः ।
क्षीयन्ते रागरोषप्रभृतिरिपुभटाः सिद्धिसाम्राज्यलक्ष्मीः,
स्याद् वश्या यन्महिम्ना विनयशुचिधियो भावनास्ताः श्रयध्वम् ।।231।।

(स्रग्धरा)

अर्थ :- जिसके प्रभाव से दुर्ध्यान रूप प्रेत की पीड़ा उत्पन्न नहीं होती है, अपूर्व सुख की प्राप्ति से चित्त प्रसन्न बनता है, चारों ओर सुख की पुष्टि रूप सागर फैल जाता है, राग-द्वेष रूप शत्रु-वर्ग नष्ट हो जाते हैं और मुक्ति रूप साम्राज्य की लक्ष्मी वशीभूत बनती है, इस प्रकार की विनय से पवित्र बनी बुद्धि को धारण कर उपर्युक्त भावनाओं को भजो ! उनका सेवन करो ।।231।।

श्रीहीरविजय - सूरीश्वर - शिष्यौ,
सोदरावभूतां द्वौ ।
श्रीसोमविजयवाचक-
वाचकवरकीर्तिविजयाख्यौ ।।232।।

(पथ्या)

अर्थ :- श्री सोमविजय वाचक (उपाध्याय) और श्री कीर्तिविजय वाचक (उपाध्याय) दोनों **श्रीमद् हीरविजय सूरीश्वरजी म.** के शिष्य होने से दोनों गुरुभ्राता हुए ।।232।।

तत्र च कीर्तिविजयवाचकशिष्योपाध्यायविनयविजयेन ।
शान्तसुधारसनामा संदृष्टो भावनाप्रबन्धोऽयम् ।।233।।

(गीति)

अर्थ :- उनमें **(उपाध्याय) श्रीमद् कीर्ति विजयजी म.** के शिष्य **उपाध्याय श्री विनय विजयजी म.** ने भावनाओं के सम्बन्ध से प्रकृष्ट बोधदायी **शान्त सुधारस** नाम का ग्रन्थ रचा है ।।233।।

शिखि-नयन-सिन्धु-शशिमित वर्षे,
हर्षेण गन्धपुरनगरे ।
श्रीविजयप्रभसूरिप्रसादतो,
यत्न एष सफलोऽभूत् ।।234।।

(गीति)

अर्थ :- यह प्रयत्न **श्रीमद् विजयप्रभ सूरीश्वरजी म.** की कृपा से गन्धपुर (गांधार) नगर में संवत् 1723 वर्ष में सफल हुआ ।।234।।

यथा विधुः षोडशभिः कलाभिः,
संपूर्णतामेत्य जगत् पुनीते ।
ग्रन्थस्तथा षोडशभिः प्रकाशै -
रयं समग्रः शिवमातनोतु ।।235।।

(उपजाति)

अर्थ :- जिस प्रकार चन्द्रमा सोलह कलाओं से सम्पूर्णता प्राप्त कर जगत् को पावन करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी सम्पूर्ण सोलह प्रकाशों के द्वारा शिवसुख का विस्तार करे ।।235।।

यावज्जगत्येष सहस्त्रभानुः,
पीयूषभानुश्च सदोदयेते ।
तावत्सतामेतदपि प्रमोदं,
ज्योतिः स्फुरद् वाङ्मयमातनोतु ।।236।।

(उपजाति)

अर्थ :- जब तक जगत् में सूर्य और चन्द्र उदित रहें तब तक यह प्रकाशवन्त शास्त्र रूप ज्योति भी सत्पुरुषों को प्रमोद (आनन्द) देती रहे ।

इति श्रीमन्महोपाध्याय श्रीकीर्तिविजयगणिशिष्योपाध्यायश्रीविनयविजयगणि - विरचिते शान्त-सुधारसग्रन्थे षोडशः प्रकाशः समाप्तिमगमत् ।

■ ■ ■

— : प्रशस्ति : —

इस प्रकार महोपाध्याय **श्रीमद् विनयविजयजी महाराज** विरचित **शांत सुधारस ग्रंथ** का सरल हिन्दी विवेचन ।

परम शासन प्रभावक व्याख्यान वाचस्पति पूज्यपाद आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान् योगी निःस्पृहशिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के चरम शिष्यरत्न **मुनिश्री रत्नसेनविजयजी महाराज** (वर्तमान में मरुधररत्न गोडवाड के गौरव प्रवचन प्रभावक पूज्य **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी महाराज** ने दि. 15-7-2081 के शुभ दिन पूर्ण किया ।

उपाध्यायश्री विनयविजय महाराज विरचित

शान्त सुधारस

गेय काव्य

समश्लोकी पद्यानुवाद

अध्यात्मयोगी पू. पं. श्री भद्रंकर विजयजी म.सा. के प्रशिष्यरत्न
विद्वद्वर्यपूज्य मुनिश्री धुरंधर विजयजी महाराज

मंगल

जामी मोहनिशा झरे दश दिशा पंचाश्रवो ना घने
छाया कर्मलतावनो, निबिड त्यां संसारना कानने,
भूलेला जनने पथे लई जती कारुण्यथी ओपता...
अर्हंतोनी गिरा सुधा टपकती रक्षो तमोने सदा 1

पीठिका

बुध तणां मनमां पण भावना, विण स्फुरे नहि शांत सुधारस;
नथी ज मोह विषाद विषे ठस, जगतमां जरीये सुख ते विना. 2
मनडुं जो भवमां भमतां थयुं, विलखुं, ने सुख जो ध्रुव इच्छतुं
बुध ! सुणो, तव भावनना रस, थकी भर्युं मुज शांत सुधारस. 3
उर धरो ! सुजनो ! शुभभावना, श्रवण पावन बार, अहीं यथा;
गति रुंधाई विमोहथी जेहनी, उगती दिव्यलता समता तणी. 4
आर्त्तरौद्र परिणाम अग्निथी, ज्यां विवेकपटुता बळी गई,
चित्तमां विषयलोलुपो तणां, केम अंकुर कूटे शमत्व ना.....5

वसंततिलका

जेना विवेक अमीवृष्टि थकी सुरम्य,
सम्यक् श्रुते निपुण, आश्रयने श्रये छे,
सद्भावना सुरलता, न रहे कदीये,
तेने अलोकिक फळो शमनां अगम्य. ...6

अनुष्टुप

अनित्य, अशरणता, भव, अेकत्व, अन्यता;
अशौच, आश्रव, आत्मन् ! भाव, संवरभावना ...7

निर्जरा, धर्म ने, लोकस्वरुप, बोधिदुर्लभ,
भावतो भावना बार, भवथी तुं मूकाइश ! 8

अनित्य भावना-1

।। पुष्पिताग्रा ।।

चल जलद विलास जेम अेह, अति अतिभंगुर छे मनुष्यदेह;
खिण विणसत यौवन छक्यो ते, क्यम बनतो बुधने महोदयार्थे! 1

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

आयु वायुतरंग जेवुं चल छे, संपत्ति छे आपदा,
संध्यारंग समा विनाशी विषयो छे इंद्रियोना बधा;
ने स्वप्नो वळी इन्द्रजाळ सरखां संजोग सौ स्नेहिना,
रे! आलंबन हर्षनुं सुजनने संसारमां क्यांय ना. 2
आहिं भाई, प्रभातमां जड अने चैतन्यना भाव जे,
जोया उज्ज्वळ, सौनुं हैयुं भरता हर्षे स्वयं रम्य ते -
पामे नाश विपाकथी विरस, ते दहाडे ज जोउ छतां,
राचे पाप हणायुं मारुं मन हा! संसारना प्रेममां. 3

गीत

राग : रामगिरि

मूढ, तुं मुंझ मा ! मूढ, तुं मुंझ मा !,
चिंतवी विभव - परिवार - गेह;
वायुकंपित तृणे उदकबिंदु जिस्युं,
विनय, तुं जाणजे जीवित अेह... मूढ ! तुं 1
पेख, नश्वर सदा, विषयसुख मित्रता,
जोतजोतां जती हास्य साथे,
अेह संसार छे क्षणिक जिम अेक पळ,
झळहळे नीजथी मेघ माथे... मूढ ! तुं 2
दुष्ट यौवन खरे श्वान लांगुल परे-,
कुतिल अति, तेय झट नष्ट थावे;
तेथी परनारने वश पड्या अधम हा !
अहीं क्युं कडवुं ना कष्ट पावे ? ...मूढ ! तु 3

विश्व दुर्जय जरा, पी जती बळ खरां,
देह आ लडथडी जाय सारो;
तोय जीवोनुं निर्लज्ज दुर्बुद्धि मन,
ना तजे त्याज्य मन्मथविकारो... मूढ ! तुं 4

सुख अनुत्तर सुधीनुं अति श्रेष्ठ जे,
काळथी तेय पामे विनाश;
तो पछी अन्य, कई वस्तु संसारनी-,
स्थिर थती, ते तुं मनमां विनाश !... मूढ ! तुं 5

जेनी साथे रम्या, जेमने बहु नम्या,
जेनी साथे कर्या प्रीतिवाद-,
तेमनी देखीअे भस्म तोये छीअे,
स्वस्थ, हा ! धिक् अमारो प्रमाद... मूढ ! तुं ..6

सिंधुनी उर्मि ज्यम, वळी वळी लय उगम,
सजीव निर्जीव सहु भाव पावे,
इन्द्रजाळनी समा स्वजन धन संगमां
राचता मूढ जन शाय भावे !... मूढ ! तुं 7

तृप्त ना थाय रे, त्रस अने स्थावरे
जगतने नित्य गळतो कृतांत,
वक्त्रगत जे गळे तास हाथे चडी
आपणो केम नहि लेशुं अंत ?... मूढ ! तुं 8

अेक शाश्वत चिदानंदमय आत्मनुं
ध्यावतो रुप सुख अनुभवुं हुं,
प्रशमरस अमृतना पानउत्सव सदा-
हो, अहीं सज्जनोने हुं चाहुं... मूढ ! तुं 9

अशरण भावना-2

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

जे जीती षटखंडभूमि बळथी चक्रीपणे राजता !
ने अत्यंत बलिष्ठ देवगण जे आनंदथी गाजता !

रे, तेओ पण मृत्युना मुख तणी दाढे दळाता करे -
दष्टि हीन बनी दशे दिश महीं कोइ बचावे अरे ! 1

।। स्वागता ।।

त्यां सुथी ज मदमां विलसे छे ! त्यां सुधी ज गुणथी हुलसे छे !
ज्यां सुधी मनुजकीट बिचारे-, रक्तनेत्र जमडे न निहाळ्यो ! .2

।। शिखरिणी ।।

थयुं झांखुं तेज प्रजळतुं, प्रतापे य विणस्यो,
गया उद्योगो ने धीरज बळियो देह कथळ्यो !
सगा झूझे तेनुं धन लइ जवा खूब झगडी,
मनुष्योने क्यारे जम निज कने जाय घसडी.....3

गीत

राग : मारुणी

स्वजनो पण जे बहु हितकारी, प्रीतिरसे मनहारी !
तेने पण ना कोई बचावे, मरणदशा जब आवे.
विनय, तुं साधजे रे, श्री जिनधर्मनुं शरणुं !
हृदये सांधजे रे, शुभ संयमनुं शमणुं ! 1

अश्वादिक सैन्ये परिवरिया, नरपति जे बहु बळिया !
जमथी तेय हराय बिचारा,
मीन जिम माछी द्वारा... विनय... तुं. 2

पेसे जो वज्जरना गृहमां, तृण ल्ये अथवा मुंहमां !
जमडी दुष्ट न तोये छोडे,
निर्दय नृत्यनी दोडे... विनय ...तुं. 3

विद्या-मंत्र औषधिओ सेवो, जेने वश छे देवो;
खाव, रसायण बळ बहु देतुं,
तोय न मृत्यु रे'तुं... विनय... तुं. 4

वपुमां बहुदिन वायु रुंधे ! सागरना जल वींधे,
गिरिना शिखरे वेगे चडतो,
तो य जराथी जरतो... विनय... तुं. 5

करतुं जे काळा वांकडिया, केशना धोळा पळीया;
कोण ते नीरस करता नरने,
रोकी शके घडपणने ?... विनय... तुं..... 6
उग्ररोगथी तन घेरातुं, कोई न भेरु थातुं !
ग्रहणे विधु अेकाकी थावे,
कोई न भाग पडावे !... विनय... तुं. 7
शरण अेक चतुरंग ग्रहीने ! ममता संग दहीने,
विनये शिवना सुखने देतुं,
शमनुं अमृत पी तुं... विनय... तुं. 8

संसार भावना-3

।। शिखरिणी ।।

अहीं संतापे छे अखूट दव शो लोभ वधतो,
कहीं जे लाभोना जळथी करीये नैव शमतो;
अहीं तृष्णा पीडे मृगजळ समी व्यर्थ सुखनी,
नचिंता शें रे'वुं बहु भर्याभर्या आ भवनने । 1
टळे चिंता प्हेली तुरत अधिकी तेथी उपजे,
त्रियोगोनी इच्छा विकृति-रति रोषादिक रजे,
थतुं पीडाओनुं शमन नव केमे डग डगे,
फसाता जीवोने विपदभमरीमां अहीं जगे ।.....2
सहीने पीडाओ अशुचि जननीना जठरमां,
पछी कष्टे पामी जनम सहतो दुःख वसमां,
सुखोना आभासे शमन करतो दुःख तणुं ज्यां,
ग्रसी लेती तेनुं यमसखि जरा रम्य तनु त्यां ।....3

।। उपजाति ।।

प्राणी तनु पिंजरमां रुंधायो, पक्षी परे खुब भमे मूंझायो;
प्रेर्यो अदृष्टे, दृढ कर्मतंतुअे, बांध्यो, समीपे जस मृत्यु मींदडो ।.4

।। अनुष्टुप ।।

अनंतानंत रुपो लै, अनादि भवसागरे,
अनंता पुद्गलावर्तो, अनंतीवार अे फरे ।.....5

गीत

राग : केदार

जन्म मरणादिथी त्रासतो, समज ! संसार अतिघोर रे;
ज्यां सदा विपदमां पाडतो, ग्रही गळे मोहरिपु जोर रे । .....जन्म. 1
स्वजन पुत्रादिना स्नेहथी, मूढ, तुं व्यर्थ मूंझाय रे;
पळपळे अवनवा अनुभवे, परिभवे खिन्न असहाय रे । ..जन्म. 2
मद करे क्यांक उन्नति तणा, क्यांक पडती थकी दीन रे;
भवभवे रुप ते जूजवां, तुं धरे कर्म आधीन रे । .....जन्म. 3
क्वचित थई बाळ परवश पडे, क्वचित यौवन पदे मस्त रे;
क्वचित षडपण थकी पांगळो, क्वचित पकडाय यमहस्त रे ।...जन्म. 4
तात पण थाय छे पुत्र ने, पुत्र पण थाय छे तात रे;
भावता विकृति इम भव तणी, तज तुं तेने भलां भ्रात रे । ..... जन्म. 5
जीव, तुजने सदा ज्यां दहे, दुःख चिंतादिनी आग रे;
राचतो त्यां ज हा ! नित छकी, मोहमदिरा तणे लाग रे । जन्म. 6
कैंक सुख लेश देखाडतो, ते ज लई लेत ततकाळ रे;
काळबटु आ अहिं ज लोकने, नित ठगे जेम लघुबाळ रे ।.....जन्म. 7
भव तणी भीतिने जे हणे, ते जिनवचन मन धार रे'
पान समतासुधानुं करी, विनय ! तुं पाम शिव सार रे । जन्म. 8

एकत्व भावना-4

।। स्वागता ।।

अेकलो ज नित छे विभु आत्मा, ज्ञानदर्शन महिं रमतो आ,
सर्व अन्य मनकल्पित रे ! आ, व्यर्थ व्याकुळ करे ममता हो !...1

।। प्रबोधता ।।

अबुझो परनी ज लालसा, रुप अज्ञानदशामहीं फस्या !
ममता परवस्तुमां करे, विषयोमां थई लुब्ध हाय रे !.....2

बुधने परनारमां यथा, दयिता बुद्धिथी थाय आपदा !
बहुलां भय-दुःख आपती, ममता तेम परायी वस्तुनी !.....3
पडदो परभावनो मना ! मुज वींट्यो हमणां हटावने !
फरसो निजभाव चंदन, दुमनी वा'लहरी जरी मने ! 4

।। अनुष्टुप ।।

जीव, तुं भाव ! अेकत्व भावना समताभरी,
ने नमिराजनी जेम, परमानंद पाम री !.....5

गीत

राग : परजीया

विनय, चिंतव ! तत्त्व साचुं, कोण कोनुं छे अहीं ?
पाप क्युं तेने नडे जे, आवुं समझे मनमहीं ? .....विनय. 1
अेकलो जीव जन्मतो ने, अेकलो ज मरी जतो;
कर्म बांधे अेकलो ने, अेकलो फळ चाखतो ? .....विनय. 2
जेम बहु भारे भरेलुं, नाव सागरमां बुडे;
तेम परिग्रह ममत भारे, भर्यो जीव नीचे पडे ।.....विनय. 3
मद्य पी निज भान भूली, भोंय टळी आळोटतो;
पेखजो ! परभावने वश, केवुं हेवुं वर्ततो ? .....विनय. 4
जुओ ! कंचन मुत्तिकामां, मळी केवुं थई जतुं !
शुद्ध कंचननुं स्वरुप तो, छे तमोने जाणीतुं ! .....विनय. 5
अेम आत्मा कर्मने वश, रुप बहुविध धारतो,
ते ज कर्मथी मुक्त थइने, स्वर्णनी सम भासतो ।...विनय. 6
ज्ञानदर्शन ने चरणथी, परिवर्यो परमेश्वर;
अेकलो अनुभवसदनमां, ते रमो अविनश्वर ।.....विनय. 7
मधुर समतासुधाने तुं, हर्षथी आस्वादजे !
पामजे सुखनी रति ते, विनय ! विषयातीत जे !...विनय. 8

अन्यत्व भावना-5

।। उपजाति ।।

पेठो परायो करतो विनाश, लोकोक्ति आ जुट्टी नथी ज स्हेजे,
कर्माणुओअे जीवमां प्रवेश, करी शुं ? कष्ट न दीधुं अेने ? ...1

।। स्वागता ।।

पीड लै, तुं परनी शुं सदाने, खिन्न थाय ? वश थै ममताने;
केम चेतन ! कदीय तुं तारा, चिंतवे न गुणरत्न अनेरा ? 2

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

जेने मेळववा मथे, हरखतो ज्यां, जेहथी तुं डरे,
जेने चिंतवतो, उरे तलखतो, जे पामी प्रीति धरे;
ज्यां राची निजनो स्वभाव विमळो, भूली नकामुं बके !
ते छे सर्व परायुं तारुं भगवन् आत्मन् ! नथी कांई के । 3
बूरी कष्ट कदर्थना कई न ते संसारमां तें सही,
नर्कोमां-पशुयोनिमां वळी वळी छेद्यो ज भेद्यो हणी;
तोफानो परनां बधाय विसरी ते त्यां ज तुं राचतो,
मुंझातो मूढ ! तेमने ज भजतो ना केम तुं लाजतो ? 4

।। अनुष्टुप ।।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रुप ते चेतना विना;
परायुं सर्व जाणी स्व-हितमां उद्यमी तुं था ! 5

गीत

राग : श्री

विनय, निहाळो निज घरने !
देह पुत्र सगामां तारुं शुं ! जे रक्षे दुर्गतिथी तने ? .....विनय. 1
जेनी साथे मोहथी साधे, हुं आ अेम अभेद;
ते अतिचंचळ देहलडी पण, तजे तने आपी बहु खेद...विनय. 2
जन्मे-जन्मे विविध परिग्रह, घणां कुटुंब करे तुं;
तेमांथी परभव जातां तने, फोतरुं य ना अनुसरतुं ।.....विनय. 3
ममता-खेदनुं कारण परना, स्नेहविकारो तज तुं !
निःसंगतताथी निर्मळ मधुरा, अनुभव-सुखरसने भज तुं !... विनय. 4
कोण विविध पथना पथिकोने, चाहे पंथे पंथे ?
निजनिज कर्मोने वश स्वजनो-साथे ममता शुं गूंथे ? .....विनय. 5

प्रेमरहित पर प्रेम धरे ते, बहु संतापने सहतो,
तुज पर प्रेमरहित पुद्गलनी, फोगट ममता शुं वहतो ? विनय. 6
तज, संयोग वियोग स्वरुपी, कर, तुं निर्मल चित्त;
मृगतृष्णा जल केरा पाने, तरस न छीपे केमे मित्त ! ..... विनय. 7
दीनबंधु जिनवरने भज ! अे शिवनो सरळ उपाय;
वमन हरती रोग शमंती, शांत सुधा पीओ ! निरपाय...विनय. 8

अशुचि भावना-6

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

काणो मद्यविलिप्त मद्यघडुलो, ज्यां मद्यबिंदु झरे,
मांज्यो शुद्धमटोडीथी, बहु अने धोयो य गंगाजळे;
चोक्खो थाय न जेम, तेम नरथी काया थती ना शुचि,
गंधाता मळ-मूत्र-हाड-चरबी ने मेलनी खाण शी । 1

।। मंदाकान्ता ।।

न्हाया तोये वळी वळी करे स्नान चोक्खा जळेथी,
वारे वारे मलिन तनुने चर्चता चंदनेथी;
मूढात्माओ निरमळ अमे पामता प्रीति अेम,
ना जाणे हा ! तन-उकरडो शुद्ध आ थाय केम ? 2

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

संस्कार्युं कपूरादिथी लसण ना तोये सुगंधि बने,
पोष्यो दुर्जन जन्मथी पण छतां पामे न सौजन्यने;
मेलो देह मनुष्यनो मलिनता न मूकतो तेम आ,
चोळो तेल, करो सुपुष्ट, सजीअे शृंगारथी तोय हा ! 3

।। उपजाति ।।

संसर्ग जेनो लहीने तुरंत, चोक्खा पदार्थोय बने अशुद्ध;
ते मेलनी खाण समा शरीरमां, चोक्खाइनो मोह अहो अपूर्व ...4

।। स्वागता ।।

अेम जाणी शुचिवाद अतथ्य, विश्वमां इक पवित्र ने पथ्य;
सर्वदोष मळने हरनारा, धर्मने ज हृदये धर, प्यारा ! 5

गीत

राग : आशावरी

चिंतव रे, तनु आ अतिमेलुं ! खोल विनय उरपद्म बीडेलुं,
विभु शिव अेक विवेक निधान, पावन आतमनुं धर ध्यान !....चिंतव रे 1
दंपति रजवीरज विरचाइ, सारी होय शुं आ मळखाइ ?
बहु ढांकयो तोय गंदु झरता, आ मळकूअे प्रेम शुं धरता ? चिंतव रे 2
कर्पूरवासित तांबूल आवे, मुखने सुरभित करता भावे;
पण लाळे गंदु दुर्गंधि, मुख रहे केतो काळ सुगंधि ? ..... चिंतव रे 3
गंदो वायु अंदर फरतो, ना रोकाए ज्यांथी सरतो;
ते तनु सूंघे वारे वारे, बुधजन हसतां तुज आचारे... चिंतन रे 4
बार अने नव छिद्र ज्यां झमता, बहु अशुचिने नित न विरमता;
ते वपुने तुं माने पवित्र, मानुं ते तुज नवल चरित्र !..... चिंतन रे 5
खाधुं संस्कृत स्वादु अन्न, थाय जुगुप्सित जगमां हन्न !
पीधुं पय पण गायनुं मीठुं; थातुं निंदित मूत्र अनीठं । चिंतव रे 6
केवळ मळना ढगला धरता, शुचि भोजनने अशुचि करता;
आ वपुमां छे अेक ज सार, शिवसाधन सामर्थ्य उदार ! .... चिंतव रे 7
पुण्यलभ्य आ जेणे दीपतुं, ते चेतन, चातुरी चिंतव तुं !
सकल आगमनो थइने जाण; कर, तुं शांत सुधारस पान !...चिंतव रे 8

आश्रव भावना-7

।। भुजंगप्रयात ।।

बधी बाजुअेथी पडंता झराओ थकी जेम जल्दी भरातां तळावो;
भर्या पापथी आश्रवे जीव अेम, बने आकुळा चंचळा म्लान तेम... 1

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

ज्यां हुं कांइक भोगवी बळ थकी खंखेरुं कर्मो जरी,
त्यां तो आश्रवशत्रुओ पळ-पळे सिंचंत क्यों वळी;
हा ! हा ! आश्रवशत्रुओ क्यम करी ते रोकवा शक्य छे ?...
शी रीते अति भीम आ भव थकी ने मुक्ति मारी थशे ?... 2

।। प्रहर्षिणी ।।

1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. कषाय 4. योग नामे,
अे चारेय अशुभ आश्रवी कह्या छे,
कर्मोने प्रतिपळ अेहथी उपार्जी,
संसारे भयवश प्राणिओ भमे छे.....3

।। स्थोद्धता ।।

पांच इन्द्रिय, कषाय चार ने, पांच अव्रत, कुयोग ने त्रणे,
ने पचीश अशुभकिया मळ्या, बार त्रीश पण आश्रवो कह्या 4

।। इंद्रवजा ।।

अे आश्रवो केरुं स्वरुप जाणी, शास्त्रो भणी थे दृढ सत्त्वशाळी,
जल्दी करो, ते सहुनो निरोध, जेथी शमे जीव, बधा विरोध ..5

गीत

राग : धनाश्री

भविजन, भावे रे आश्रव परिहरो ! समतागुण उर आणि,
करता अेह रे बहु उछांछळा, आतमगुणनी रे हाणि । .....भाविजन. 1
कुगुरुने योगे रे कुमतिअे खेंचीया, मूकी शिवपुर पंथ,
दोडे जावा रे शिवथी वेगळा, दुष्ट किया करी हंत ! .भविजन. 2
अविरत जीवो रे विषयने वश बनी, कर्मविपाक तणां,
इह परलोके रे अति कष्टे भर्या, सहेता दुःख घणां । .....भविजन 3
गज-मछ-भमरा रे शलभ-मृगादिका, विषयरसे थइ लीन,
तारा विपाके रे विविध प्रकारनी, पामे वेदन दीन ।...भविजन. 4
उग्र कषायी रे विषयने वश पड्या, घोर नरक मांहिं जाय,
वार अनंती रे जन्म-जरादिना, चक्करमां कचराय । ..... भविजन. 5
मन-वच-काये रे चंचळ, चीकणी पापरजे लेपाय,
तेथी पहेलां रे आश्रव जीतवा, यत्न करो सघळाय । भविजन. 6
चोक्खा योगो रे जो के श्रमणने, बंधावे शुभ कर्म,
तो पण जाणे रे बेडी हेमनी, ते हणता शिवशर्म । .....भविजन. 7
आनंदो ! अेम पापाश्रव तणा, रोधमहीं मतिवंत,
शांत सुधारस केरा पानने, विनय तुं नित्य करंत । ..भविजन. 8

संवर भावना-8

।। स्वागत ।।

जेह जेह करता सदुपाय, रोध आश्रव तणो झट थाय,
आदरो, विनयमां मन धारी, तेह तेह उपमांही विचारी ! 1
संयमे अविरति-विषयोने, दर्शनेथी असदाग्रहिताने,
ध्यान आर्त्त वळी रौद्र तुं रोज, चित्तने स्थिर करी झट रोक । .. 2

।। शालिनी ।।

मारो गुस्सो-मान ने तेम माया, शस्त्रे क्षांति नम्रता ऋजुताना !
सिंधु जेवो रौद्र ते लोभ रुंध, बांधी ऊंचो खूब संतोष-बंध ! ... 3

।। स्वागता ।।

गुप्तिथी त्रणथी तेम अजेय, जीततो अशुभयोग त्रणेय,
शुद्ध संवरपथे चड भव्य ! पामशो, हित अकल्पित दिव्य । ... 4

।। मंदाक्रांता ।।

रुंधी दैने विमल हृदये आश्रवोरुप नाळां,
श्रद्धा केरा धवल राढने सुप्रतिष्ठानवाळा,
सद्योगोना प्रबळ पदने प्रेरिया जीवपोत,
प्होंचे मुक्तिपुर झट तरी ते भवाम्भोधि स्त्रोत ! 5

गीत

राग : नट

शिवसुखनां साधन सांभळ तुं !
सांभळ तुं रे ! सांभळ तुं रे... शिवसुखनां साधन सांभळ तुं,
ज्ञानादिक रत्नत्रयीनुं, कर, आराधन अति सुंदर तुं ।.. ..... शिव. 1
विषय विकारो दूर करीने क्रोध-मानने परिहर तुं,
जाती माया-लोभ रमतमां, अकषायी संयम वर तुं । ..... शिव. 2
घूंट हृदयमां उपशमरस जे, रोष-अगनमां जलधर तुं,
लावी लावी विनय हृदयमां, परम विरागदशा धर तुं । ..... शिव. 3
आर्त रौद्रने वाळीझूडी, विकल्पजाळे कर बळतुं,
तत्त्ववेदीनो मारग जाणी, मन मारगने संवर तुं । ..... शिव. 4

संयम योगे शुद्ध करी मन, कायानुं कर मंगळ तुं,
विविध मतोथी गीच जगतमां, शुद्ध सरल पथ आदर तुं । .....शिव. 5
गुणना वृंद धरता निर्मळ, ब्रह्मव्रतने आचर तुं,
गुरुमुखथी खरतां वचनोने शुचिरत्नो जिम संघर तुं । ..शिव. 6
संयमशास्त्र कुसुम रस गंधे, अध्यवसायोने भर तुं,
ज्ञान-चरण गुणमय लक्षणथी, चेतनथी ओळख कर तुं.....शिव. 7
जिनचरितो गावाथी पावन, जीभे मुखने अलंकर तुं,
विनये शांत सुधारस पीने, आनंदे रहेजे चिर तुं.....शिव. 8

निर्जरा भावना-9

।। इंद्रवजा ।।

जे निर्जराने कही बार भेदे, छे बार भेदे तप धर्म तेणे,
भेदो पड्या कारण भेदथी अे, ते मूळ तो अेक ज भेदनी छे ! .1

।।अनुष्टुप ।।

काष्ठ-पाषाण इत्यादि, प्रभेदोथी निदानना,
अेकरुप छतां वह्नि, स्वरुपो धारतो घणां ! 2
तपना भेदथी तेम, निर्जरा भेद बार छे,
कर्मक्षय स्वरुपे ते, वस्तुतः अेकरुप छे । 3

।। उपजाति ।।

भवो भवोना अतिचीकणा ने, पहाड शा दुर्धर कर्मपूंज,
जे वजनी जेम तुरंत भेदे, अपूर्व ते हुं तपने नमुं छुं । 4
अघोरकर्मी बहु पापियाए, जेणे हणी पातिक मुक्ति पामे,
दृढप्रहारी ज्यम शीघ्र शाय, प्रभाव ते आ तपना कहाय ? 5
सुवर्णनुं शुद्ध स्वरुप जेम, खुल्लुं करे अग्नि ज्वलंत तेम,
दूरे करी आत्मनी कर्मधूळ, ज्योति उघाडे तप आ अमूल । ...6

।। स्त्रग्धरा ।।

बाह्यांतर बेय भेदे विपुल, सुदृढ थै भावना जोशथी जे,
जीताडे सर्व वैरी भरत नृप परे बाह्य ने मांह्यला ते,

जेनाथी ऋद्धिवंती सवि प्रगट थती लब्धि ने सिद्धि सद्य
ने मुक्ति स्वर्ग देतो झट नित तप ते वंदुं हुं विश्ववंद्य । 7

गीत

राग : सारंग

विनय, तुं तपनो महिमा जाण !
भव भव संचित पापो जेणे, पामे जल्दी हाण... .....विनय. 1
गाढां वादळ पण ज्यम झंझावाते झट विखराय;
तेम दुरितनी श्रेणि तपथी, क्षणमां नाशी जाय... .....विनय. 2
आघेथी पण इच्छित आणे, रिपुने करे वयस्य,
तप ते आदर निर्मळ भावे, जे आगमनुं रहस्य... .....विनय. 3
अणसण-उणोदरी ने वृत्ति, ह्रास ने रसपरिहार,
संलीनताने काय क्लेश अे, तप छे बाह्य उदार.....विनय. 4
प्रायश्चित ने वैयावच्च वळी, विनय तेम स्वाध्याय,
काउस्सग्ग ने शुद्ध ध्यान अे, आभ्यंतर तप भाय... .....विनय. 5
ताप शमावे पाप गमावे, मानस हंस रमावे;
गाढो मोह हरे तप करतां; निराशंस शुभभावे... .....विनय. 6
संयम लक्ष्मीनुं कामण, उज्ज्वळ-शिवसुख केरो कोल !;
वळी वळी अे तप आराधो जे, चिंतामणी ज्युं अमोल !... .....विनय. 7
कर्मरोगना औषध तपनुं, जिने कह्युं अनुपान,
सुखनुं निधिसम शांतसुधारस, तेनुं कर तुं पान !... ..विनय. 8

धर्म भावना-10

।। उपजाति ।।

जे धर्म दानादिक चार भेदे कह्यो जगद्बंधु जिनेश्वरोअे, !
रे विश्व केरा उपकार माटे, रमो अमारा मनमां सदा ते ! 1
सत्य-क्षमा-मार्दव-शौच-मुक्ति निःसंगता-आर्जव-ब्रह्मशुद्धि,
ने संयमकिंचनताथी युक्त, दश प्रकारे यतिधर्म उक्त । 2
जेना प्रभावे शशि-सूर ऊगे, सदा अहीं विश्व भलाइ काजे,
आवी वळी वादळवृंद काळे, ठारे तपेली धरती उनाळे । 3

अत्यंत ऊंचा जळना उछाळे, जे पृथ्वीने सागर ना डूबाडे,
ने व्याघ्र-दावादि करे न नाश, छे धर्मनो ओ सघळो विलास ! .4

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

ज्यारे मात-पिता-सुतादिक सगा कल्याणकारी मटे,
सेना दीन बने, धनुष चपळ, आ शक्ति भूजानी घटे,
तेवाओ कठिणाइना समयमां अंगो सजी बख्तरे,
उभो सज्ज्न धर्म सर्वजगनी रक्षा महीं सज्ज रे ! 5
जेनी दिव्य कृपा थकी जग करे कल्लोल सौ जीवनुं,
जे आहीं परलोकमां हित वहे वांछा बधी पूरतो;
पीडा सर्व अनर्थनी निज महा सामर्थ्यथी चूरतो,
जे ते विश्वकृपाळु धर्मविभुने हुं भक्तिभावे नमुं ! 6

।। मंदाक्रांता ।।

मोटां राज्यो, सुभग दयिता, पुत्रने घेर पुत्र,
सारी बुद्धि, गुणियलपणुं, रम्य ने स्वस्थ गात्र,
घेरो मीठो स्वर, सुजनता, काव्यचातुर्य पाके,
केवां ? केवां ? फळ अजब रे धर्मकल्पदुशाखे ! 7

गीत

राग : वसंत

पाळ तुं पाळ तुं रे, पाळ मने जिनधर्म !
मंगळ कमळाना क्रीडा घर ! करुणासागर धीर !
शिवसुखकारण ! भवभयवारण ! जगदाधार गंभीर ! ..... पाळ तुं. 1
मेघमाळ भूतळने सींचे, जे अमृतमय जळथी,
सूरजचंद सदा ऊगे जे, ते तुज महिमा बळथी । .... पाळ तुं. 2
निराधार वसुधा वणटेके, स्थिर छे जास प्रभावे,
विश्वस्थितिना मूळथंभ हे ! भजुं तने नतभावे..... पाळ तुं. 3
दान-शील-शुभभाव-तपादिथी, करतो विश्व कृतार्थ,
भीति-शोक हरे जे निजनुं, शरण स्मरे भवि सार्थ ।.. पाळ तुं. 4
क्षमा-सत्य-संतोष-दयादिक, जास सुभग परिवार,
देव असुर नर पूजे जेनुं, शासन भवभयहार..... पाळ तुं. 5

निःसहायनो सहायक तुं नित, बंधु रहितनो भाई,
तुज सम बंधु तजी भववनमां, ममता सहु जीव धाई...पाळ तु. 6
अटवी गृहसम-जलसम अग्नि, जलधि स्थलसम थाय,
तुज कृपाथी सिव कामितसिद्धि, बहु परथी शुं पमाय ? ..... पाळ तुं. 7
अहीं आपे सुख दशविध परभव, इंद्रादिक पद देतो,
क्रमशः निश्रेयस सुखदायक, ज्ञानादिक अर्पतो ! .... पाळ तुं. 8
सर्व शास्त्रना सार ! सनातन ! सिद्धिसदन सोपान ?
जय ! जय ! तुं विनयीने देतो, शांत सुधारसपान ! ..... पाळ तुं. 9

लोकस्वरुप भावना-11

।। शालिनी ।।

नीचे नीचे सात रत्नप्रभादी, जे छे नर्को छत्र आकारधारी,
तेणे पूर्यो आ अधोलोक जेना, पादो बे छे सात रज्जु पहोळा । 1
पहोळो तिर्छोलोक ने अेक राज, ज्यां छे द्वीपो अब्धिवींट्या असंख्य,
वींटी ज्योतिश्चक्रनी कांचि रम्य, जेनी सोहे पातळो केड भाग । 2
ऊर्ध्वे लोको जेहनो ब्रहास्वर्ग, पहोळो रज्जु पांच छे कोणिभाग,
पहोळो रज्जू अेक लोकांत जास, मौली सिद्धोरुप ज्योते लसंत । 3
जे वैशाख स्थानके पाद राखी, केडे मूकी हाथ बन्ने अनादि-
काळेथी ऊभो छ टट्टार नित्य, थाक्यो लागे तोय मुद्रा अखिन्न । 4
ते आ जाणो लोक नामे पुरुष, षट्द्रव्यात्मा शाश्वतो ने अनादि-
अनंतो ने धर्म आकाश आदि, द्रव्ये पूर्या जेहना सर्वदेश । 5
रंगस्थान पुद्गलोनुं अने जे, नाना रुपे नाचता जीवनुं छे,
कालोद्योगादिकना भावे कर्म, वाजिंत्रोथी नियतिअे नचाव्यां । 6
आवो लोक चिंतवातो विवेके, आपे डाह्याने मनःस्थैर्य रहेजे,
स्थैर्य आव्ये चित्तमां तुर्त थाती, आत्मा केरा दिव्य सौख्योनी प्राप्ति । ...7

गीत

राग : काफी

विनय, तुं चिंतव चित्तमां, शाश्वत लोकाकाश,
सकल चराचर वस्तुने, आपे जे अवकाश । .....विनय. 1

दीप्र अलोकथी वीट्युं जे, जेनुं मान अमाप,
धर्मादिक द्रव्ये रची, जेनी सीमा आप । .....विनय. 2
समुद्घात समये जिने, जेने निजथी पूर्युं,
जीव अणुनी विविध क्रिया, ना गौरवे घेर्युं ।.....विनय. 3
अेक छतां पुद्गल वडे रुपो, बहुविध करतुं,
क्यांक ऊंचा मेरु क्यहीं, ऊंडी गर्त्ता धरतुं । .....विनय. 4
क्यांक अमर मणि गेहना, तेजे दीपे जेह,
क्यांक विरुप नरकादिना, घोर तिमिरनुं गेह । .....विनय. 5
क्यांक उत्सवमय ऊजळुं, गाजे जयनादे,
क्यांक महा हाहारवे भर्युं शोक विषादे । .....विनय. 6
ममता करीने मूक्ता, जन्म-मरणे फरता,
वार अनंती जीव सहु, जस परिचय करता. .....विनय. 7
प्रणमो जिनने जो तमे, थाक्या अहीं करतां,
जेह शमामृत पानथी, विनयीने उद्धरता । .....विनय. 8

बोधिदुर्लभ भावना-12

।। मंदाक्रान्ता ।।

जेणे सौने चकित करता स्वर्गना भोग रंग,
ऊंचा भोगी कुळ महीं वळी, जन्म उल्लास संग,
ने आपे जे पदवी परमब्रह्मनी ते अनन्य,
सेवो नित्ये परमदुलहुं बोधिनुं रत्न धन्य ! 1

।। भुजंगप्रयात ।।

अनादि निगोदांध कूपे पडेला, सदा जन्य ने मृत्यु दुःखे पीडेला,
जीवो क्यांथी तेवी परिणाम शुद्धि लहे ? जेथी पामे हहा त्यांथी मुक्ति ? 2
लहे नीकळी त्यांथी जो स्थावरत्व, वळी दुल्लहुं ते जीवोने त्रसत्व;
त्रसत्वे य दुर्लभ्य छे मानवत्व, स्थिरायुष्य पंचेद्रियादिथी युक्त । 3
मनुष्यत्व तेवुं लहीनेय घेलो, महामोह-मिथ्यात्व-मायाथी मेलो;
भमंतो बूडी घोर संसार खाडे, करी पामशे बोधिनुं रत्न क्यां रे ! 4

।। शिखरिणी ।।

घणेरा पंथो, ने डग-डग फरे कैंक कुमति,
कुतर्को विस्तारी निज-निज मतोने निरुपता,
न आवे देवो हयां, अतिशय नथी कोईय छतां,
रहे आवा काळे दृढ धरममां, ते ज सुकृति ! 5

।। शार्दूलविक्रीडित ।।

काया रोग थकी मथाय अथवा झूके जराथी जरी,
ने आ इन्द्रियवृंद निर्बळ बने, आयुष्य खूटे वळी;
ते प्हेलां थई सज्ज आत्महितमां सौ सज्जनो लागजो !
फूटी जाय तळाव वारिवहतुं त्यारे शुं पाळी रचो ! 6

।। अनुष्टुप ।।

उपद्रवे भर्यो देह, आयुने क्षणमां तूटे;
क्युं धैर्य धरी मूढो, निजना हितथी हटे ? 7

गीत

राग : धनाश्री

जाणजो ! जाणजो ! बोधि दुर्लभ अति, जेम सुरमणि जलधिमां पडेलो !
साचुं आराधजो ! स्वहित अहीं साधजो ! निज बळे नीचगति दूर ठेलो !.जाणजो.1

चक्रिभोजन परे मनुजभव नवि मळे, घोर संसारवनमांहिं भमतां,
जे निगोदादिनी स्थितिरुपे विस्तर्युं, लाख मोहादि ज्यां चोर रमता ।..जाणजो. 2

म्लेच्छदेशोमहीं मनुजभव पामियो, थाय ते तो अहो अहितकारी;
जीवहिंसादिनां घोर पापो थकी, नरकना पथमहीं थाय चारी । जाणजो. 3

आर्यदेशे मळे सुकुलमां जन्म पण, धर्म जिज्ञासुपणुं होय दूरे,
चार संज्ञा तणी पीडथी जगत हा ! दुर्दशामां डुबी दीन झूरे । जाणजो. 4

होय जिज्ञासु पण श्रवण दुर्लभ अति, धर्मशास्त्रो तणुं सुगुरु पासे,
व्यर्थ विकथादिने रस रम्युं चित्त ज्यां, विविध विक्षेपथी मलिन भारो !..जाणजो.5

धर्मने सांभळी समजी ज्यां आदरे, मांह्यला रिपु मळी सर्व भेळा,
राग ने रोष वळी थाक निद्रादि त्यां, रोकता चूकवी सुकृतवेळा !..जाणजो.6

लाख चोराशीनी योनिमां तें अहो ! सांभळी धर्मनी वात क्यांये ?
ऋद्धि-रस-शातना गौरवे मस्त थै, जगतमां प्रायः झगडे बधाये...जाणजो. 7

अेम दुर्लभ थकी अति ज दुर्लभ-लही, बोधिमणि सकल गुणथी भरेलो,
गुरु तणी विपुल सेवा थकी मेळवी, शांतरसनुं सरस अमृत पा लो !..जाणजो.8

पीठिका

।। अनुष्टूप ।।

सम्यग् धर्मतणुं ध्यान, जोडती चित्त पावना,
वीतरागे कही श्रेष्ठ, मैत्र्यादि चार भावना । 1
मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्य भाव जोडीअे,
पोषवा धर्मनुं ध्यान, छे रसायण दिव्य अे । 2

।। उपजाति ।।

`मैत्री' बीजानी हितचिंतना ते, `प्रमोद' होवे गुण पक्षपाते,
`कारुण्य' विश्वार्ति हण्यानी इच्छा, `माध्यस्थ्य' पापीजननी उपेक्षा । 3

उपसंहार

।। स्त्रग्धरा ।।

आ रीते भावनाथी उप सुरभि करी संशयातीत अेवो–
आत्मा ऊंचो उठाव्यो दूर करी ममता मोहनी निंद जेणे,
पामीने सत्त्वसीमा अगम थई लहे चक्रि ने शक्रथी ये–
झाझेरी, कीर्तिवंती निरुपम सुखनी लक्ष्मी ते नम्र जीवो ! 1
दुर्ध्यान प्रेत पीडे नव करी, सुखनी स्फाति रे को अपूर्व-
हैयाने उल्लसावे, चिहुंगम प्रसरे श्रेयने प्रेय सर्व ?
नाशंता रागरोषादिक रिपु, वशमां सिद्धि साम्राज्य आवे,
सेवो, ते भावनाओ मति करी विनये शुद्ध जेना प्रभावे ? 2

प्रवचन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** द्वारा आलेखित

198 पुस्तकों में से प्राप्य हिन्दी भाषा में जैन धर्म का अमूल्य खजाना

Sr. No.	पुस्तक क्रमांक	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	13-14	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना-भाग-1-2	140/-
2.	34-35	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
3.	36	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
4.	42	भक्ति से मुक्ति (पांचवी आवृत्ति)	40/-
5.	61	Panch Pratikraman Sootra	60/-
7.	97	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	100/-
8.	100	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
9.	104	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	150/-
10.	109	आओ ! उपधान पौषध करें !	45/-
11.	118	शंका समाधान भाग-2	40/-
12.	123	जीव विचार विवेचन (तृतीय आवृत्ति)	60/-
13.	128	विविध-तपमाला	100/-
14.	136	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें	90/-
15.	140	वैराग्य शतक	80/-
16.	141	गुणानुवाद	70/-
17.	144	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	60/-
18.	145	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	70/-
19.	146	आध्यात्मिक पत्र	60/-
20.	153	ध्यान साधना	40/-
21.	156	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
22.	161	अजातशत्रु अणगार	100/-
23.	163	The way of Metaphysical Life	60/-
24.	164	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-
25.	165	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
26.	166	आओ ! भाव यात्रा करें !! भाग-2	60/-
27.	167	Pearls of Preaching	60/-
28.	168	नवकार चिंतन	60/-
29.	169	आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-1	64/-
30.	170	आओ ! दुर्ध्यान छोड़े !! भाग-2	70/-
31.	172	रत्न-संदेश-भाग-1	150/-
32.	174	रत्न-संदेश-भाग-2	150/-
33.	175	My Parents	60/-
34.	176	श्रावकाचार-प्रवचन भाग-1	125/-
35.	177	श्रावकाचार-प्रवचन भाग-2	125/-
36.	178	परम-तत्व की साधना भाग-2	150/-
37.	179	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
38.	182	नवपद आराधना	80/-
39.	183	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
40.	186	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
41.	188	चौबीस तीर्थंकर चरित्र-भाग-1	150/-
42.	189	चौबीस तीर्थंकर चरित्र-भाग-2	150/-
43.	190	संस्मरण	50/-
44.	191	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	70/-
45.	192	विवेकी बनों !	90/-
46.	193	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
47.	194	लघु संग्रहणी (जैन भूगोल)	100/-
48.	195	समाधि मृत्यु	50/-
49.	102	कर्मग्रंथ (भाग-1)	100/-
50.	196	कर्मग्रंथ (भाग-2)	70/-
51.	197	कर्मग्रंथ (भाग-3)	55/-
52.	198	आदर्श कहानियाँ	60/-

Shubhay 98205 30299